भूमिका

यह मात्र संयोग की बात है कि इस संग्रह की पच्चीस कहानियाँ 1960 और उसके बाद लिखी गई हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि मैं भी सातवें दशक के लेखकों में अपना नाम शुमार कराना चाहता हूँ। मैं चौथे दशक का लेखक हूँ और वही रहूँगा। मैं यह भी नहीं जानता कि सन् 1940 के आसपास लिखी गई कहानियों 'नफरत केवल नफरत', 'बिम्ब प्रतिबिम्ब' और 'कायर' से 1966 में लिखी गई कहानियाँ 'वे', 'इन्द्रधनुष', 'लैम्पपोस्ट के नीचे एक लाश' कितनी भिन्न हैं। भिन्न वे अवश्य होंगी लेकिन इस भिन्नता का कारण कोई सुनियोजित प्रयत्न नहीं है। कहानी शायद सुनियोजित होती ही नहीं। हाँ, 25-26 वर्ष की इस विकास-यात्रा का प्रभाव कला पर पड़ना स्वाभाविक है।

मैं यह नहीं मानता कि मुझे लिखने का दण्ड मिला है या लिखना मेरी नियति है। नियति अगर कुछ है और दण्ड अगर कोई मिला है तो वह जीने का ही है। जीने के लिए विचार अनिवार्य हैं और चाहें या न चाहें कमोबेश उनका विकास होता ही रहता है। नहीं तो जीना सचमुच दण्ड हो जाता है।

मैं यह भी नहीं मानता कि व्यक्ति, मात्र व्यक्ति है, वह समाज-सापेक्ष नहीं है। व्यक्ति की सत्ता मैं स्वीकारता हूँ। उसके अधिकारों के लिए भी मैं लड़ सकता हूँ लेकिन समाज से अलग उसका अस्तित्व है—यह मैं अभी भी स्वीकार नहीं कर पा रहा। बेशक समाज को मैं मूर्त रूप में न देख पाया होऊँ। लेकिन उसकी सत्ता का अनुभव मैं प्रतिक्षण करता हूँ। और यही मुझे संघर्ष करने की शक्ति देता है और सहने की भी। नहीं तो मैं होकर भी अस्तित्वहीन हो रहता और फिर या तो लिखता नहीं, यदि लिखता भी तो उसका कोई अर्थ नही होता। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि 'मैं' को इतना विशद किया जा सकता है कि वह 'समाज' बन जाए, लेकिन उसकी अनुभूति जब तक सह-अनुभूति नहीं बनेगी तब तक वह अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकेगा।

कहानी मात्र अनुभूति है या विचारों अथवा घटनाओं का समूह इस बारे में मतभेद हो सकता है। मैं उस युग का व्यक्ति हूँ जब घटनाएँ अर्थ रखती थीं। अब भी उनके अर्थ को स्वीकार करता हूँ लेकिन साथ यह भी स्वीकार करता हूँ कि महज अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति कहानी हो सकती है।

विकास सृष्टि का धर्म है। कहानी भी सृष्टि है। उसके लिए विकास अनिवार्य है। उस विकास क्रम को खेत की तरह सीमाओं में बाँधना सुविधाजनक तो हो सकता है, पर वह नियति नहीं। इसीलिए प्रत्येक आन्दोलन को मैं विकास क्रम की एक कड़ी मानता हूँ। हर कड़ी स्वतन्त्र होकर भी पिछली कड़ी से जुड़ी रहती है। इस सृष्टि क्रम में उन के अलग होने की सम्भावना तो है लेकिन वह समय अभी नहीं आया है कि हम कह सकें, हमने परम्पराओं से मुक्ति पायी है। किसी दिन आएगा अवश्य, पर उस दिन दावा करने के लिए कोई शेष नहीं रहेगा। जो नया होगा, उसके लिए पुरानी परम्परा 'फास्सिल' मात्र रह जाएगी।

मैं यथार्थ को स्वीकार करता हूँ। समाज-सापेक्ष होकर उससे बचा नही जा सकता। आदर्शों का बोझ मुझ पर है लेकिन रूढ़ियों की स्थापना या उनमें विश्वास करना—आदर्श का पर्याय नहीं है। आदर्श मेरे लिए इतना ही है कि मैं जो कुछ चाहता हूँ उसको रूप दे सकूँ। मृत्यु कभी-कभी मुझे परेशान करती है लेकिन जीने में मेरा अटूट विश्वास है। मेरी असफलता सीमा और सामर्थ्य की असफलता है। उसे मैं अपराध स्वीकार नही कर सकता। सब कुछ होते हुए भी यथार्थ की तलाश मेरी कहानियों में मिलेगी। भले ही, मैं पूरी तरह सफल नही हो सका होऊँ। कुण्ठा और अकेलेपन क चित्रण अपराध नही है अपराध है उनका स्वीकार। इसी तरह अमूर्त की खोज मुझे आनन्द दे सकती है लेकिन वह मेरा आदर्श नहीं बन सकती।

अपनी कला के सम्बन्ध में मैं कुछ नही कहना चाहता। न मैं कलाकार हूँ, न विचारक। हाँ, भाषा के लिए इतना अवश्य कहूँगा कि वह न कठिन होती है न सरल। वह होती है सहज और सहज भाषा उसी का वरण करती है जो स्वयं सहज है। आज जो उलझन की आवाज उठती है वह इसी सहजता के अभाव के कारण है। मैंने इसी उलझन से बचने का प्रयत्न किया है। मात्र प्रयत्न! सफलता शायद अभी दूर है।

नए का स्वागत करने के लिए मैं सदा प्रस्तुत रहा हूँ और रहूँगा। मैं उसे अस्वीकार कर ही नही सकता। लेकिन, पुराने के प्रति भी मेरी वैसी ही आस्था है। उनके योगदान को भुठलाकर नए को स्वीकार नही किया जा सकता। जो ऐसा करने का प्रयत्न करते है, वे शायद अपने को ही धोखा देते है। मैं अभी भी लिख रहा हूँ और यह लिखना मेरे जीने की शर्त है।

बस इतना ही!

विष्णु प्रभाकर

818, कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट, दिल्ली-6

जैसे अपू उन्हीं के वक्ष से सटी उनके मुख पर अपनी लटें बखेर रही है···

'नहीं, नहीं···'

वह एक पुरानी भूली हुई कहानी है। पाँच वर्ष जैसे लक्ष-लक्ष वर्षों की अवधि बन कर उत्तुंग-शिखर हिमालय जैसे बीच में खड़े हो गए हैं। पर आज यह खिलखिलाहट जैसे समय के उस हिमालय को चूर-चूर कर देना चाहती है।

एक कहानी उभरने लगती है। आबिदअली कसमसाते हैं, पर कहानी है कि चलचित्र बन कर पर्दे पर अक्स डालती चली जाती है···

पाँच वर्ष पूर्व ! स्मृति पटल पर एक राजसी बंगले का एकान्त शृंगार भवन, कदावर शीशे के सामने रूप निहारती एक लड़की···

यही तो अपर्णा है। सहसा शीशे के सामने से हट कर सोफे पर जा बैठती है। मानों उस एकान्त में खूब हँस लेना चाहती है। मन में कुछ मीठा-मीठा उमड़ घुमड़ रहा है। शरीर में थिरकन है। धीरे-धीरे जैसे वह अपने से बात करती है। उच्छ्वसित हो पुकारती है···आबिद !' मानो आबिद कहीं बाहर नहीं उसके अन्तर में है।

वह लेट जाती है मानो शरीर को गुदगुदे सोफे पर फैला देती है। जैसे कहीं कोई भारीपन है उससे मुक्ति पाना चाहती है।

यही अपर्णा 1947 के साम्प्रदायिक रक्तपात में एक दिन वासना के यम-दूतों के चंगुल में फँसने जा रही थी। तब पढ़े-लिखे और गंवार सभी शरारत के पुतले और शैतानी के प्रतीक थे। लेकिन न जाने कहाँ से तभी आबिद आकाश के देवदूत की तरह वहाँ उतर आया। रात्रि के उस सूचिभेद अन्धकार में सहसा बिजली चमकी। उस चंचल प्रकम्पित प्रकाश में नारी का वह रूप शतगुन मोहक हो उठा। आबिद सिहर आया। और उसने अपर्णा को लाने वाले से कहा, 'क्या तू रसूल का वह हुक्म भूल गया कि बदचलनी से बचो और आँखें सदा नीची रखो।'

लाने वाले ने प्रतिवाद किया, 'यह मुसलमान नहीं है।'

बिजली फिर फिर काँधी। नारी स्वयं प्रकम्पित-हतप्रभ रक्तहीन कि आबिद सहसा बोल उठा···'अरे, यह तो सुधाकर की बहिन है।'

सुधाकर आबिद का सहपाठी है। रास्ते भिन्न हैं लेकिन स्नेह का भण्डार अक्षय है। इसीलिए अपर्णा को लेकर उसे स्वयं सुधाकर के बंगले पर जाना पड़ा।···

सोचती-सोचती अपर्णा मानो ऐसे उठी जैसे आबिद आने वाला हो। फिर शीशे के सामने आ खड़ी हुई और जल्दी-जल्दी तैयार होने लगी। हो

चुकी तो ड्राइंग रूप में आगई। एक पुस्तक उठाई। दृष्टि अक्षरों पर थी और अक्षर थे कि बार-बार आविद का रूप ले लेते थे। तभी आ जाता है आविद। मुस्करा कर कहता है, 'बहुत व्यस्त है। माफी चाहता हूँ यदि···'

अपर्णा एकाएक सिहर उठी है, 'नहीं, नहीं कुछ भी तो नहीं। आइए, आइए, मैं कुछ सोचने लगी थी।'

आविद पास के सोफे पर बैठते-बैठते पूछता है, 'क्या सोचने लगी थीं ?'

'अच्छा बताइए तो, प्रत्यक्ष में आदमी जो कुछ मानता हुआ दिखाई देता है, वास्तव में वह उसे नहीं मानता।'

'यानी।'

'देखिए ना, मैं हिन्दू हूँ, पर ऐसे काम करती हूँ जो हिन्दू की क्रिया से मेल नहीं खाते। तब हुआ ना, कि हिन्दू धर्म में मेरा सचमुच विश्वाश नहीं है।'

'सो तो सत्य है।'

'तब आदमी को ऐसा धर्म नहीं मानना चाहिए ना।'

'हाँ, मानना तो नहीं चाहिए।'

'परन्तु क्या आप जानते हैं कि जो इस सत्य को कहने का साहस करते हैं, वे समाज की घृणा के पात्र हैं।'

आविद उत्तर के लिए शब्द ढूँढ़ता है। ढूँढ़ना ही कृपणता है लेकिन तभी उसकी रक्षा हो जाती है। एकाएक अपर्णा ऐसी हो जाती है जैसे युग-युग से क्लान्त हो। जैसे अन्तर में कुछ बाहर आने को उमड़ घुमड़ रहा हो। बोल उठती है, 'मैं भी कैसी हूँ। आते ही आपको समस्या में उलझा दिया। आप चाय तो पीएंगे। अपू इस समय घर पर नहीं है। मैं बनाती हूँ।'

रक्षा हो गई। आविद को कुछ कहने का अवसर ही नहीं मिला। लगा जैसे स्वय अपर्णा उससे बचना चाहती है। उसने उसे जाते देखा। फिर सुना अवश-सा स्टोव मानो किसी को पुकार रहा है। वह अपर्णा के पास ही पहुँच जाता है। पाता है कि पानी की केतली स्टोव पर रखे वह एक टक उसे देख रही है। वह खौलता क्यों नहीं। क्षण-क्षण में उसके मुख के भाव पलटते है। वह मुस्कराती है। आविद दुर्बल हो जाता है। अपर्णा का पलायन जैसे उसके बन्धन को और भी ढीला करता है। आत्म विस्मृत वह पुकार उठता है, 'अपू।'

अपर्णा समूची सिहर उठती है। चाय की पत्तियाँ पानी में न गिरकर बाहर बिखर जाती हैं। मुख रक्ताभ हो आता है। आविद की ओर देखकर वह ऐसे मुस्कराती है कि···

सहसा एक झटके के साथ आविद गिरते गिरते ऊपर आ जाता है, 'अपू' एक बहुत जरूरी काम याद आ गया। जा रहा हूँ।'

अपर्णा उसके बिल्कुल पास आ जाती है। आँखों में झाँक कर कहती है, 'ड्राईंग रूम में चलिए, अभी आई।'

'नहीं, नहीं अपू, मुझे जाने दो।'

अपर्णा खूब हँसती है। कह उठती है, 'डरते हो। मैं अबला हूँ। हिन्दू हूँ। एक मुसलमान के साथ अकेले बैठने का साहस करने का मुझे अधिकार नहीं है। पर कहती हूँ, तुम क्यों डरो। डरूँ मैं। पर मैं नहीं डरूँगी। स्वतंत्र हूँ। जो स्वतंत्र है, वह अबला नहीं है, शक्ति है।'

आविद आलोड़ित होता आता है। तूफान में उमड़ते पत्तों की तरह विचारों का झुरमुट उलझन पैदा करने लगता है और उसकी वाणी उस उलझन में जैसे खो जाती है लेकिन अपर्णा है कि शक्ति की भाँति मुक्त मन कहती रहती है, 'आविद, हिन्दू धर्म मेरे लिए विश्वास की वस्तु नहीं है। केवल हिन्दू नामधारी हैं। धर्म मेरी कमाई नहीं है, विरासत में मिला है।'

आविद को जैसे कुछ कहना चाहिए। बोल उठता है, 'तुम आज यह क्यों बके जा रही हो।'

अपर्णा मुस्कराती है, 'बकती नहीं हूँ। विश्वास करती हूँ कि मैं अपर्णा हूँ, तुम आविद हो। मैं नारी हूँ, तुम नर हो। इसके आगे कोई कुछ नहीं।'

तभी सुधाकर सदा की भाँति तीव्र वेग से वहाँ प्रवेश करता है। सिहर कर अपर्णा उसे देखती है। फिर एकाएक पूछती है, 'लन्दन से डाक आ गई? पिताजी का पत्र आया?'

'नहीं, जीजी।'

अपर्णा का चेहरा पीत-वर्ण हो आता है। धीमे-धीमे बोलती है, 'प्रति सप्ताह उनका पत्र आता है। इस बार क्या हुआ?'

'शायद वह कौन्टीनेन्ट चले गए हैं।'

धीरे से आविद भी कहता है, 'आज नहीं तो कल आ जायगा, अच्छा अब मैं चलूँ...'

उस पहाड़ी एकान्त डाक बंगले में पलंग पर लेटे-लेटे इंजीनियर आविद-अली सहसा काँपे। इस बार स्मृति पटल पर उन्होंने पाया कि स्वयं उनके हाथ में एक पत्र है...

पाँच वर्ष पूर्व के आविद ने पत्र पढ़ा—'पिताजी का पत्र आ गया है। वह इस विवाह के लिए सहमत हैं, पर एक शर्त पर। वह चाहते हैं कि तुम

हिन्दू धर्म स्वीकार कर लो। आविद न रह कर आनन्द, अपूर्व, अखिलेश कुछ भी बन जाओ। समझ नहीं पा रही कि आखिर इस मज़ाक का अर्थ क्या है। समाज, धर्म, मत, दो वयस्क वयक्तियों के बीच में बाधा क्यों बनें। स्वतन्त्रता व्यक्ति की है, समाज व्यक्ति के लिए है। व्यक्ति मूल है, शेष गौण जानती हूँ तुम मुझे चाहते हो, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती। फिर पिताजी की यह शर्त क्या अर्थ रखती है। मैं इस शर्त से घृणा करती हूँ। तुम भी करते हो। तुम भी मुझे मुसलमान बनाना नहीं चाहोगे, समाज में कुछ व्यक्ति हैं जो हमारी आलोचना कर सकते हैं। लेकिन वे ही तो समाज नहीं है। कानून हमारे पक्ष में है, तब हमारा मार्ग अवरुद्ध क्यों हो…

आशा करूँ ना कि तुम आओगे। कहोगे, 'मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता अपू…'

अपर्णा का यह पत्र पढ़कर आविद के अन्तर में अग्नि प्रज्वलित हो उठी। अपर्णा को वह पाना चाहता है। वह रूपसी है, मुक्त है, उसकी मोहकता ही उसका बन्धन है। लेकिन हिन्दू होना, छिः छिः। निडर होकर कचहरी में वह उसका वरण कर सकता है लेकिन…लेकिन, यह सब है क्या। उनका स्वार्थ। हाँ स्वार्थ है, तभी तर्क है। तर्क में शक्ति है। पर वह अन्तिम शब्द नहीं है…

लेकिन मैं भी तो तर्क कर रहा हूँ। उसको पाने में बाधा कहाँ है। वह रूप मेरे हृदय की हर धड़कन में बसा हुआ है। मैं उसे पाऊँगा…पाऊँगा।

आविद सहसा तीव्र वेग से सिहर उठता है—नहीं, नहीं यह नहीं हो सकता। आज के भारत में उसका अर्थ होगा…ओह मुक्ति मिथ्या है, स्वतंत्रता छलना है।…

वह अपर्णा के पास जा पहुँचता है। ड्राइंग रूम में न पाकर शृंगार भवन में जाता है। पाता है कि अपर्णा अस्त-व्यस्त अपने को संवारने सजाने में लगी है। उसे देखकर चौंकती नहीं। मानो उसी की राह देखती बैठी है। आविद क्षण भर चकित-स्तम्भित उसे देखता है कि धीरे से पुकारता है, 'अपू'

अपर्णा ने कोई उत्तर नहीं दिया। मुस्कराती हुई उसे देखती रही। देखती ही रही। आविद ने फिर कहा, 'तुमसे तर्क करने नहीं आया हूँ, अपू। तुम्हें खूब चाहता हूँ। तुम्हारे पिताजी की यह शर्त निरी मूर्खतापूर्ण है। मैं नहीं चाहता यह शर्त, पर मैं पलायन भी नहीं चाहता। समाज के दम्भ को नष्ट करके ही तुम्हें पाना चाहूँगा…'

अपर्णा की मुस्कान एक पल में तिरोहित हो गई। गुरु गम्भीर होकर

तभी मेमसाहव ने द्रुत-लय में पुकारा, 'करमचन्द ।'

और उस स्वर के पीछे-पीछे साहव द्वार तक आगये । अन्दर आने की इच्छा नहीं थी, पर दुर्भाग्य से द्वार खुला था । एकाएक दोनों के दृष्टिपथ टकरा गए । अव तो शिष्टाचार निभाने के लिए उन्हें अन्दर जाना पड़ा । साँवली माँसल देह, मुख पर पुरुष का रूप-गौरव, वोले, 'माफ कीजिए, आपसे परिचय नहीं कर सका । मैं हूँ फौरेस्ट डिपार्टमैंट में चीफ कंज़रवेटर अखिलेश माथुर ।'

इंजीनियर आविदअली खड़े हो चुके थे । वोले, 'आपसे मिलकर वहुत खुशी हुई । मैं सिंचाई विभाग में एग्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर हूँ आविदअली । अभी-अभी इधर आया हूँ । आइए न,···करमचन्द साहव का खाना इधर···'

'माफ कीजिए, अभी हम देर से खाएँगे—हलो, डार्लिंग ।'

पीछे से अपर्णा का मुख चमका । स्मित हास्य से दीप्त ।

'ये हैं एग्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर आविदअली । और यह अपर्णा माथुर ।'

'खुशी हुई । कैसे हैं ?'

'खुशी हुई । कैसी हैं ?'

और उस क्षण में 'न भूतो न भविष्यति' ऐसा भूकम्प आया । आविद-अली ने महसूस किया कि वह खड़ा नहीं है । स्मृतियों के अथाह सागर में डूव गया है । और क्षण-क्षण, पीली पड़ती अपर्णा के नेत्र उसे घूर रहे हैं । उसने भी अपू को घूरना चाहा कि वह चिहुँक कर वोल उठी, 'आओ अखिल, सवेरे भेंट होगी इंजीनियर सहाव से, सौ लौंग······'

और इंजीनियर आविदअली ने तव देखा कि अपर्णा माथुर अखिलेश माथुर को ऐसे खींच कर ले गई जैसे सिंहनी शिकारी की ज़द से अपने वच्चे को ले भागती है । जाते-जाते विवश, वेकल अखिलेश माथुर ने कहा, 'सौ लौंग, सी यू इन दी मॉनिंग ।'

चले गए तो करमचन्द वोला, 'यह मेम साहव कव कैसा वर्ताव करेंगी, पता नहीं चलता । पिछले साहव से मिलने आई तो अपना खाना तक भूल गईं । सारा वक्त उन्हें यही वताती रहीं कि यह जगह इसलिए अच्छी लगती है कि यहाँ तारे हैं और शिकार है । मुझे शिकार करना और तारे देखना दोनों वहुत अच्छे लगते हैं ।'

इंजीनियर आविदअली ने कोई उत्तर नहीं दिया । वह न जाने कहाँ पहुँच गए थे ।···यह अपर्णा तो वह नहीं है जिसे वह जानते थे । क्या यह शिकार करना चाहती है या शिकार होना चाहती है । ना, ना, दोनों वातें

नहीं हैं। वह सपने को झुठलाती है। वह बस एक माद्दा है···

वह लेट गए। लेकिन वह इतना उलझ गए थे कि इस घटना पर ठीक प्रकार विचार नहीं कर पा रहे थे। उधर आवाजें बराबर आए जा रही थीं। डिनर की आवाजें। पहाड़ी रात खामोश थी, इसी से हल्की से हल्की ध्वनि भी शत-गुन होकर उनके मस्तिष्क से टकराती थी, एकाएक उन्होंने सुना—अपू ज़ोर से बोली, 'डार्लिंग···'

'हाँ अपू।'

'हम सवेरे ज़रूर चलेंगे।'

'लेकिन डार्लिंग।'

'नो एक्सक्यूज़ ?[1] मैं यहाँ नहीं रह सकती। जानते हो बगल में···'

'हाँ, हाँ बगल में इंजीनियर आबिदअली हैं। निहायत शरीफ इन्सान हैं इनकी बहुत तारीफ़ सुनी है।'

'नो, नो डार्लिंग। ही इज़ ए मोहमडन।'[2]

'ओह ! तो सब प्रोग्राम रद्द। सोचा था···

'नो, नो, अब नहीं, फिर।'

इंजीनियर आबिदअली को लगा कि जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व पोम्पाई को नष्ट करने वाला जो भूकम्प आया था उसका धक्का उन्होंने भी महसूस किया और···

उसके बाद वह सोच ही नहीं सके। सो भी नहीं सके। सिहरते रहे, सिहरते रहे उधर खामोशी छाती रही, छाती रही। बीच-बीच में उच्छ्वासें उठी। बाहर जंगली जानवर बोले। लेकिन धुआँधार वर्षा की तरह उनका मस्तिष्क गूंजता रहा, धुँधलाता रहा। सब कुछ ठंडा, सब कुछ तर हो गया। जब उनकी संज्ञा लौटी तो सवेरा पूर्व के आकाश में उतरता आ रहा था। और दूर जाती हुई मोटर के हार्न की आवाज सूचित कर रही थी कि माथुर-दम्पत्ति चले गए हैं। करमचन्द चाय लेकर आ गया। बोला, 'साहब लोग चले गए। पता नहीं क्या बात थी। कोई तार भी तो नहीं आया।'

अनन्यमनस्क भाव से आबिदअली ने उत्तर दिया, 'कोई काम याद आ गया होगा।'

---

1. कोई बहाना नहीं।
2. नहीं, नहीं प्रियतम ! वह मुसलमान है।

'जी हाँ। अब जिले के डाकबंगले में रहेंगे। पता नहीं क्या हुआ। मेमसाहब को यह डाकबंगला बहुत प्यारा था।'...

जैसे-जैसे करमचन्द बातें करता जा रहा था वैसे-वैसे इंजीनियर आबिदअली के मन से हिमालय जैसा भार उतरता जा रहा था। सोचा, उन्हें जाना ही चाहिए था। नहीं तो मुझे जाना पड़ता।

बस जैसे सब कसक, टीस, धूँआधार वर्षा के बाद ऐसे धुल गई जैसे प्रकृति निर्मल हो जाती है। लेकिन साथ ही साथ एक आकाँक्षा भी जागने लगी। किसी को पा लेने की आकाँक्षा...

करमचन्द ने कहा, 'रात हरकारा बहुत देर से आया। डाक मेज़ पर रखी है।'

दृष्टि एकाएक मेज़ पर गई। अब तक उन्होंने देखा ही नहीं था, सबसे ऊपर ही तो सायरा का पत्र है। वे ही अक्षर, रूपसी के गौर मुख पर सुनहरी कुंडल जैसे। पागल की तरह झपट कर उसने उसे चीर डाला। पढ़ा...मैं कल सवेरे ही पहुँच रही हूँ। सात बजे तक।

सात बजे सायरा आ रही है—रोम-रोम पुलक उठा। घड़ी को देखा—सात तो बजने वाले है। दस मिनट भी नहीं हैं।

उछल कर उठे। जैसे झरना जो रुक गया था सहस्र गुन गति से बह उठा। तैयारी के सारा वक्त गुनगुनाते रहे। कमरे के अन्दर ही से उन्होंने जीप के आने की आवाज़ सुनी। कई स्वर उठे। उनका हृदय अन्तरिक्ष-राकेट की गति से धड़का, पर वह तैयार होते रहे, कि द्वार पर आहट हुई अनजान बन कर उन्होंने कहा, 'तशरीफ लाइए।'

द्वार खुले और सायरा अन्दर आई और जैसे बाज शिकार को दबोच लेता है आबिद ने सायरा को जकड़ लिया। जकड़ तेज होती गई, तेज होती गई।

'डालिंग, डालिंग। तुम बाहर क्यों नहीं आए।' जकड़ और तेज हुई 'यू ब्रूट। मैं समझ गई।'

'अपू...सायरा। अपू...सायरा।'

मुक्त होकर सायरा खिलखिलाई। बोली, 'यह मेरा नाम अपू कब से हुआ ?'

'आज से, अभी से। खामोश पहाड़ी डाक बंगले की खामोश फिजा में मा-बदौलत ने तुम्हें यह नाम बख्शा। आज रात हम दोनों ऊपर की चोटी पर तारे देखेंगे। पहाड़ी आकाश में तारे बहुत चमकते हैं। और कल शिकार

2—

सच, मैं सुन्दर हूँ ?

मुकुल ने निश्चय किया कि इस बार होली की छुट्टियों में वह घर नहीं जाएगा। लेकिन छुट्टियाँ आएँ इससे पूर्व ही मंजरी का पत्र आ पहुँचा—'मनीषी भाभी का आग्रह है कि सदा की भाँति इस बार भी वे आपकी राह देखेंगी।'

उसकी प्रतिज्ञा और भाभी का आग्रह, इन दोनों में कौन शक्तिशाली है यह वह जानता था। इसीलिए मन में अवसाद लेकर भी उसे जाना पड़ रहा है। ट्रेन में अपार भीड़ है। शोर है, बदतमीजी है लेकिन सब ओर से आँखें मूँदें वह ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचता और उठते हुए सर्पाकार धुएँ में राह भटक-भटक जाता। स्वभाव से वह अल्हड़ था। जहाँ वह है वहाँ विषाद नहीं है। मृत्यु के मुख पर भी एक बार मुस्कान बिखर जाती। लेकिन आज उसके स्मृति पटल पर ऐसा कम्पन है जैसा सम्भवतः रडार में होता है। किसी संकट की सूचना··· लेकिन वह संकट की बात सोचना नहीं चाहता। पर ज्यों-ज्यों वह उसे स्मृति पटल से मिटाने की चेष्टा करता है त्यों-त्यों उसकी रेखाएँ और स्पष्ट होती हैं और उभरती हैं। विस्मृति की चेष्टा में ही स्मृति का जन्म होता है। गत वर्ष उल्लास से भरा-भरा वह घर पहुँचा था तो मंजरी ने मनी भाभी से मुस्करा कर कहा था—'जानती हो भाभी, मुकुल भैया क्यों आए हैं ?'

मनी भाभी बोली, 'अपने घर कोई क्यों आता है,' यह जानने की भी क्या कोई जरूरत होती है ?'

मंजरी हँस पड़ी, 'होती है भाभी, होती है।'

अब भाभी मुस्कराई, 'तो तुमसे मिलने आए होंगे।'

—ऊँहूँ । मुझसे नहीं, तुमसे ।

—तो फिर क्या बात है । भाभी से मिलने जाना क्या अनधिकृत है ।

—जी अनधिकृत तो नहीं, अद्भुत अवश्य है । विशेषकर इन दिनों ।

'ओफ् ।' भाभी खुल कर हँसी, 'तो यह बात है ।'

मंजरी ने भैया की ओर देखा । कहा, 'कहती थी ना, भाभी जानती है ।'

मुकुल की उत्फुल्लता पूर्णता की ओर थी । बोला, 'जानती क्यों नहीं ।'

सहसा धुएँ में एक तीव्र कम्पन हुआ, कल्पना का महल तिरोहित हो गया और मस्तिष्क में एक विचार जाग आया । न जाने किस शास्त्र ने भाभी के साथ होली खेलने का अधिकार दिया है । शायद यह परम्परा है और परम्परा की शक्ति विधि विधान, धर्म और शास्त्र सबसे ऊपर होती है। न जाने कब किस देवर ने किस भाभी के साथ पहली बार होली खेली होगी···

उसने एकाएक करवट बदली । फिर हँस आया—हूँ न मूर्ख । इसमें खोज की क्या बात है । इस परम्परा के पीछे शाश्वत यौन आकर्षण है ।

सिगरेट का धुआँ फिर नए मेघों का निर्माण कर रहा था । और उनके पटल पर मंजरी कुछ गम्भीर होकर कह रही थी, 'मुकुल भैया । हमारी भाभी इन बातों को पसन्द नहीं करती ।'

— क्यों ?

—क्यों क्या । देखा नहीं तुमने । कितनी सादी रहती हैं । कभी-कभी तो डर लगता है । उस दिन हमारे घर आई थीं । मैंने भोजन के लिए कहा तो आ बैठी । दाल में नमक ज्यादा था लेकिन वह बोली नहीं । मैं जानती थी । मैंने उनसे कहा, तो हँस दीं । बोली, 'यदि कभी-कभी ज्यादा नमक न पड़े तो ठीक का पता कैसे लगे ।'

मुकुल ने बड़ी तीव्रता से सिगरेट के कश खींचे । फिर बुदबुदा उठा—सचमुच कभी-कभी ओवरडोज की जरूरत होती है । वही जीवन का आनन्द है । समता तो थका देने वाली होती है ।

धुएँ के बादल घहरा उठे । उनके पीछे मनी भाभी की सलोनी आँखें उभर आईं । उस दिन उन्होंने पूछा था, 'देवरजी आखिर होली क्यों खेली जाती है ?'

और तब मुकुल ने अपना संचित ज्ञान कोश जैसे भाभी के चरणों में उंडेल दिया था । सारे इतिहास का रत्ती-रत्ती वर्णन उसने रस विभोर होकर किया था और उस तमाम समय भाभी अचरज से मुस्कराती उसकी ओर देखती रही । मुकुल बोला, 'सच तो यह है भाभी, यह प्रकृति का त्यौहार है । प्रकृति हँसती है, मधु ऋतु मुस्काती है, किसान उन्मत्त हो उठता है । हम हँसते हैं । हँसना ही तो जीवन है । वर्ष भर जीवन की विषमताओं में

हम डूबे रहते हैं। एक दिन मुक्त होकर खूब हँसें, ऐसा सोच कर ही किसी दूरदर्शी पुरातन पुरुष ने इस त्यौहार का आविष्कार किया था ।

—हाँ लाला। वर्ष भर रोकर एक दिन हँसना । या एक दिन हँस कर वर्ष भर रोना, सौदा काफी मंहगा है। है ना देवरजी ।

—भाभी।

—झूठ कहती हूँ मैं। हँसना रोना क्या कभी एक साथ होता है। जब एक रोता है तभी दूसरे को हँसी आ जाती है।

—नहीं भाभी, आज के दिन कोई नहीं रोता। सभी हँसते हैं।

सहसा वह उठ बैठा। दृष्टि नीचे की ओर गई । पाया, अधिकांश यात्री ऊंघ रहे हैं। कुछ पढ़ भी रहे हैं। कुछ दीवार से सटे खड़े हैं। और गाड़ी है कि अपनी रफ़्तार से चली जा रही है। निर्मुक्त निर्द्वन्द्व,। सोचा—सभी हँसते हैं। सचमुच क्या सभी हँसते हैं। आज भी चारों ओर रोना ही कुछ अधिक है। भूख, अभाव, आत्महत्याएँ, पुलिस, जेल, सभी कुछ पूर्ववत है' लेकिन फिर भी हँसने वाले हँसते हैं। लेकिन जिनके प्रिय बिछुड़ गए हैं वे भी क्या हँस सकते हैं। उनके लिए रोना ही सत्य है। वे रोएगे तभी तो हँसने वाले हँसेंगे। कैसी विडम्बना है। कैसा चक्रव्यूह है। हँसना रोना, रोना हँसना।

सहसा भाभी की एक और बात याद आ जाती है, 'देवर जी, हँसना और रोना, क्या यही जीवन के मूल तत्व हैं ?'

—तो !

—आत्म समर्पण।

—भाभी ! !

पल के उस सहस्रवें भाग में कह कर भाभी लजा आई और मुकुल हो उठा आत्म विभोर। प्रेम की सिहरन जैसे उसकी शिराओं में उमड़ आई। भाभी मुस्कराई। बोली, 'किसी के होना चाहते हो ?'

—किसका ?

—किसी के भी।

अनायास ही जैसे अपने से ही कहता हो—मुकुल बोल उठा, 'तुम्हारा।'

भाभी तनिक भी चकित नहीं हुई। जैसे वह यही सुनना चाहती हो। सहज स्वाभाविक स्वर में बोली, 'मेरे भी हो सकते हो। लेकिन अब मुझ में आत्म समर्पण कहाँ है। तुम नहीं चाहोगे···'

आत्म विस्मृत-सा मुकुल एकाएक बोल उठा, 'तुमने मेरी बात नहीं मानी भाभी।'

—कौन-सी बात ?

दोनों भाई-बहन जैसे सिहर-सिहर उठे, कि उसी क्षण बड़े भैया वहाँ आ गये। गीले बालों पर आँचल सरका कर भाभी चुपचाप किवाड़ों के पीछे हो गई। एक क्षण कोई कुछ नहीं बोला। फिर मंजरी जैसे बरबस हँसी। बोली, 'भैया, आज भाभी ने मुकुल भैया की खूब परीक्षा ली। पहले तो उपदेश दिया, फिर यह दुर्गति कर दी।'

भैया हँस आये। बोले, 'मंजरी, जीत मुकुल की ही हुई है। उसने अपनी भाभी को होली खेलने के लिए विवश कर दिया। मैं नहीं कर सका।'

मुकुल ने सहसा अपने ममेरे भैया की ओर देखा। वह अत्यन्त कुरूप थे और हँसी उस कुरूपता को और भी उजागर कर देती थी। वह कुछ नहीं बोल सका। केवल सन्ध्या को जब भाभी को प्रणाम करने आया तो कहा, 'परीक्षा समीप है। अब जा रहा हूँ।'

भाभी सकपकाई, 'अभी, इतनी जल्दी।'

—हाँ भाभी!

भाभी ने एक दीर्घ निःश्वास खींचकर केवल इतना ही कहा, 'अच्छा देवरजी, जीवन में सफल होओ यही मैं चाहती हूँ।'

उसने सिगरेट का आखिरी कश खींचा और बचे हुए टुकड़े को आराम से डिब्बे में एक हुक में रख दिया। फिर गाल हथेली पर टिका, सामने निगाह जमा दी। सोचने लगा उस पत्र की बात जो अगले ही दिन भाभी ने लिखा था···

"क्षण कितना प्रबल है, यह मैंने उस दिन जाना। सोचती हूँ कि इसमें जो शक्ति है, जो उद्दाम उद्वेग है वह वर्षों की घुटन का परिणाम है। जिस बात की हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते वह अनायास ही हो जाती है। कल का उन्माद भी क्षणजीवी नहीं था। न जाने कब से मेरे अन्तर में पलता जा रहा था। मानूंगी कि मैं प्यासी हूँ। चेतन रहते कभी इस पर नहीं सोचा। सोचना वर्जित जो था।

तुम्हारे भैया जैसे हैं, मेरे पति हैं, देवता हैं। लेकिन देवरजी, नारी को क्या पति और देवता की ही आवश्यकता होती है? वे पूजा के पात्र हो सकते हैं लेकिन प्यार के नहीं। और नारी चाहती है प्यार, रस, उन्माद। किसी का होने या किसी को अपना बनाने की साध। यही साध नारी को सधवा बनाती है अन्यथा वह चिर विधवा है···

मुकुल फुसफुसा उठा। न जाने ऐसी कितनी चिरविधवाएँ इस देश में भरी पड़ी हैं। क्या इन्हीं के अन्तर से निकले अभिशापों से ही दासता की शृंखला का निर्माण नहीं हुआ?···

सोचते सोचते अन्तर में भाभी के लिए अगाध सहानुभूति उमड़ आई।

लेकिन वह फिर घर नहीं जा सका। छुट्टियों में मसूरी चला गया लेकिन वहाँ पहुँचने पर भी भाभी क्या उसे मुक्ति दे सकी। वह अन्तर्मुखी हो चला। चिन्तन ने उसकी वाणी को अवरुद्ध कर दिया। मित्रों ने कहा—यह प्रेम का रूप है। प्रोफेसर बोले—यह सनक है। लेकिन भाभी ने भी स्वयं फिर उसे कोई पत्र नहीं लिखा। मंजरी के पत्रों में भी उनकी बहुत कम चर्चा रहती थी। उसके चारों ओर जैसे एक घुटन घिरती जा रही हो और उसे कोई राह नहीं दिखाई दे रही हो। तभी सहसा देश एक भयंकर भूकम्प से हिल आया। हिमालय के उस पार के पड़ोसी, चिरकाल के मित्र ने उसकी पीठ में छुरा भोंक दिया। युगों से दबी हुई उसकी रक्त की प्यास मानो जाग उठी। और चिरशाश्वत श्वेत-हिम लज्जा से रक्तिम हो आया। इतना बड़ा मित्रघात ! निकट विगत में हिटलर की ही याद आती है। मुकुल ने सोचा, शायद यह भी होली है। रंग इसमें भी है और अमिट है। होली खेलना मानव का स्वभाव है। पुरुष नारी के संग होली खेलता है, धनी निर्धन के साथ। ज्ञानी मूर्ख का उपहास उड़ाता है। बली निर्बल का रक्त पीता है। यह सहज है, शाश्वत है···।

तभी अचानक मंजरी का पत्र आ पहुँचा। लिखा था 'तुमने सुना, भैया सेना में भर्ती होकर नेफा चले गये हैं।'

मुकुल को सहसा विश्वास नहीं आया। कालेज के दिनों में वह कभी एन० सी० सी० में थे। शक्ति उनमें थी, पर उसको उन्होंने कभी पहचाना नहीं था। जीवन को कभी एक लकीर से अधिक नहीं समझा। जैसे अपने में सिमटे लीक पर चलते रहे हों। कोई उद्वेग नहीं, उल्लास नहीं। भीतर जैसे घुटन हो, सीलन हो। वे भैया एकाएक मोर्चे पर कैसे चले गए ?

वह तुरन्त पत्र लिखने बैठ गया। चाहा, भाभी को पत्र लिखे पर लिख नहीं पाया। मंजरी को ही लिखा—भाभीसे कहना कि आज वे गर्विता हैं। भैया देश के लिए मोर्चे पर गए हैं। जो देश की रक्षा के लिए प्राणों की चिन्ता नहीं करता वही सचमुच जीता है। मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ···

पत्र पढ़कर भाभी मुस्करा आई। बोली, 'मुकुल को लिख देना कि मैं सचमुच गर्विता हूँ। बहुत प्रसन्न हूँ। केवल कभी-कभी याद आती है। लेकिन उस याद का हर क्षण प्रेम को पवित्र करता रहता है।'

मुकुल जैसे सिहर उठा, जैसे आत्म-विस्मृत, किसी भय से आक्रान्त, किसी अनचीन्हे दर्द से पीड़ित वह आड़ोलित हो आया। तभी नीचे कहीं कुछ कोलाहल उठा। क्षणिक व्यवधान के कारण कल्पना-पट हिल गया, 'सुस्थिर हुआ तो मंजरी का एक महीने बाद का दूसरा पत्र सामने था, 'भारत

सरकार ने सूचित किया है कि भैया लापता हैं और भाभी के लिये जैसे इसका कोई अर्थ ही नहीं है। न रोती हैं, न सुनती हैं। पत्थर की प्रतिमा जैसी यन्त्रवत काम में लगी रहती हैं।"

उसे खूब याद है कि वह फुसफुसाया था—भाभी रोई नहीं, क्यों ? क्यों नहीं रोई ? क्योंकि…क्योंकि…।

जैसे तूफान गर्ज उठा। उन्नचास पवन एक साथ उमड़-घुमड़ आये। कई क्षण वह आलोड़ित रहा फिर स्तब्ध हो गया। बहुत चाहा कि तुरन्त भाभी को लिखे परन्तु तीन दिन के प्रयत्न के बाद दो ही पंक्ति लिख सका। "भैया अवश्य लौटेंगे। जगदीश्वर इतने निर्दयी नहीं होंगे।'

उत्तर में इतना ही पाया—मैं जानती हूँ।

सोचा, भाभी के पास चलूँ। पर जब चला तो देखा पथ दक्षिण की ओर मुड़ गया है। निमित्त उसका था, पर निमित्त क्या स्व-निर्मित होता है। वह तो किसी भी क्षण निर्मित कर लिया जाता है। दो माह तक इसी निरुद्देश्य निमित्त के सहारे घूमता रहा, यहीं एक दिन अचानक मंजरी का पत्र फिर मिला—सुनो भैया, एक खुशखबरी है। बड़े भैया का पता चल गया। नेफा में वे वीरतापूर्वक लड़े, खूब लड़े, पर इतने घायल हो गए कि साथी मृत समझ कर छोड़ आये। दुश्मन ने तो मिट्टी का तेल डाल कर आग भी लगा दी। लेकिन उसी आग से जैसे उनके प्राण लौट आये। होश में आने पर सबसे पहले उन्होंने जलती हुई जाकट उतार फैंकी और फिर धीरे-धीरे रेंगते हुए रात के अन्धकार में अपनी चौकी पर लौट आये। ओफ, उस छोटी-सी यात्रा की कहानी। मैं लिख नहीं सकूँगी। रोमांच हो उठता है।'

'अब वह सैनिक अस्पताल में हैं। हम सब वहाँ गए थे। भाभी वहीं पर है। भैया की अवस्था बहुत अच्छी नहीं है। शत्रु की गोली ने नाक का कुछ भाग काट दिया है। प्लास्टिक सर्जरी हुई है। सुनती हूँ एक हाथ और एक पैर भी काट देने की बात है।'

'वे लौट आये यही क्या कम बात है। परन्तु जानते हो, भाभी ने जब भैया के जीवित होने का समाचार सुना तो वह संज्ञाहीन हो गई थीं। कई घंटे बाद आँख खोल सकीं। नहीं जानती थी कि हर्ष भी इतना घातक होता है। बात बात में रो उठती हैं। लेकिन भैया के सामने बराबर हँसती रही। आँसुओं की धार के पीछे उनकी हँसी नहीं रुकती।

'सैनिकों के लिये और उनके परिवारों के लिये उन्होंने जितना कुछ किया है उसका लेखा-जोखा मेरे वश का नहीं है। अभी-अभी लौटी हूँ। क्योंकि होली फिर आने वाली है। उनका आग्रह है कि सदा की भाँति इस

बार भी वह आपकी राह देखेंगी ?···

न जाने कितनी बार मुकुल ने उस पत्र को पढ़ा। स्तब्ध हुआ, रोया। एक बार तो चीख उठा—मैं नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा।

लेकिन जाना न जाना क्या उसके वश में था...।

उसने तेजी से फिर करवट बदली पर तभी पाया कि गाड़ी की गति धीमी पड़ रही है। पटरी बदलने के कारण शड़ाक्छू-सड़ाक्छू की आवाज में खरखराहट भर आई। केबिन पास से गुजर गया। नीचे के यात्री बोल उठे—स्टेशन आ गया। मुकुल को यहीं उतरना था। सामान उसके पास बहुत ही सीमित था। बाहर जाने पर पाया कि मंजरी पागलों की तरह उसी को ढूंढ़ रही है। देखते ही बावली-सी चीख उठी, 'भैया।'

मुकुल ने प्यार से उसे थपथपाकर पूछा, 'तू अच्छी है।'

—हाँ।

—भाभी कैसी है ?

—प्रसन्न हैं। खूब प्रसन्न हैं। इस बार होली खेलने की उन्होंने बहुत तैयारी की है। नाना प्रकार के रंग, केसर का लेप, स्वादिष्ट मिठाइयाँ।

मुकुल बोल उठा, 'क्या कह रही है तू।'

मंजरी ठीक ही कह रही थी। जब वह भाभी के पास पहुँचा तो सहसा पहचान न पाया। शरीर पर धवल उज्ज्वल साड़ी, मुख पर रहस्यमयी मुस्कान, आँखों में तरल चंचलता। मुकुल को देखा तो मानो कमल खिल आया। बोली, 'जानती थी इस बार अवश्य आओगे।'

मुकुल ने मुस्कराना चाहा पर मुस्करा नहीं सका। गम्भीर स्वर में बोला, 'भैया ने तो···'

भाभी तुरन्त बोली, 'वही किया जो प्रत्येक पुरुष को करना चाहिये।'

और कहते-कहते वह फुर्ती से मुड़ी। रंग की एक बाल्टी उठाई। मुकुल के ऊपर उलट दी। वह संभले-संभले तब तक दूसरी-तीसरी और चौथी बाल्टी खाली हो चुकी थी। उसने सँभलने का प्रयत्न किया लेकिन भाभी उसका हर प्रयत्न विफल कर देती थी। उसने पाया कि जैसे उसका विषाद दूर हो गया है। हृदय में एक रहस्यमयी हिलोर उठकर उन्माद पैदा करने लगी है। देखता है कि बाल्टी उसके हाथ में भी आ गई है। अब तो भाभी आगे है और वह पीछे। आँगन, दालान, बैठक, रसोई सभी से होते हुए दोनों अन्दर के कमरे में जा पहुँचे। आगे दीवार थी। उसी से सट कर भाभी खड़ी हो गई। बोली; 'अच्छा लो, डाल लो।'

दूसरे ही क्षण सर से पैर तक रंग में सराबोर हो आई। साड़ी बदन से

चिपक गई। कुन्दक-सी मांसल देह चमक आई। वह हँस रही थी। इसलिये शिराओं में थिरकन थी। रंगों ने उन्हें और भी मोहक बना दिया था। अस्त-व्यस्त वस्त्रों के कारण आकर्षण और भी गहरा हो उठा था। मुकुल सस्[illegible] पुकार उठा, 'भाभी !'

—बस लाला जी, और रंग नहीं डालोगे।

'भाभी' विद्युत् की गति से आगे बढ़कर उनके दोनों कन्धों पर अपने हाथ रख दिये। फुसफुसाया, 'भाभी।'

भाभी तनिक भी नहीं झिझकी, मुक्त मन बोली, 'कहो देवर जी !'

—तुम···तुम···इतनी सुन्दर हो।

—सच !

—मेरी आँखों में झाँको।

—ओह ! तुम कवि हो।

भाभी मुस्कराई। सहज-सरल भाव से उसके दोनों हाथ हटा दिये। बोली, 'सच कहते हो। मैं सुन्दर हूँ। मैं तो समझी थी कि मैंने अपने आपको उनकी याद में मिटा दिया है। लेकिन देवरजी, तुमने मेरा भ्रम दूर कर दिया। धन्यवाद···'

कहते-कहते भाभी का वक्ष उभरा, नेत्र दीप्त हुए। हर्ष ने जैसे नववधू को जकड़ लिया हो और मुकुल थरथर कम्पित अपलक पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाये वहीं का वहीं स्थिर हो गया कि पृथ्वी फटे और वह उसमें समा जाए। लेकिन यह क्या ? यह कैसा स्वर ? भाभी को क्या हो गया ?

भाभी सिसक रही हैं। सिसके जा रही हैं।

और मुकुल स्तब्ध है। समूचा विश्व स्तब्ध है।

1962

ooo

—3

वर्षा, गुलाब और सनक

वर्षा है कि हुए जा रही है। कहने वाले कहते हैं कि उनकी याद में कभी निरन्तर दस दिन तक ऐसी वर्षा नहीं हुई। झालानी खुश है कि वर्षा हुए जा रही है। हरियाली उसे अच्छी लगती है। सोंवा-सोंवा वातावरण उसे उछाह से भर देता है।

कुर्सी मंगवा कर वह लान में जा बैठता है। उसके सामने फूलों के अनेक गमले हैं। क्यारियों में भी नाना रूप गंध वाले अनेकानेक पुष्प मन के रोमांस को सहला रहे हैं! लेकिन…

सहसा उसकी दृष्टि ठिठक जाती है…इस कम्बख्त गुलाब को क्या हुआ है? आकाश मुक्त होकर धरती की झोली प्रेम से भरे दे रहा है परन्तु यही प्रेम गुलाब का शाप बन रहा है। कैसा बदसूरत है यह फूल। न रंग, न रूप, न गंध, निरा अरोमांतिक है। मुरझाया, मरा-सा, प्रेमिका के विछोह में श्रीहीन प्रेमी जैसा…

याद आ जाता है कि वर्षा में गुलाब नहीं पनपता। जैसे…

'सुनो'—पीछे श्रीमती झालानी है।

'सुनाओ।'

'विशु की अवस्था अच्छी नहीं है।'

'पुरानी खबर है।'

रमा चीख उठी, 'तो दो क्षण बाद नई खबर सुन लेना कि मर गया।'

मुकुल ने उधर बिना देखे उत्तर दिया, 'वह भी स्वाभाविक है। एक दिन सभी मरते हैं।'

'लेकिन यह मरना नहीं है।'

'तो बाबा। इसे हत्या कह लो। आत्महत्या कह लो। कुछ भी कह लो,

मुझे कोई आपत्ति नहीं है। परिणाम सभी का एक है। अच्छा, अच्छा, तुम नाराज हो। मैं भी नाराज हूँ। तुम कहोगी—दुनिया में इतना पैसा है फिर भी विशु अच्छे इलाज के अभाव में मर रहा है। न, न, इलाज पैसे से नहीं होता, देखो तो वर्षा ऋतु में आकाश धरती को प्रेम का कैसा अजस्र दान देता है। पर यह गुलाब···आह, अपना अपना भाग्य है।

रमा चिल्ला पड़ी, 'तुमसे कोई बातें बनानी सीखे।'

'आहा !' नारी के हृदय पर अधिकार करने का यही एकमात्र अस्त्र है। न रूप, न शक्ति, न सम्पदा, केवल यही 'वक्तृत्व कला' और मैं इसमें पटु हूँ। बोलो तो, कह दो कि तुम मेरे धन पर रीझी हो। न, न धन पाप है। प्रेम का शत्रु है।'

रमा के लिए यह सब कुछ नया नहीं है और असत्य भी नहीं है। और आज के रोमांतिक वातावरण को वह अनदेखा कर रही हो, सो भी नहीं है। पर जीजी का एकमात्र सहारा बराह वर्ष का उसका विशु मरणासन्न हो, तब यदि वह यह तर्क कर बैठे तो उसमें कोई अपराध नहीं है। एकाएक बोल उठी, 'धन पाप है तो फेंक क्यों नहीं देते।'

'यही तो तुम नहीं जानतीं। धन की गति इकतरफा है। वह खींचा जा सकता है, फेंका नहीं जा सकता। भले ही पानी धरती से जाए, परन्तु वर्षा का रुख कभी आकाश की ओर नहीं होता। कभी होगा भी नहीं।'

'खाक' रमा क्रुद्ध हो उठी, 'तर्क करते करते आप अपने को भूल जाते हैं और भूल जाते हैं कि आप क्या बक रहे हैं।'

'आत्म-विस्मृति की इस चरम-सीमा को ही प्रेम कहते हैं रमा, मुक्ति भी यही है।'

रमा आगे न सह सकी। पैर पटकती हुई वहाँ से चली गई। देखती तो पाती कि तभी मुकुल झालानी ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी। क्षण भर स्तब्धता का अभिनय करते बैठे रहे। फिर फुसफुसा उठे—खूब वर्षा हो रही है और गुलाब उसी तरह श्रीहीन है···

अमा छोड़ो भी गुलाब को। आज नहीं तो कल इसमें रक्तवर्णी माँसल फूल खिलेंगे और भाभी का विशु भी रोगमुक्त होकर पूर्ण स्वस्थ हो उठेगा।

शायद।···

भाभी, विशु और गुलाब का फूल···

'हूँ।' मुकुल ने शरीर को ढीला छोड़ दिया। और दूरातिदूर भूत में भटक गया। जहाँ न वर्षा थी, न हरित वसना, यौवन मदमाती वसुधा थी, न गुलाब का मुरझाया निस्तेज पुष्प था। थे उसके दूरदराज के भाई

मुकुन्द झालानी, भाभी शीला झालानी और उसके दो बच्चे तुनु और विशु…

मुकुन्द, एक उभरता उठता कलाकार पर निरा अव्यवहारिक। न उसमें कलाकारों की-सी सहज सुलभ ईर्ष्या, न उनका-सा प्रकृत दम्भ, प्रगति उस पर रीझती तो कैसे रीझती। मुकुल ने बहुतेरा इशारा किया पर अर्जुन की दृष्टि की तरह उसकी नजर कला पर ही थी। हर तर्क का उसके पास एक ही उत्तर था—मैं केवल सृष्टा हूं अर्थात् ब्रह्मा। न विष्णु, न शिव।

बीसवीं सदी में काल्पनिक देवताओं की बातें करता है, तभी तो पनप न सका।

मुकुल एकाएक उठ कर खड़ा हो जाता है। सामने मखमल-सा लान है। हरे-भरे पौदे हैं। श्वेत, पीत, रतनारे फूल हैं। मोती और सूरजमुखी की असंख्य कलियाँ यौवन की अंगड़ाई लेने को जैसे आतुर-उतावली हो उठी हैं। और मुग्धा प्रकृति मानों अपने रूप को निहार-निहार आप ही निहाल हो रही है। मुकुल हँस पड़ता है, क्या किया मुकुन्द ने। घुल-घुल कर प्राण दे दिए। भाभी को निराधार छोड़ गया और भाभी भी वैसी ही पगली। तुनु को खो दिया। पर जिन्दगी से समझौता नहीं किया। भला बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नारी कभी विधवा हो सकती है।

एकाएक आहट पाकर चिहुँक उठता है। मिस चंचल चोपड़ा सामने आकर गुडमानिंग कहती है, 'बौस। आज…।'

वाक्य पूरा करता है झालानी, '…वर्षा का सुहावना दिन है। छुट्टी चाहिए। मंजूर है। सबको कह दो…।'

'थैंक यू बौस' चंचल खिल उठती है, 'कोई अर्जेण्ट वर्क, बौस?'

'अर्जेण्ट तो आज छुट्टी है, शेष सब गौण।'—वह हँस पड़ता है। चंचल हँस पड़ती है। एक क्षण लोलुप नेत्रों से झालानी को देखती है फिर भाग जाती है।

'आह! अब प्राण बचे।' कह कर झालानी फिर कुर्सी में गड़ जाता है। 'काश कि संसार में छुट्टी ही छुट्टी होती।' उसने जोर से कहा। उत्तर दिया रमा ने, 'तब यह सम्पदा, यह वैभव, ये सब कहाँ से आते।'

'अब हर बात क्या एक साथ सोचनी चाहिए। फिर देखा जाएगा। चलो चलो अब तो पिकनिक पर चलें।'

'मन तो करता है पर…'

'हाँ, हाँ, पर वर कुछ नहीं चलो।'

'भाभी आज स्कूल जाएँगी और विशु की हालत ठीक नहीं है।'

'वे भी छुट्टी ले लेंगी। यह दूसरी बात है कि हमारी और उनकी छुट्टी में अन्तर है। पर अर्थ और परिणाम एक ही है। ना, ना, बहस नहीं। ऐसे सुन्दर मौसम को बहस करके मलिन न करो। चलो—चलो'

मुकुल मानो रमा को घसीटता-सा अन्दर ले जाता है। फिर पिकनिक की तैयारी की वह धूम मचती है कि सब दर्शन, यहाँ तक कि शीला भाभी और उसका विशु ये सब उसके सर्वग्रासी पेट में समा जाते हैं।

लौटते हुए बहुत देर हो जाती है। प्रकृति उसी तरह योगी के उछाह से भरी है। इसलिए समय की दासता सबको अखरी। घर पहुँचते-पहुँचते दस बज चुकते हैं। रमा एकाएक कहती है, 'जरा विशु को देख आऊँ।' और उत्तर की चिन्ता किए बिना ड्राइवर से कहती है, 'शीला भाभी के घर चलो।'

मुकुल भी प्रतिवाद और स्वीकृति का झमेला नहीं करता। भीतर जाकर पलंग पर जैसे बिखर जाता है। और सोचने लगता है।

कमरे का हरा-हरा प्रकाश उसे अच्छा लगता है। उसकी दृष्टि दीवार पर के नारी के चित्र पर टिक जाती है। सहसा देखने पर वह चित्र चन्द टेढ़ी-मेढ़ी लाइनों और रंगों के कुछ बेतरतीब धब्बों का समूह है। नारी के शरीर में भी त्वचा के नीचे और क्या है—कुछ टेढ़ी-मेढ़ी हड्डियाँ और माँस मज्जा के लोथड़े···

सहसा कहीं आहट हुई।

लेटे-लेटे वह बोला, 'रमा।'

जिस आवाज ने उत्तर दिया वह बड़ी कर्कश थी। एक बार ही काँप कर उठ बैठा। देखता क्या है—पिस्तौल लिए चार-पाँच नकाबधारी व्यक्ति सामने खड़े हैं।

क्षण भर में सहस्रों तूफान मस्तिष्क से गुजर जाते हैं। फिर अपने को चौंकाता हुआ वह बोल उठता है, 'आइए-आइए। न, न, इसकी क्या जरूरत है।'

'चुप रहो। चाबी कहाँ है ?···खबरदार उधर नहीं।··· हाथ ऊपर।'

'चाबी जेब में है।'

एक व्यक्ति ने आगे बढ़ कर चाबी निकाल ली।

मुकुल ने कहा—'जेब में पर्स भी है। काफी रुपए हैं।'

वह भी निकाल लिया।

'और।'

'चुप रहो। इसका मुँह बाँध दो।'

दो व्यक्ति उसका मुंह बांधते हैं। हाथ-पैर भी बांध देते हैं। बंधते-बंधते वह कहता है, 'सुनो तो। सब कुछ ले लेना। लेकिन खाली डिब्बे छोड़ जाना। हाँ, हाँ, मैं जो कहता हूँ डिब्बे सब छोड़ जाना। याद करने का कोई आधार तो चाहिए। भगवान के लिए मूर्ति की···।'

आगे जो कुछ मुंह से निकलता है वह सब अनसुना रह जाता है। बहुत देर तक वह मन ही मन बोलता है। उन नकाबपोशों को आते-जाते देखता है। कितने भयानक, कितने कायर।···

सहसा जैसे वह तेजी से बोल उठता है, 'जहाँ धन है वहीं तो। हाँ, हाँ वहीं तो···।'

फिर वह आँखें मींच लेता है।

फिर एक चीत्कार सुन कर आँखें खोलता है। रमा जैसे उसके ऊपर आकर गिर पड़ती है। पागलों की तरह उनके बन्धन खोलती है। एक साथ प्रश्नों की बौछार किए चली जाती है, 'हाय, हाय तुम ठीक तो हो ? चोट तो नहीं लगी ? यह क्या हुआ ? कौन थे ? कैसे हो ? बोलते क्यों नहीं ? चोट तो नहीं लगी ?'

फिर टोह-टोह कर उसके सारे शरीर को देखती है। मुकुल उठकर खड़ा हो जाता है, 'तुम्हारे खाली डिब्बे छोड़ गए कि नहीं ?'

ड्राइवर आकर सूचना देता है कि अलमारी बिलकुल खाली है।

'आह, सचमुच कायर थे।'

'मैं अभी पुलिस को फोन करती हूँ।'

'न, न, पहले देख तो लो पुलिस के लिए कुछ बचा भी है।'

ड्राइवर कहता है, 'पुलिस को फोन किया जा चुका है।'

भीड़ बढ़ने लगती है। लोग तरह-तरह की बातें करते हैं। थाना-पुलिस होते-होते रात बीत जाती है। मुकुल झालानी उनके जाने के बाद एक दीर्घ निश्वास छोड़ता है और कह उठता है, 'अब जान बची।'

इस झमेले में फिर कई दिन बीत गए। दस दिन बाद देखने में आता है कि मुकुल शीला भाभी के घर मौजूद है। रमा पहले से ही वहाँ है। इन्हें देख कर अचकचाती है 'आप।'

'विशु कैसा है ?' और उत्तर की अपेक्षा न करके विशु की खाट पर जा बैठता है और हाथ से ताप देखता है। जैसे बिजली छू जाती है।

'आह भट्टी जल रही है।'

'भाभी।'

'हाँ भैया।'

'बुखार बहुत तेज है। डाक्टर क्या कहता है ?'

'डाक्टर आया कहाँ जो कुछ कहता।'

'क्या डाक्टर अभी तक नहीं आया ? लड़के को एक बार ही मार डालोगी।'

भाभी हँसी, 'सभी के भाग्य में तो डाक्टर होते नहीं। फिर भी वे अच्छे हो ही जाते हैं।'

मुकुल उठकर खड़ा हो जाता है, 'तुम कैसी माँ हो भाभी। ना, ना, यह नहीं हो सकता। मैं यह हत्या नहीं होने दूँगा। अभी डाक्टर को बुलाता हूँ।'

'अभी।'

'हाँ, हाँ, अभी और हाँ, मैं सोचता हूँ रमा, भाभी हम लोगों के साथ चल कर रहें तो···।'

हतप्रभ भाभी बोल उठती है, 'यह तुम्हारी कैसी सनक है भैया।'

मुकुल हँस पड़ता है, 'सनक, तुमने बिल्कुल ठीक शब्द का प्रयोग किया भाभी। लेकिन इसकी व्याख्या मैं अपने लान में बैठ कर करूँगा। अब तो चलूँ डाक्टर को बुला लाऊँ। अरे रमा, इस तरह मेरा मुँह क्या देख रही हो। कम से कम विशु के अच्छा होने तक तो भाभी वहीं रहेंगी।'

और फिर एक दम मुड़ता है।

'सुनो ?' रमा कहती है—

'कहो।'

'पुलिस आई थी। उसे शक है कि डाकू भाभी की मदद करते हैं और भाभी···।'

'हो सकता है। असहाय नारी के मददगार बहुत होते हैं।

रमा पाण्डु रंग हो मुकुल झालनी को देखती है। भाभी हँस पड़ती है, 'मदद तो तुम भी करना चाहते हो।'

'हाँ।'

'और शक भी करते हो।'

'शक तो हारे जुआरी का दाव है। हो सकता है सनक में पुलिस के सामने तुम्हारा नाम ले दिया हो। पुलिस तो शास्त्र पढ़ती है। मानती है जहाँ अभाव है वहाँ पाप है।'

'क्या कहते हो, तुमने पुलिस से कहा,' रमा अविश्वास से चीख उठती है।

'उत्तेजित होना दुर्बलता है। पराए घर में शोभा नहीं देता। स्वभाव में

भला मैं तुम क्या करेंगे।'

रमा निरस्त्र नहीं होती। कह बैठती है, 'स्वभाव की बात आदमी पर लागू नहीं होती।'

झालानी खूब हँसता है, 'तुम भी शास्त्र पढ़ती हो। यही मुसीबत है। पुलिस के काम में हम क्यों दखल दें। भाभी, तुम चलो ना मेरे साथ।'

रमा बोल उठती है, 'अब मैं कहती हूँ, भाभी वहाँ नहीं जायगी।'

भाभी हँसती है—'हाँ भैया! पुलिस तुम्हें भी परेशान करेगी। डाकू से परिचय सचमुच ही हो गया है। तुम्हारा रुपया लाया था। अब एक डाकू का रुपया दूसरे डाकू की मार्फत लेती? नतीजा यह हुआ कि पुलिस ले गई। भला रुपए की भी क्या सनक है। पुलिस पर रीझा।'

भाभी खूब हँसती है। झालानी भी हँसता है, 'जड़ कहीं का। अच्छा भाभी डाकू का पता तो बता दिया ना!'

भाभी ने दृष्टि मिलाई, 'जिससे परिचय है उसे धोखा दूँ। ऐसी सलाह तो तुम न दोगे। वह खुद जाए तो जाए।'

तभी विशु पुकार लेता है। झालानी को कैसा लगा जान नहीं पाती। रमा सहसा उठकर कहती है, 'अब चलो।'

'चलो।'

1960

4—

शतरूपा की मौत
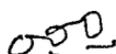
26 अगस्त, 1961, तद्नुसार 4 भाद्रपद 1883 शकाव्द। प्रातः दस वजे।

कल शतरूपा का पत्र आया था और आज वह आने वाली है।

वह सुनहरे वालों और उनींदे नयनों वाली एक कोमलांगी लड़की है। अव तक मैंने उसे दूर-दूर से ही देखा है। और हर वार उसके नये सौन्दर्य से अभिभूत हुआ हूँ। दूरी भी एक सौन्दर्य है, आकर्षण का सौन्दर्य।

उसके आने पर मुझे प्रसन्नता होनी चाहिए पर जव से पत्र पढ़ा है तभी से मेरा मन घुटा-घुटा-सा हो रहा है। मैं मान लूँगा कि मुझे डर लग रहा है जैसे वहुरंगी सर्प को धूप में रेंगते देख कर लगता है।

वह मेरे पुराने मित्र श्री मनु खन्ना की निजी सचिव और उसकी एक सस्ती वाजारू किस्म की मासिक पत्रिका 'सीमान्त प्रभा' की सम्पादिका भी है। खन्ना निहायत ही कमीना और वदजात इन्सान है, इसलिए दिन प्रति दिन प्रगति कर रहा है। सवेरे उठते ही वह नौकरों को डाटता है। वे न हों तो, और अक्सर वे नहीं होते, तो गरीव वीवी को डांटता है। उसके वाद लंगोट वाँध कर मालिश करवाता है। उस समय वह ऐसा लगता है मानो कोई गुहा मानव वीसवीं सदी में भटक गया हो।

वह एक छोटे-से कमरे में वैठता है। जिसके चारों ओर ऊँची दीवारें हैं। उनके ऊपर से होकर उसके ऊँचा-ऊँचा वोलने का स्वर पड़ोसियों को परेशान कर देता है। वह अक्सर ऊँचा वोलता है और अक्सर वड़े वड़े दावे भी करता है। वह गांधी के हृदय परिवर्तन में विश्वास करता है, इसीलिए पहले क्षण जिसको वह मिटा देने की कसम खाता है दूसरे क्षण उसके पैर पकड़ कर गिड़-गिड़ाने में तनिक भी नहीं झिझकता। सभी सफल

व्यक्तियों की तरह वह सुविधानुसार राजनैतिक दल बदलता रहता है। ब्लैक मार्केट में निष्णात है और लड़कियों को आकर्षित करने में 'बृहत् कथा' का नायक नरवाहन दत्त भी उसे नहीं जीत सकता।

उसको और शतरूपा को लेकर मैंने बहुत-सी कहानियाँ सुनी हैं।

सुना है कि उसको जब कहीं किसी मन्त्री, सचिव या मिलमालिक से काम होता है, तो वह शतरूपा को अपने साथ ले जाता है। उसके शरीर से उठती मोहक गन्ध की उपेक्षा आज तक कोई भी व्यक्ति नहीं कर सका। मोहिनी की भाँति वह सहज भाव से कहीं भी जा सकती है। जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी ओर देखने का दुस्साहस करते हैं उन्हें अपना शील बचाने के लिए खन्ना को काफी भेंट-पूजा चढ़ानी होती है।

सुना है कि खन्ना की परिणीता परित्यक्ता मात्र रह गई है और स्वामिनी के पद पर आ बैठी है—यह रूपा···

अब जाने दीजिए। सब सुनी सुनाई बात हैं। पर फिर भी मुझे डर लगता है। वह मेरे इस एकान्त अंधेरे कमरे में मेरे सामने बैठेगी। उसकी आँखों में एक अजीब-सा नशा है। वह मुझसे क्यों मिलना चाहती है? मैं मना क्यों न कर दूँ। अभी भी समय है लेकिन मैं कथाकार हूँ मुझे···हे प्रभु मेरी रक्षा करना।

दस बजे रात

शतरूपा ठीक ग्यारह बजे आ गई थी। और दो बजे उसे जाना पड़ा।

इन तीन घंटों में मैंने उसे खूब पास से देखा। इतने पास से कि मैं उसके गोरे-गोरे अंगों में उठे हुए रोमों का वर्णन कर सकता हूँ। जब उसने मेरे इस एकान्त अंधेरे कमरे में प्रवेश किया तो वह बेहद खूबसूरत लग रही थी। उसने कहा, 'मैं आ सकती हूँ।'

मैंने उसकी ओर देखा। गद्गद् होकर बोला, 'आओ आओ। मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। क्षमा करना कमरे में रोशनी कम है, बिजली जलाता हूँ।'

वह हँसी, 'अंधेरे एकान्त कमरे में बैठ कर ही विचार मूर्त रूप लेते हैं। आपकी कहानियों के अन्तर्द्वन्द्व ने मुझे बार-बार झंझोड़ा है।'

मैंने तब तक स्विच ऑन कर दिया था और ढेर सारा धवल प्रकाश उस पर बिखर गया था। मैंने उसे खूब पास से देखा। मेरा अन्तरमन अनायास ही ग्लानि से भर आया। उस मोहिनी के नीचे निर्लज्जता झलक-झलक उठती थी। मैं काँपा, पर यन्त्रवत् मुस्करा कर कहा, 'बैठिए।'

दोनों ही बैठ गए और कई क्षण अन्दर के तनाव से मुक्ति पाने का मार्ग ढूढते रहे। किसी तरह मैंने कहा, 'तुम्हारा पत्र मिला था। मुझसे क्या चाहती हो ?'

वह फिर भी मौन, धरती की ओर देखती रही। बोलने का प्रयत्न किया परन्तु बोल नहीं सकी। बस खामोश निगाहों से देखती रही। उन खामोश निगाहों ने कितना कुछ कहा, बता न सकूंगा। शायद वह अपने रूप की निर्लज्जता को छिपाने की जी-जान से कोशिश कर रही थी। और इस कोशिश के कारण ही उसके गौर वर्ण में कभी-कभी स्वर्णिम आभा झलक उठती थी। मेरे मन में एकाएक करुणा का उद्वेग हो आया। मैंने कहा, 'आप शायद झिझक रही हैं।'

'जी।' उसने छोटा-सा उत्तर दिया और फिर शब्दों के लिए छटपटाने लगी। जैसे-जैसे उसकी छटपटाहट बढ़ती गई, वैसे-वैसे वह तरल होती गई। हठात् उसके नयनों के कौर भीग आए और उन्हें पोंछने की चेष्टा किए बगैर उसने कहा, 'मैं आपके पास सहायता के लिए आई हूं। मुझे निराश तो न करेंगे।'

मैं उसे देख रहा था। देखता रहा। बोला नहीं। पर वह जैसे इन्हीं शब्दों को कहने के लिए तड़पड़ा रही थी। कह चुकी तो उसका रंग लौट आया। और वह दृढ़ स्वर में बोली, 'मेरे बारे में आपने बहुत कुछ सुना होगा।'

मैंने कहा, 'सुना तो है, पर सुना हुआ क्या सच ही होता है।'

वह बोली, 'कम से कम मेरे बारे में तो है। कहूंगी कि मैं उससे कुछ अधिक ही हूँ।'

देखता रह गया। वह सीधे मेरी आंखों में झांक रही थी। बोली, 'जो कुछ मेरे बारे में प्रचलित है उसको दोहराने की लज्जा से मैं बचना नही चाहती। पर पिष्टपेषण से लाभ भी क्या। 14 वर्ष पूर्व मां केवल हम दोनों बहनों को लेकर ही किसी तरह यहीं पहुँची थी। कैसे पहुँची थीं ठीक-ठीक याद नहीं। कुल छ वर्ष की थी। पर उसके बाद न जाने कितने पुरुष हमारे जीवन में आए। मुझे सबसे पहले शर्माजी की याद है। उनकी बड़ी-बड़ी मूछें थी। शरीर बेढंगा था। देख कर मुझे डर लगता था। हमारे जीवन मे आने के बाद वे कुल पांच वर्ष जिए। उन पाँच वर्षों में हमें मनुष्य बनाने के लिए उन्होने जो कुछ किया उसकी याद करके मुझे रोना आ जाता है। काश कि वह और जी पाते। उन्हीं का पुण्य तो मुझे आपके पास आने का साहस दे सका है।

फिर एक बनर्जी थे जो समाज-सेवा केन्द्र के अधिकारी थे। उनकी बिल्ली जैसी आँखें दिन में भी चमकती थीं। हम दोनों बहिनें उनसे बहुत डरती थीं। पर न जाने क्यों, माँ उनकी प्रशंसा करते न अघाती थी। वे हमारा पूरा खर्च उठाते थे। और अक्सर हम दोनों बहनों को बहुत-से लोगों से मिलवाते थे। कहा करते थे—मनुष्य ही मनुष्य के काम आता है। सबसे खूब हेलमेल बढ़ाते रहना चाहिए।

मैंने एकाएक कहा, 'क्षमा कीजिए, क्या वे भी…'

'जी नहीं,' वह हँस पड़ी, 'वे मरे नहीं। जेल में ज़िन्दा हैं। किसी लड़की का शील अपहरण करने और फिर मार डालने के अपराध में आजन्म कारावास की सज़ा भोग रहे हैं।'

'ओह!' मैं इतना ही कह सका।

उसने कहा, 'लेकिन वे गिरे हुए थे। नहीं तो आज ये सब काम करके भी मनु खन्ना…मनु खन्ना से हमारा परिचय उन्होंने ही करवाया था। मैं खन्ना से नफ़रत करती हूँ, सख्त नफ़रत। मैं…मैं उसके हाथ में अलादीन का चिराग हूँ। वह स्वयं भी मेरा उपयोग करता है और दूसरों को भी करने देता है। वह हर वस्तु को इसी दृष्टि से देखता है और हर लड़की उसकी दृष्टि में वस्तु मात्र है।…

एकाएक उसे न जाने क्या हुआ। उसने कुर्सी के हत्थे को जोर से पकड़ लिया। रंग पीला पड़ गया। तीव्रता से काँपी और पीछे को गिर पड़ी। मैं घबड़ा उठा। तुरन्त पानी लाकर जोर-जोर से मुँह पर छींटे दिए और पुकारने लगा, 'रमा…रमा आँखें खोलो। आँखें खोलो।'

मैंने उसकी आँखों की पलकें उठाईं, उसकी हथेलियों को सहलाया, दिल की धड़कन महसूस की और यह भी महसूस किया कि इस क्षण उसे होश न आया तो मैं भी गिर पड़ूँगा। पर तभी वह कुनमुनाई। आँखें खोलकर चकित मृगी-सी शून्य में ताकने लगी। फिर एकाएक उठ बैठी, 'ओह! मुझे क्या हो गया था। मैं ऐसी क्यों हुई। आप मुझे क्षमा कर दें। आपको…।'

मैं भी संभल चुका था। धीरे से बोला, 'लो पानी पी लो। और घर चली जाओ। शेष कहानी फिर किसी दिन सुनाना।'

वह पानी पी चुकी थी। अब सीधी होकर बैठ गई और उसने कहा, 'नहीं, नहीं, फिर नहीं। कहानी इतनी ही है। कथाकार को क्या शब्द-शब्द समझाना होगा। बस दो शब्दों में आने का कारण और कहूँगी। न जाने आज कैसे साहस बटोर सकी हूँ। कल को इसे खो बैठी तो…।'

मैंने यंत्रवत् कहा, 'अच्छा, कहो।'

वह बोली, 'सुनोगे।'

उसका रंग फिर विवर्ण होता दीख पड़ा। मैंने तुरन्त कहा, 'हाँ सुनूँगा।'

'तो सुनो,' उसने खूब दृढ़ होते हुए कहा, 'मैं माँ बनने वाली हूँ और चाहती हूँ कि माँ बनी रहूँ।'

कह कर उसने आँखें मीच लीं। मैं नहीं जानता कैसे मैंने दीवार पकड़ी और धीरे-धीरे फर्श पर बैठ गया। शुक्र है उतनी देर रूप आँखें बंद किए सोफे की पीठ पर सिर रखे बैठी रही। जब उसने आँखें खोलीं तो मैं अपलक उसकी ओर देखता बैठा था। उसकी आँखों में आँसू थे। कंठ रुंध गया था। बोल न सकी। तुरन्त अपने ब्लाउज में हाथ डाल कर उसने एक लिफाफा निकाला। बोली, 'लो इसे पढ़ लो।'

पत्र बहुत लम्बा नहीं था। एक साँस में ही पढ़ गया। अन्त में उसने लिखा था,··· खन्ना ने इससे पूर्व दो बार मेरा मातृत्व छीना है। मैं नहीं चाहती कि तीसरी बार भी वह कहानी दोहराई जाए। वह मुझसे रोज लेडी डाक्टर के पास जाने को कहता है। आप तो जानते ही हैं कि बहुत-सी लेडी डाक्टर यही पेशा करती हैं। पर मैं चाहती हूँ कि माँ बनी रहूँ। खन्ना ने मुझे संसार की वे सब चीजें दी हैं जो शरीर और रूप को संवारती हैं। पर वह मेरी आत्मा को कलंकित करने में सफल हो गया। मैं गरीब थी उसने मुझे धन दिया। बेसहारा थी, सहारा दिया लेकिन ये धन, ये सांसारिक वस्तुएँ, ये अपने आप में न तो सुख देते हैं न सन्तोष।··· मैं खन्ना को खूब प्यार करती, यदि वह हत्यारा न बन कर मेरे बच्चे का पिता बनता। मैं तब कितना खुश होती। मैं जानती हूँ मैं पापिष्ठा हूँ, पर यह भी जानती हूँ कि अपने बच्चों को मैं बहुत-ही गहराई से प्यार करती हूँ। ओह। वह अभी भ्रूण मात्र है। पर मैं उसको सुलाने के लिए लोरियाँ गाती हूँ। उसकी कमल जैसी आँखों में काजल लगाती हूँ। उसकी सुनहरी बालों की लटें बाँधती हूँ। उसकी मक्खन जैसी मुलायम हथेलियों को चूमती हूँ।

मैं जानती हू, मेरा यह बच्चा अपने पिता का नाम न ले सकेगा। मैं चाहती भी नहीं कि उस जैसा बदजात इन्सान मेरी सन्तान का बाप बने। अवैध कहलाना उससे कहीं बेहतर है। मैं उस आदर्शवाद में भी नहीं फंसना चाहती कि कोई दया करके उसका पिता बन जाए। मैंने जो किया है उसे भोगने का साहस मुझ में है, पर मैं उसे खोना नहीं चाहती।'

पढ़ कर मैं स्तब्ध रह गया। अन्दर आक्रोश उमड़-घुमड़ आया। पर सुलझन कहीं भी नहीं थी। कई क्षण बाद मैंने उससे कहा, 'मेरे एक मित्र मजिस्ट्रेट हैं, अभी मेरे साथ चलो···।'

वह बोली, 'कौन ?'

मैंने नाम बताया तो वह मुस्कराई। ओह, वह मुस्कान ! किसी के मुख पर इतना क्रूर व्यंग्य शायद ही देखा हो। बोली, 'कई बार खन्ना के काम से उनके पास गई हूँ। कोई आशा नहीं। मजिस्ट्रेट, पुलिस, मन्त्री, कहीं कुछ नहीं हो सकता।·········'

मैं स्वीकार करूँगा। मैं कुछ नहीं समझ पा रहा था। उसकी समस्या की जटिलता और उलझन ने मुझे विमूढ़-सा कर दिया था। वही बोली, 'कई बार आत्महत्या करनी चाही। पर हर बार अन्दर से उसने मुझे खींच लिया।'

मैंने एकदम कहा, 'तो फिर मैं क्या करूँ ?'

उसने मुझे ऐसे देखा कि मैं सिहर उठा। कुछ कहूँ इससे पूर्व ही वह फूट-फूट कर रोने लगी और क्षमा माँगने लगी, 'मैं मुँहजली क्या करूँ। कहाँ जाऊँ। जिन्दा रहना चाहती हूँ और······ क्या कहीं मुझे नौकरी नहीं मिल सकती ?'

मैंने उत्तर दिया, 'झूठा आश्वासन नहीं दूँगा। इस हालत में कोई बहुत आशा नहीं है।'

वह बोली, 'कोई आशा नहीं।'

उसके इस वाक्य में जो निराशा भरी हुई थी। उसने मेरे अन्तर को छेद कर रख दिया। जैसे बढ़ई पेचकश से लकड़ी को छेद देता है। मैंने कहा, 'नहीं, नहीं, मैं प्रयत्न करूँगा। तब तक···

उसी क्षण हम दोनों ने अचरज और भय से देखा—मनु खन्ना मुस्कराता हुआ मेरे द्वार पर खड़ा है। वह मेरे घर कभी नहीं आता। हम बात तक नहीं करते। पर तब वह मुक्त भाव से मुस्करा कर बोला, 'आ सकता हूँ भाई साहब।'

न जाने कैसे मैंने इतना ही कहा, 'आइए।'

वह दो कदम और आगे बढ़ा ; फिर रूपा से मुखातिब होकर बोला, 'रूप ! तुम्हारी बातें खत्म हो चुकी हों तो चलो। खाना ठंडा हो रहा है।'

क्षण भर पहले जो रूप खूँखार हो उठी थी, वह अब मोम की तरह पिघल गई। बोली, 'जी हाँ, चलती हूँ। भाई साहब विशेषांक की कहानियों का सम्पादन करने को सहमत हैं।"

मैं हतप्रभ-विमूढ़ जैसे था ही नहीं। रूप उठी और मेरी ओर देख कर बोली 'कहानियाँ लेकर फिर आऊँगी।'

वे दोनों चले गए। जाते वक्त रूप सदा की तरह मुस्करा रही थी। और खन्ना जोर-जोर से गुस्से में न जाने क्या-क्या कह रहा था। क्योंकि मैं तो तब था ही नहीं।

26 सितम्बर, 1961 तदनुसार 4 आश्विन 1883 शकाब्द। प्रातः दस बजे।

एक महीने से रूप को नहीं देखा। खन्ना के कमरे के जालीदार किवाड़ों से झाँकने का लज्जाजनक काम भी मैंने किया, पर रूप की झलक न पा सका। कई बार जी में उठा कि खन्ना से जाकर कहूँ—शैतान के बच्चे, बता तूने रूप को कहाँ छिपा कर रखा है। मैं पुलिस में जाकर रिपोर्ट करूँगा।.........

मैं जानता हूँ कि खन्ना तब खूब हँसेगा। कहेगा—'भाई साहब, बैठिए चाय पीकर जाइए। अभी पता करता हूँ कि रूप कहानियाँ लेकर आपके पास क्यों नहीं आई? 'सीमान्त प्रभा' का विशेषाँक अक्तूबर में ही तो निकलता है और हाँ, भाई साहब आप जानते हैं 'सीमान्त प्रभा' ने सब रिकार्ड तोड़ दिए हैं। तीस हजार छापता हूँ फिर भी माँग पूरी नहीं कर पाता। विशेषांक पचास हजार छाप रहा हूँ।.........

मैं जानता हूँ ये सब किस्से हैं। कागज सब ब्लेक में जाता है पर मुझे इससे क्या। मैं रूप से मिलना चाहता हूँ। मैं उसके बच्चे की प्राण रक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार हूँ।

दस बजे रात।

दोपहर को फिर खन्ना के घर के पास से गुज़रा। तभी सुना फोन पर एक क्लर्क बातें कर रहा है—"रूप आ गई है। आज कार्यालय में आएगी। जी हाँ वह शिमला गई थी। जी अब तो ठीक है। काफी अस्वस्थ रही।......

ओह, तो रूप अस्वस्थ थी। तभी नहीं आ सकी। पर पत्र तो दे सकती थी।...भला ऐसी बातें भी पत्र में लिखी जाती हैं। वह आज आ रही है तो मेरे पास भी अवश्य आएगी।

और मैं पांच बजे तक अपने उस एकान्त अँधेरे कमरे में बैठा उसकी राह देखता रहा। उसके बारे में नाना प्रकार की कल्पना करता रहा। लेकिन वह नहीं आई। मैं बेचैन हो उठा। और एकाएक न जाने क्या सूझा तुरन्त खन्ना के कार्यालय के सामने वाली छत पर जा खड़ा हुआ। वहाँ से मैं सब

को देख सकता था, पर मुझे कोई नहीं देख सकता था।

मेरा अनुमान कितना सही था। दो क्षण के भीतर ही मैंने रूप को देखा वही तो है। वही इकहरी काया, वही उनींदी आँखें जो सुनहरी फ्रेम के भीतर और भी मोहक जान पड़ती हैं। वे ही सुनहरी बाल जो लाल रिबन के बन्धन में आकर भी नीचे तक लहरा आए हैं। शुभ्र श्वेत सूट वह अप्सरा-सी लगती है। खन्ना से बातें करती-करती वह बार-बार खिलखिलाती रही। खन्ना जोर जोर से बोल रहा था। वही 'सीमा' के बारे में डींगें और जनता में बढ़ती हुई चरित्रहीनता पर आक्रोश।···मुझे इन बातों में कोई रुचि नहीं थी। मैं सारा समय रूप को ही देखता रहा। उसकी बारीक से बारीक गति विधि को लक्ष्य करता रहा। वह पूर्ण मुक्त थी। कहीं संकोच नहीं, द्विविधा नहीं।···

हमारे बीच की दूरी कुछ गज की ही होगी पर हर क्षण जैसे वह बढ़ते ही जा रही थी और मेरा मन पहले दिन की भेंट के वक्त से भी अधिक आशंकाओं से भरता आ रहा था। तभी टैक्सी आ गई। वे दोनों चले गए और बीच की दूरी सीमाओं को लाँघ गई। तब से मैं बराबर सोच रहा हूँ जितना सोचता हूँ सीमा उतनी ही अलंघनीय बनती जा रही है।

27 सितम्बर 1961. तद्नुसार 5 आश्विन 1883 शकाब्द. प्रातः दस बजे।

सवेरे सवेरे रूप का पत्र आया।···

"कल संध्या को मैंने आपको छत पर देख लिया था : जिस रूप की आप को तलाश है वह मर चुकी है और शिमला में दफनाई जा चुकी है। वह अब माँ न बनेगी, कभी न बनेगी। अब वह केवल उपयोग की वस्तु मात्र है"

कथाकार ! तुम मेरे मजार पर आँसू बहा सकते हो। मुझे मुक्ति नहीं दे सकते। कहते हैं चिड़िया साँप से बहुत डरती है पर उसके नेत्रों का मादक आकर्षण उसे सीधे उसके मुँह में खींच ले जाता है।···जानते हो खन्ना ने मुझे हीरे की एक अँगूठी दी है। मेरा वेतन भी बढ़ा दिया है। सुनो, मैं अब पीने भी लगी हूँ।···

कैसी निरुद्विग्न-तटस्थता, कैसी योग-साधना। मेरे वक्ष में जैसे किसी ने छुरी मार दी हो। जैसे मस्तक पर शिलालेख दे मारा हो। आवरण के नीचे यह कैसी दुनिया है। कैसी सावधानी से असत्य की इस सुनहरी और मोहक पोशाक के नीचे हमने अपनी कुरूपता को ढक रखा है जैसे संसार में जो कुछ भी हो रहा है इस बीभत्सता को ढकने-छिपाने के लिए ही हो रहा है। जैसे ढकना-छिपाना ही सहज-सरल है, शेष सब मिथ्या।

बस मेरे हाथ ऐंठने लगे, दृष्टि ऐंठने लगी, मस्तिष्क ऐंठने लगा।

दस बजे रात।

सब कुछ भूलने के प्रयत्न में खोया-खोया सा बैठा था कि एक परिचित स्वर सुना—'मैं आ सकती हूँ।'

चकित-कम्पित दृष्टि घुमाकर देखता हूँ—रूप है। हठात् डर गया। यह क्या कल वाली रूप है? बिल्कुल परिवर्तित हाव-भाव, न लज्जा, न सकुचाई मुद्रा। यह तो कोई अपरिचित है। नितान्त अपरिचित। बस सकपकाई नजरों से देखता ही रहा। उतने समय में रूप ठीक मेरे सामने की कुर्सी पर बैठ गई थी। बोली, "पत्र मिल गया था?"

मैंने अपने को संभालते हुए किसी तरह कहा, 'हाँ।'

बोली, "कहानी लिखी।"

विमूढ़-सा मैं बोला, "कसी कहानी?"

वह मुस्कराई, "क्यों, मेरे बारे में। संसार भर को तुम अपनी कहानियों में चित्रित करते हो मुझे नहीं करोगे? काश कि मैं लिख पाती तो धरती काँप उठती। अच्छा, मैं प्रयत्न करूँ तो क्या ठीक कर दोगे।"

मैं पागल-सा बोला, "रूप।'

वह एकाएक विवर्ण हो आई। कहा, "रूप, मत कहो। उसने आत्महत्या कर ली। उसके भीतर जो औरत थी वह कभी की मर चुकी।..."

मैं जैसे चीख पडूंगा। पर अपने को रोका और शान्त भाव से कहा, "रूप तुम चली जाओ।"

रूप एकाएक पलट गई। हँसी, "जाऊँगी तो हूँ ही, नहीं तो खन्ना आ जायेगा। पर ये कहानियाँ लाई हूँ। इन्हें देख नहीं दोगे?'

और उसने एक बड़ा-सा पैकेट मेरी गोद में फेंक दिया। मैं आँखें फाड़े उसे देखे ही जा रहा था—पाउडर की मोटी तह के नीचे निर्लज्जता के काले छल्लों को, कि वह फिर बोली, "अब तो डरने की कोई बात नहीं रही। सच मुच ही वस्तु मात्र रह गई हूँ। आप भी वस्तु ही हैं और मानेंगे कि वस्तु की सार्थकता उसके उपयोग में है। आप कलाकार हैं। आप मेरी कहानियाँ ठीक करते रहिये, मुझ पर कहानियाँ लिखते रहिए। मैं माड़ा हूँ; मैं आपका···

अपने को रोकने में असमर्थ मैं चीख उठा था, "निकल जाओ, अभी यहाँ से निकल जाओ।"

सच कहता हूँ रूप तब उतने ही जोर से हँसी थी, "सत्य से आदमी इसी तरह डरता है। पर करता यही है। जा रही हूँ। कहानियाँ छोड़े जा रही हूँ। जानती हूँ देख कर लौटा दोगे। और हाँ, मुझ पर कहानी लिख चुको तो दिखाना अवश्य।"

और वह चली गई। जाते-जाते एकाएक दृष्टि मिल गई थी। सच-सच कहूँ। उसके नयनों के कोने भीग आए थे। वह जी जान से उमड़ते आँसुओं को छिपाने का प्रयत्न कर रही थी। और घनीभूत पीड़ा कुण्डली मार-मार कर मुझे जकड़ रही थी और एक नया सत्य मेरी आँखों के आकाश में उभरता आ रहा था।...

तो आदमी 'सुन्दर' को भी छिपा लेता है।...

1961

—5

अन्ततः

उस दिन अचानक ही केशव की रामेन्द्र से भेंट हो गई। कान्स्टीच्यूशन हाउस से एक मित्र को देखकर लौट रहे थे कि रात के अन्धेरे में भी उसने पहचान लिया। फिर तो उसकी बातों का अन्त नहीं था। साथ में इरा भी थी। उसी को लक्ष्य करके सहसा उसने कह दिया—तुमने सुना न कल श्याम की मृत्यु हो गई।

एक बार तो जैसे वे दोनों अनबूझ-से हतप्रभ रह गए। फिर, अनायास ही केशव ने अपना हाथ इरा के कन्धे पर रख दिया। पाया कि वह सिहर-सिहर आ रही है। जकड़ कुछ तेज करते हुए बोला—सच, कब हुई ?

—अभी तो परसों ही मसूरी में हार्टफेल हो गया।

—ओह।

इरा उस सारे समय में कुछ नहीं बोली, सिहरती ही रही। केशव ने दो क्षण बाद फिर एकाएक कहा—बेचारा···अच्छा राम।

और क्लच दबा दिया। इस आकस्मिकता से जैसे वह भी अभिभूत हो गया। मोटर स्टार्ट हुई और वह इतना ही कह सका—अच्छा, सो लौंग, बाई बाई।

सब कुछ जैसे अनचाहा, अनहोना। सारे रास्ते केशव बोला नहीं। बीच में केवल हाथ से इरा का कन्धा दबा देता। बँगले पर पहुँच कर धीरे-धीरे वह उतरी। और जैसे ही अन्दर पहुँची कि टूट कर केशव से चिपट गई—तुम कुछ और न समझना केशव, मैं···मैं क्या करूँ ?

और फिर भीतर से उमड़ती रुलाई रोकने में असमर्थ वह पलंग पर जा पड़ी। सहारा पाते ही बाँध जैसे टूट गया हो। न जाने कब तक रोती रही। केशव की आवाज सुनकर जब एक दम उठी तो रात काफी गहरा चुकी थी। उन्होंने स्विच दबा दिया और उसे बाहों में भरते-भरते बोले—आओ, चोन्नो,

खाना खालो।

रोशनी काफी तेज थी। इरा ने अपराधिनी की भाँति उनकी आँखों में झाँका, कहा—मुझे इस तरह नहीं करना चाहिए था। न जाने मुझे क्या हो गया था। है न बुरी बात।

केशव मुस्करा दिया—जो हुआ वह स्वाभाविक ही था इरा। कुछ और सोचकर मन खराब न करो। आओ।

—चलो।

उनका सहारा लेकर वह बाहर चली गई···

लेकिन अब जब केशव की जकड़ कुछ ढीली हो गई है और उसके भीतर आने वाले का स्वर भी शान्त हो चला है तो उसे लगा कि जैसे हृदय में अदम्य कामना से भरा श्याम का स्पर्श सिहरन पैदा कर रहा है और एक-एक करके अनेक चित्र अनायास ही उभरते आ रहे हैं। लेकिन इन सबके ऊपर होकर उसे विच्छेद वाले प्रसंग की याद हो आई।

× × ×

तार आया है कि कोर्ट ने एप्लीकेशन मंजूर कर ली है। उसी तार को लिए इरा अपने शयन-गृह में बैठी है। मस्तिष्क में तुमुल-नाद उठता आ रहा है। और उसको सह सकने में असमर्थ वह जैसे टूटती जा रही है। लेकिन वह टूटना चाहती नहीं। इसीलिए संघर्ष है कि सहसा अपने को ही ठगती-सी बोल उठती है—वधू का आवरण उतार कर आज मैं फिर कुमारी हुई। कितना माधुर्य है इस शब्द में। कुमारी···कुमारी इरा।

वह हँस आई और शीशे के सामने जाकर खड़ी हो गई। जैसे अपने ही यौवन को परखती हो। 'न, न' वह कह आती है, 'प्रौढ़त्व तो छू भी नहीं गया। पुरुष के स्पर्श से सौन्दर्य में निखार ही आता है। फिर फिर···

साड़ी को कँधे पर से ठीक करते-करते कन्धा उठाकर बाल सँभालने लगी, उसी क्षण श्याम जैसे कानों में कह गया—इरा, इरा, भरे श्यामल मेघ-सी तुम्हारी यह केश राशि, जी करता है इनसे खेलता रहूँ। हाँ, खेलता रहूँ और फिर इन्हीं में मुँह छिपा कर सो जाऊँ।···

सहसा जैसे वह बहुत थक गई हो। फिर सोफे पर आ बैठती है। फिर तार को पढ़ती है और सिर पट्टी पर टिका कर नेत्र मूंद लेती है। उसे सात वर्ष पूर्व की याद हो आई है। हर साँस के साथ यह याद जैसे मुखर होती है और उस रात वह उन्माद और आज की यह मुक्ति। इतना प्यार देकर भी वह मुझे भर न सका। मैं रीती की रीती ही रही। इस रूप पर कितना रीझता था। लेकिन, ओह···

इरा की आँखों के कोने सहज ही गीले हो आए हैं। लेकिन चित्र अभी पूर्ण कहाँ हुआ है। एक दिन उसी इरा ने कोर्ट में अर्जी दी कि श्याम पति होने के अयोग्य है। यह विवाह भंग होना चाहिए।

इरा जैसे सिहर-सिहर आई। लेकिन श्याम भी तो इस बात को जानता था। स्वयं उसी ने तो कहा था—इरा डार्लिंग। सब कुछ कर चुका, तुम्हीं बताओ कैसे होगा।

इरा उदास थी पर ऊपर से मुस्करा कर वह बोली—सब ठीक होगा डार्लिंग। हम इन्तजार करेंगे, ता-कयामत इन्तजार करेंगे।

श्याम हँस आया। वह खोखली हँसी। इरा भय से काँप आई। सहसा श्याम ने ही कहा—इरा। तुम इस विवाह को रद्द करा सकती हो।

इरा के अन्तर के किसी कोने में यही प्रश्न कुंडली मारे बैठा था। लेकिन इस समय जैसे वह अभिनय के लिए कृत संकल्प हो बोली—श्याम! यह क्या कहा तुमने? मेरी ओर देख कर फिर तो कहना।···

श्याम खूब जोर से हँस पड़ा। कितनी भयानक थी वह हँसी। पर वही तो सत्य था। वही सत्य आज तार के रूप में मूर्त होकर सामने है।···

श्याम ठीक नहीं हो सका। श्याम चिड़चिड़ा हो गया। श्याम अधिकार जमाने लगा। अधिकार दुर्बलता का व्यापारिक नाम है। और प्यार है कि अधिकार से घृणा करता है। विसर्जन उसका संबल है और उसकी परिणति है······

नहीं, नहीं, नहीं। प्यार प्यार है। उसकी कोई परिणति नहीं। नहीं होनी चाहिए।···

सहसा उसी क्षण किसी ने बाहर से पुकार लिया—इरा कहाँ हो?

दीदी थी। इसी ओर आ गई। इरा ने शीघ्रता से आँसू पोंछ लिए। द्वार पर आकर बोली—यह रही दीदी।

दीदी हँस रही थी। कहा—पिताजी बुलाते हैं।

फिर सहसा दृष्टि मिली तो चिहुँक उठी—यह क्या, तुम रोई थी? तुम्हारी आँखें अब छलकी अब छलकी। क्यों?

इरा आवेश से हँसी। बोली - न, न, दीदी, मैं तो हँस रही हूँ।

और जैसे दीदी से टकरा गई हो। दोनों कन्धे थाम कर बोली - वह आज फिर बेटी बनी है। बेटी के जन्म पर कभी लोग रोते थे। पर आज तो मंगल वेला है। संगीत का प्रबन्ध करो। मैं आई।

और इरा वहाँ से भागती चली गई। दीदी विमूढ़ विस्मित कुछ निर्णय न कर सकी। कि यह रुदन था या हास्य। उस अट्टहास ध्वनि में उस इरा की कातर-तरल वाणी ही सुनाई दी। लेकिन हर्षातिरेक से भी वाणी

अनुभूति उससे पहले कभी नहीं हुई थी। यह स्पर्श मात्र स्पर्श नहीं था। जैसे प्रेमानन्द मन्दिर-मज्जा के भीतर से होकर उसकी आत्मा में प्रवेश करता हुआ उसे मदहोश कर रहा हो। जैसे जो अमूल्य है, अप्राप्य है वही उस क्षण उसे प्राप्त हो गया हो। उसके नयनों में सुरा छलकती-सी बोली—मैं तो तुम्हारे नयनों में चित्रित रेखाओं को ही देखते रहना चाहती हूँ। बस देखते रहना चाहती हूँ।

जैसे स्वर कहीं खो गया। कई क्षण दोनों उसी तरह खड़े नयनों की भाषा में प्यार की कविता करते रहे। फिर जैसे कहीं विद्युत का प्रकाश चमका हो, टूट कर एक दूसरे से अलग हो गए। केशव ने एकाएक कहा—आओ, बाहर चलें।

मोहाच्छन्न-सी इरा उसके पीछे चलने लगी। कि इरा इरा पुकारते हुए पिता वहीं आ गए। देख कर बोले—ओहो! केशव तुम भी हो।

दोनों ही हठात् काँपे। लेकिन बिना किसी भूमिका के पिता ने कहा—मैं जाना चाहता हूँ।

—कहाँ पिताजी?

—कोई विशेष स्थान नहीं। यों ही; आवारा बनना चाहता हूँ। बन्धनहीन, दायित्वहीन। तुम्हारी माँ नहीं है, दीदी भी जा रही है। तुम भी जाओगी ही। तुम्हारे जाने की मुझे खुशी है।

फिर एकाएक जैसे उस वातावरण को तोड़ते हुए सहसा बोले—और हाँ, समाचार आया है कि उसकी हालत अच्छी नहीं है।

इरा थरथरा आई। कहा—किसकी? श्याम की?

—हाँ। लेकिन वह तो होना ही है। उसकी चिन्ता क्यों? तुम स्वतन्त्र हो। समझदार हो, अपना मार्ग पहचानती हो। तुम से क्या कहूँ? सुखी देखना चाहता हूँ। केशव···जाने दो, केशव के बारे में क्या कहूँगा।

और वह मौन हो गए। इरा और केशव दोनों जैसे स्तम्भित चकित वहाँ थे ही नहीं। पिता जब बोल रहे थे तब भी उनकी दृष्टि एक दूसरे पर नहीं थी। कहीं और थी। श्याम पर थी। श्याम···

इरा एकाएक भावातिरेक से उद्वेलित हो आई। जैसे चीख उठी—नहीं, नहीं। मैं श्याम के बारे में नहीं सोचूँगी। उसके बारे में सोचने का मुझे कोई अधिकार भी नहीं है। उस बन्धन को अपने हाथों से मैंने तोड़ा है और उसके लिए लज्जित भी नहीं हूँ लेकिन···

× × ×

इरा ने एक बार फिर कुछ याद करने की कोशिश की। हाँ, उसे याद

है कि जिन दिनों श्याम की अवस्था निरन्तर गिरती चली गई थी, उन दिनों एक दिन एक पत्र पढ़ते-पढ़ते पिता क्रुद्ध हो उठे। जैसे चीख पड़ हों। —इतना अभिमान। मुझे क्या? मरना ही चाहता है तो मरे।

इरा समीप ही थी। अचकचाकर बोली—कौन मरना चाहता है?

—वही श्याम। कितना अहं है उस···

आगे जो शब्द कहा था इरा उसे सुन कर जैसे घृणा से भर उठी। लेकिन तभी पिता ने वह पत्र उसकी ओर फेंक दिया। यन्त्रवत् एक साँस में वह पढ़ गई।

···अब तक समझता था कि जो कुछ हुआ वह उचित ही था। पर घावों पर नमक छिड़क कर रोगी को तड़फाने की लालसा आपके हृदय में है यह सोच भी नहीं पाया था। दया बहुत सुन्दर शब्द है। कहते हैं संसार इसी पर टिका है। परन्तु तुम्हारी इस दया से मैं कितना त्रस्त हुआ हूँ यह कैसे लिखूं। इरा जानती है कि बहुत पहले मैंने यह बन्धन तोड़ने को कहा था। परन्तु समय आया कि मेरी दुर्बलता जाग आई। उसका कारण बताना नहीं होगा। लेकिन आपकी दुर्बलता का कारण तो खोजे नहीं पा रहा हूँ। कहूँगा दुर्बलता के चक्रव्यूह में न फँसिए। आपका रुपया वापिस आ रहा है।···

इरा स्तम्भित रह गई। बोली—पिताजी! आपने निश्चय ही श्याम का अपमान किया है।

—क्या कहूँ इरा। मैं दुर्बल हो गया था। एक दिन मैंने उसे बेटा जो कहा था। उसी नाते···यह कितनी सरल बात है। वह इसे समझता क्यों नहीं। हम सब दुर्बल हैं दुर्बल।

और पिताजी भर आए। इरा दृष्टि गड़ाकर उन्हें देखती रही फिर चुपचाप वहाँ से हट गई। नेत्रों में एक के बाद एक असंख्य चित्र उभर आए थे। लेकिन वह उनसे बचना चाहती थी। कहीं भाग जाना चाहती थी। लेकिन कहाँ? बहुत धीरे से किसी ने कहा—केशव के पास चल।

वह चौंक उठी—नहीं, नहीं, नहीं,। और फिर दौड़ती हुई अपने कमरे में आकर पलंग पर गिर पड़ी। बाँध एक बार फिर टूट गया। छाती उमड़-घुमड़ आई। उस तूफानी शक्ति के सामने वह विवश हो रही। बहुत देर बाद उसी भावावेश में उसने केशव को पत्र लिखा···

जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो। उसकी शक्ति से मैं अभिभूत हूँ। पिताजी भी चाहते हैं कि हम शीघ्र एक दूसरे के हो जाएँ। होना क्या? मैं तुम्हारी ही तो हूँ। लेकिन एक भीख दोगे? मुझे स्वतन्त्र छोड़

दो। यही अच्छा लगता है। न जाने क्यों एक बन्धन तोड़ कर दूसरे में आना मुझे रुच नहीं रहा। तुम कहोगे तो मना नहीं करूँगी। पर सोचती हूँ अकेली मैं किस-किस की हो सकूँगी।···

× × ×

तीसरे दिन केशव आया। सदा की तरह शान्त, प्रसन्न विहंसता हुआ और इरा थी कि जैसे मुर्झाई, पीली, अन्तर की ज्वाला से झुलसी-झुलसी। मुक्त मन वह बोला—तुम्हारे पत्र का उत्तर स्वयं लेकर आया हूँ। यह संकोच, यह झिझक, इनसे बड़ी कोई दुर्बलता नहीं जान पाता। तुम मुक्त हो, मुक्त ही रहोगी।

पिता वहीं थे। समझ नहीं पाए। हतप्रभ-से देखते रहे। अलस उदास वातावरण में श्मशान-सा सन्नाटा गूँजता रहा। फिर एकाएक केशव ने कहा—यह सन्नाटा मुझे अच्छा नहीं लगता।

और एकाएक बड़े जोर से वह अट्टहास कर उठा। उसकी अनुगूंज से वातावरण देर तक गूँजता रहा। उतनी देर में इरा ने जैसे अपने को पा लिया। पास आकर धीरे से बोली—एक बार श्याम को देखना चाहती हूँ। छोड़ आ सकते हो ?

—हाँ। आ सकता हूँ। लेकिन एक बात मेरी मान लो। आज नहीं।

पिता और भी हतप्रभ हुए—तुम, तुम श्याम के पास जाओगी।

इरा कातर हो आई। बोली—वह मरणासन्न है। एक बार···वह अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाई। वहाँ ठहर भी नहीं पाई। दौड़ती हुई अन्दर चली गई।···अगले दिन केशव ठीक समय पर आ पहुँचा। इरा तब तक अपने को जैसे पा चुकी थी। जैसे अपने ही प्रलाप पर स्वयं लज्जित हो। जैसे रात के अन्धकार में उसने बहुत कुछ देख लिया हो। उसने अनुभव किया था कि जैसे वह रूप की रानी मेरिलिन मुनरो का ही प्रतिरूप है। वह रूप की रानी जिसकी झलक मात्र हृदय में तूफान जगा देती थी। प्रीतम के देश जाते समय वह रीती ही थी। इसीलिए उसने आत्महत्या की थी। मैं भी रीती हूँ, रीती ही रहूँगी। रीती···न, न, यह नहीं होगा। मैं रीती न रह सकूँगी। न रह सकूँगी।···तो लेडी चेटरले···नहीं, नहीं, नहीं।

ठीक इसी क्षण केशव आ गया। बोला—चलो इरा।

इरा ने दृष्टि उठा कर कातर भाव से उसे देखा—सचमुच मुझे वहाँ तक ले जाने का साहस है ?

—तुम साथ में हो तो साहस क्यों नहीं पाऊँगा।

इरा ने एक क्षण अपने को सँभाला। फिर पास आकर उसके वक्ष में जैसे सिमट गई हो जैसे एक धड़कता दिल दूसरे धड़कते दिल को पा गया हो. दृढ़ स्वर में बोली,—नहीं, केशव। अब नहीं जाना होगा।

* * *

सवेरे जब वह उठी तो मन निर्मल था। केशव के गले में बाँह डाल कर बोली—केशव !

केशव मुस्कराया—हुजूर।

—रात भर वह मुझे परेशान करता रहा है। अभी से इतना चंचल है।...

कहते-कहते वह ऐसे भर उठी कि उसकी दीप्ति से केशव उमग आया। बोला—हम लोग आज ही यहाँ से यात्रा पर निकल चलें।

इरा एक क्षण में जाने कहाँ पहुँच गई। उसकी दृष्टि में न थी अलसता न थी उदासीनता, थी एक तरल गम्भीरता। धीरे-धीरे दृढ़ स्वर में उसने कहा—केशव ! यह प्यार, यह दर्द, यह चाह, इन सबमें उलझन क्यों ? सब कुछ सहज क्यों नहीं ?

केशव ने उसे मन भर कर देखा—कितनी सुन्दर, कितनी स्निग्ध सौम्य, पुरुष के स्पर्श से नारी यही सौन्दर्य तो पाती है।

और उस प्रश्न का उत्तर देने के बजाय उसने इरा के मस्तक पर एक प्यार भरा चुम्बन अंकित किया फिर बाहर चला गया।

इरा सचमुच भीग आई, भर आई।

1962

6—

पिचका हुआ केला और क्रान्ति

गाड़ी रुकते ही मैं द्वार पर आया तो जैसे शाश्वत हिम प्रदेश में पहुँच गया हूँ। अंग-अंग में ठिठुरन घुस आई। अंगुलियों को गर्माने के लिए मैंने बार-बार भाप छोड़ी। और वह तुरन्त घने बादल में रूपान्तरित हो गई। तब मैंने सोचा, कि कूपे के भीतर जाकर द्वार बन्द कर लेना ही उचित है। पर तभी देखता हूँ कि हमारे मिस्टर सिंह तेजी से मेरी ओर बढ़े आ रहे हैं। बड़े से भारी ओवर कोट में शरीर को ढके और कालर में मुँह छिपाये वे ऊँचे स्वर में बोले, "मैं जानता था कि तुम आओगे। कैसा भी भयानक शीत तुम्हें वचन-भंग का दोषी नहीं बना सकता।"

फिर उसी तीव्रता से मेरा हाथ झकझोरते हुए कहा, 'लेकिन यह तो तुम मानोगे कि हम सचमुच भाग्यशाली हैं।'

मैंने हँस कर कहा, अवश्य मानूँगा सिंह साहब। भाग्य सदा तुम्हारी कृपा का पात्र रहा है।'

'और रहेगा भी। तुमने आज का अखबार देखा है? उसमें लिखा है कि आजकल जितनी सर्दी पड़ रही है उतनी पिछले सौ वर्षों में भी नहीं पड़ी थी। सोचो तो, सौ वर्ष बाद यानी चार पीढ़ियों बाद के हम इस अभूतपूर्व शीत को जी रहे हैं जो मानव के रक्त को हिमानी में रूपान्तरित करने की क्षमता रखता है।'

और कह कर वे अनायास ही ठहाका मार कर हँस पड़े। अक्सर उनके इस तीव्र हास्य से काफी हाउस गूँजा है। और "मैनेजर भागे-भागे हाथ जोड़ते आए हैं। पर आज तो जैसे इस हास्य ने हमें गर्मी दी। हिमानी के परस से ठिठुरी वायु भी जैसे क्षण भर के लिये ऊष्ण हो उठी। और वह प्रशस्त पर निर्जन प्लेटफार्म गूँज गूंज उठा। बोले, 'शीतकाल की यह सुनहरी धूप

आज कैसी उदास-उदास है। जैसे नई दुल्हन का प्रीतम लुट गया हो। देखो, कोई भी काली, सफेद या नीली वर्दी वाला अधिकारी प्लेटफार्म पर नहीं है। रात भर रोदन करने वाले कुत्ते तक नहीं दिखाई देते। साले कहीं गर्मी की तलाश में कोनों में घुसे होंगे। बाहर जाकर देखो तो सड़कें और खेत सब पर सफेद पाला जमा हुआ है। अच्छा आओ, पहले चाय पी लें। चिंता न करो, गाड़ी यहाँ पानी लेगी। शीत रक्त को जमा सकता है। पर प्यास नहीं बुझा सकता।'

और मेरे उत्तर की चिन्ता किए बिना वे आगे बढ़ गए। बर्फीली हवा से ठिठुरी पीली-पीली धूप से भरा वह विस्तृत प्लेटफार्म सचमुच जनाकीर्ण था। दो-चार यात्री ही साहस करके चाय की तलाश में बाहर आये थे। नहीं तो उस चीखती सनसनाती तेज हवा ने सारी ताजगी को सोख लिया था और सब कुछ शापग्रस्त पाषाणी अहिल्या की तरह मूक और श्रीहीन था। हाँ, उस ओर एक ढलती उम्र की एकाकी ग्रामीणा अपनी पुटलिया के सहारे सिमटी सहमी-सी ऐसे खड़ी थी जैसे कोई तिरस्कृत प्रतिमा। कुछ दूर पर इंजन की राख से कोयले बटोरने वाले तीन अर्द्ध नग्न बच्चे हाथों को कसकर छाती में समेटे चित्र-लिखे से घूम रहे थे। एक ने लंगोट के ऊपर शत शत छिद्रों वाला एकमात्र जालीदार स्वेटर पहना था। दूसरे के बदन पर एक जीर्ण-शीर्ण कमीज थी और तीसरा जो अपेक्षाकृत लम्बा और काला था, आधी बाहों का कुर्ता पहने था। नहीं मालूम ऐसी रातों से सिर छिपाने के लिए उनके पास कोई गरम कोना भी है या नहीं या वे बेघरबार खाना-बदोशी की जिन्दगी बिताते हैं।...

तभी सहसा मेरी दृष्टि शैड के नीचे अपनी पूर्व परिचिता ओवर-कोट और शाल धारण किए एक भूतपूर्व महिला एम० पी० पर पड़ी। मुझे देख कर मुस्कराती हुई वह मेरी ओर आ रही थी। स्वाभाविक था कि मैं भी शिष्टाचार का पालन करता।

और इसी 'आप कैसे हैं।' कहाँ से आ रहे हैं।' इस भयंकर शीत में कहाँ जाना है?' 'मैं तो जमी जा रही हूँ।' पिछले वर्षों में ऐसी सर्दी नहीं पड़ी।' के प्रेमालाप में पाँच-सात क्षण बीत गए कि इसी बीच में अचानक एक दुर्घटना घट गई। क्या देखता हूँ कि बेंच के पास खड़ी वह एकाकी बुढ़िया काल मूर्ति बनी पैर के जूते निकाल कर कोयले वाले एक लड़के के पीछे भाग रही है। और जोर-जोर से गाली दे रही है। भागता हुआ वह सहसा मुड़ा और उसने वह औरत का फेंका हुआ जूता उठा लिया। फिर दाँत किट-किटा कर उसी पर दे मारा और भाग चला ऐसे जैसे गति में तूफान

भर गया हो। वह स्त्री जूता खा कर और भी तीर-सी झपकी। और मुझ तक पहुँचते न पहुँचते उसने लड़के को पकड़ लिया। और फिर क्रुद्ध बाघिनी की तरह धौड़ी के उस मोटे-से जूते से जिसमें लोहे की नाल जड़ी हुई थी उसे पीटना शुरू किया। छाती. सिर, मुँह जहाँ भी संभव होता, जूते की चोट पड़ती थी। वालक 'हाय मैया', 'हाय मैया' चीखता रहा। वातावरण गूँजता रहा। और सभी यात्री खोये-खोये से निःसंग भाव से उस करुण गुहार को अनसुना करके उधर देखते भर रहे। जैसे वे शब्द उनके कानों में प्रवेश हीं नहीं कर रहे थे। केवल क्रूरता का सम्मोहन ही उनकी दृष्टि को अपनी ओर खींच रहा था। उस दिन जान पाया कि क्रूरता का संमोहन कितना सर्वग्रासी होता है। वास्तव में यह सव इतनी क्षिप्रता और इतने नाटकीय ढंग से हुआ कि इससे पूर्व कोई कुछ समझ पाए वालक काफी चोट खा चुका था। तव नीली वर्दी पहने एक खलासी ने उस क्रुद्ध वाघिन का हाथ रोक लिया।

वह स्त्री मानो इसी की राह देख रही थी। तुरन्त उसे छोड़कर वकती झकती फिर वेंच पर अपनी पुटलिया के पास चली गई। और वह वालक सिसकता-लंगड़ाता एक खम्भे के पीछे जा खड़ा हुआ जहाँ से वह अनदेखे ही कहर भरी दृष्टि से उस औरत को देख सकता था। उसका कुर्त्ता जगह-जगह से फट गया था। उसके दाँत वज-वज उठते थे। और स्थान-स्थान पर नीला पड़ा उसका सारा शरीर काँप-काँप जाता था। शेष दोनों वालक पूर्वतः हाथों को छाती में समेटे-सिकुड़े खाली-खाली आँखों से कभी उस औरत को देखते, कभी अपने साथी को।

मिस्टर सिंह पूर्वतः वोले चले जा रहे थे, मानो उन्होंने इन कोयला चोर वालकों और उस काल मूर्ति औरत की ज़हालत पर थीसिस लिख रखा हो। पर मैं न जाने क्यों खिन्न-सा उस दमघोटू ठण्डे वातावरण से मुक्ति पाने के लिए अपने कूपे की ओर लौट पड़ा। शरीर इतना सुन्न हो गया था कि हिलाते-डुलाते दर्द होता था। छोटी-सी नाव को सहसा किसी नई लहर का धक्का लग जाए ऐसी मेरी स्थिति थी। कुछ कह नहीं सकता था। पर दम जैसे घुट रहा था। विशेपकर इसलिये कि मिस्टर सिंह वोले चले जा रहे थे, 'जाहिल ! वदतमीज ! लड़के को मार डाला इत्यादि।'

यहाँ से मिस्टर सिंह को मेरे साथ ही उसी कूपे में सफर करना था। हमारे अतिरिक्त उस कूपे में लोक सभा के एक वयोवृद्ध सदस्य थे। दो उनके भांजे थे। वे किसी पवलिक स्कूल में पढ़ते थे। तेरह-चौदह वर्ष का वड़ा लड़का सारे रास्ते पैरी मेंशन के उपन्यास पड़ता रहा था। और छोटा फलों की टोकरी की खरपच्चियाँ निकाल-निकाल कर नाना ग्रहों को राकेट भेजने

में संलग्न था। और धारा-प्रवाह अंग्रेजी बोले जा रहा था, लो मामा मेरा राकेट वीनस की ओर चला। मामा, मून पर तो अब आप भी जा सकते हैं। लेकिन मामा, मार तक जाने की ताकत किसी में नहीं, न अमरीका में और न रूस में...

और बोलते-बोलते वह चंचल बालक कभी बड़े भाई के चियूंटी काट लेता था कभी मामा को गुदगुदा देता था। मानो बार-बार दृष्टि उठा कर देखते मुस्कराते और फिर कोई थ्रिलर या पबलिक एकाउण्टस कमेटी की रिपोर्ट पढ़ने में व्यस्त हो जाते। सहसा उन्हें याद आता है तो बच्चों को कुछ खाने को देते हैं। कभी संदेश कभी सेब, जब छोटे भांजे का राकेट मार की ओर चल पड़ा तब उन्होंने एक एक केला दिया। बड़े बच्चे ने उसे छील कर खा लिया। छोटा उसे देखकर मुस्कराया फिर चुपके से बड़े भाई के ठीक पीठ के नीचे रख दिया। दो क्षण बाद जैसे ही भाई ने पीठ दीवार से लगाई वह केला पिचक गया। तब उसे हाथ में लेकर छोटा भाँजा हँसा, 'देखो मामा मरा हुआ चूहा। उसे देखकर भाई भी हँसा, मामा भी हँसे, बोले, 'शैतान रख दे इसे, अब मत खाना।'

यह सब गाड़ी के प्लेटफार्म पर आने से पूर्व ही घट चुका था। जब उस दुर्घटना के बाद हम कूपे में आए तो मामा ने भाँजे से कहा, 'अरे देखो यह केला उस लड़के को दे दो, जो रो रहा है।'

नहीं कह सकता, उस घायल बालक ने उनकी करुणा को जगा दिया था। या उन्हें उस पिचके केले से मुक्ति पानी थी जो हम सभी को मरे चूहे की याद दिला रहा था।

बड़े भाँजे ने जब उस घायल बालक को पास बुलाकर केला दिया, तो मामा ने उससे कहा, 'जाओ, तुम खा लेना। और किसी को मत देना। अच्छा।'

और वह लड़का जिस का अंग-अंग ठंड और चोट के दर्द से टीस रहा था और जो स्वयं उस केले की तरह कुचला हुआ-सा लग रहा था वहाँ से हट कर खंभे के पास जा खड़ा हुआ। शेष दोनों बालकों ने उसे देखा, पिचके हुए केले को देखा, और फिर कई क्षण देखते रहे। धीरे-धीरे उनके नेत्रों में चमक आती गई। मुख की भाव भंगिमा भी बदली। मानो कुछ गर्मी मिली। अंत में वे सरकते-सरकते उसके पास आ खड़े हुए मौन एकटक केले पर दृष्टि गड़ाए। उस औरत ने भी उस केले को देखा, उन बच्चों को भी देखा जैसे ही वे पास आकर खड़े हुए वह आँधी की तरह उधर ही झपटी। जैसे उस कुचले हुए केले को छीन लेगी। मेरी साँस आधी ऊपर और आधी नीचे पर

देखता हूँ, कि वह बिल्कुल पास से निकली चली गई। बोली, 'जब पिट रहा था तब नाश पिट्टे हिले तक नहीं। अब केला देखा, तो आ गये लूटने हरामजादे, कुत्ते। खबरदार जो उसे छुआ।'

सी-सी करता हुआ नीली वर्दी वाला खलासी पास से जा रहा था। सुनकर एकाएक अट्टहास कर उठा। बोला, इस पाले में मार-मार कर बेचारे की हड्डी-पसली एक कर दी जंगली औरत ने। और अब हमदर्दी जताती है।'

तड़प कर उसने गरदन घुमाई और उत्तर दिया, 'रहने दे रहने दे, माँ बेटे को इसलिए नहीं मारती कि उसके चोट लगे। कोयला चोरों के साथ फिरने लगा था। जरमाना जेल तू भुगतेगा, दाढ़ीजार।'

और तेज-तेज कदम रखती हुई वह जाहिल औरत दूर चली गई। उस ओर से अनभिज्ञ राकेट उड़ाते-उड़ाते उन एम० पी० महोदय के छोटे भांजे ने बड़े करुण स्वर में कहा, 'मामा इनके माँ-बाप इन्हें स्कूल क्यों नहीं भेजते ? इन्हें खाने को क्यों नहीं देते। इन्हें पहनने को कपड़े क्यों नहीं देते।'

मामा बोले, 'ये लोग गरीब हैं।'

वह बोला, 'गरीब तो हमारी आया भी है। पर उसके पास तो चाँदी के गहने हैं।'

मामा ने पी० ए० सी० की रिपोर्ट पर से दृष्टि उठाकर कहा, 'वह तो हम लोगों की कृपा से है। अब तुम ही उसके लिए चाँदी की ब्रूच ले जा रहे हो।'

छोटे भांजे ने ब्रूच को जेब से निकाल कर उछाला, हँसा, और कहा, 'मामा, क्यों न सब गरीबों को मून पर भेज दिया जाए।'

उसकी इस मूर्खता पर मामा और बड़े भाई खूब हँसे। भाई ने कहा, 'वहाँ तो बहुत अमीर लोग ही जा सकते हैं। गरीब कैसे जा सकते हैं।'

मामा बोले, 'हम भी नहीं जा सकते। और ये लोग तो बेहद जाहिल हैं। असल में प्रकृति जिनको जैसा बनाती है वैसे ही वे रहते हैं। उससे अधिक की आशा करना बेकार है। फिर भी हम उनकी गरीबी दूर करने की कोशिश में लगे हैं।

यह सब शायद उन्होंने हमें सुनाने के उद्देश्य से कहा था। छोटे भांजे ने जो फिर राकेट भेजने की तैयारी में व्यस्त हो गया था कुछ उत्तर दिया, पर वह मैं सुन न सका। क्योंकि तभी गाड़ी ने सीटी दी और मैंने देखा, मिस्टर सिंह नीचे उतर कर तेज़-तेज़ कदमों से बालकों की ओर जा रहे हैं।

और उनके हाथ में एक स्वेटर है। मैं हतप्रभ उन्हें पुकारूँ कि वे स्वयं ही लौट पड़े।

गाड़ी रेंग रही थी। प्लेट फार्म पीछे छूट रहा था। वे तीनों बच्चे अभी भी चित्र लिखे-से खड़े थे। घायल बालक के हाथ में वह कुचला हुआ केला था। और शेष दोनों ललचाई दृष्टि से उसे देख रहे थे। सहसा मुझे अमृता शेरगिल के सुप्रसिद्ध चित्र 'तीन बहनें' की याद आ गई। ये तीन बालक थे इनके बीच में एक मरा हुआ चूहा भी था। तब से जमाना भी तो कितना आगे बढ़ा है। जैसे ही गाड़ी ने गति पकड़ी क्षितिज पर मात्र मरे चूहे का ही चित्र रह गया। मानों वे सब मरे हुए चूहे थे और जोर-जोर से बोलने वाले मिस्टर सिंह धीरे-धीरे बुदबुदा रहे थे—'हे प्रभो, हम मूर्खों को क्षमा करना। नहीं जानते हम क्या कर रहे हैं। स्वेटर उन्हें देकर मैं क्रान्ति को रोकने जा रहा था। कितनी बुरी बात थी। असल में हम पुराने लोग...

गाड़ी की तेज आवाज में फिर मैं अपने अतिरिक्त किसी और की आवाज नहीं सुन सका। बन्द कूपे के भीतर भी रह रहकर एक बर्फीली सिहरन मेरे शरीर में दौड़-दौड़ जाती थी।

1964

—7

एक और दुराचारिणी

कई दिनों से शरबती मेरे मन और मस्तिष्क पर छाई हुई है। नहीं जानता, उसके माँ-बाप ने उसका नाम रखते समय उसकी आँखों में झाँका था। वे सचमुच शरबती थीं। श्यामवर्णी शरबती की वाणी बुन्देलखण्ड की सहज मिठास से छलछलाती थी। कभी-कभी मुझे लगता था, वह इतना काम कैसे कर लेती है! पर वह जितनी कोमल-मधुर है, उतनी ही परुष कठोर भी।

सोचते-सोचते पाता हूँ कि शरबती आँखों में उभर आती है रोज़ देखता हूँ कि तेज़-तेज़ कदम धरती दूध लाती है, काँछा बाँधे घर बुहारती है, एक वस्त्र पहनकर खाना बनाती है, बेबी को हँसाने के प्रयत्न में स्वयं भी हँसती है और फिर फूट-फूटकर रो पड़ती है। लेकिन इसके पूर्व कि कोई उसके आँसुओं को देख सके, वह उन्हें सुखा देती है। परन्तु शरबती आँखों में पड़े वे लाल डोरे उसके छलको प्रकट कर ही देते हैं। और तब उनके पीछे से झाँकती वेदना मुझे चीर-चीर देती है।

शरबती रोती क्यों है? क्योंकि गत वर्ष उसके दोनों बच्चे दस दिनो के भीतर ही भीतर चेचक का शिकार हो गए थे, क्योंकि उसका पति शराब पी-पीकर निकम्मा हो गया है, क्योंकि उसकी ज़ालिम सास उसे पीटने के लिए बेटे को शराब पीने को प्रोत्साहित करती है।

वे सभी शराब पीते हैं और शायद उनकी औरतें पसन्द भी करती हैं, क्योंकि पिछले वर्ष पति को लेकर वह उसके पास आयी थी और शिकायत करते हुए कहा था—'मैं कहती हूँ, मैं शराब पीने को मना नहीं करती पर इतनी पियो जितनी झेल सको। पी-पीकर अपने को गलाने से क्या फ़ायदा!'

या वह किसी के साथ भाग गई है ?

यह विचार आते ही मन के अन्तराल में सुख की लहर-सी दौड़ गई— उसी प्रकार जिस प्रकार दादी के मुख से दैत्य के महल में क़ैद राजकुमारी की मुक्ति की कहानी सुनकर खुशी होती थी। शरवती वही राजकुमारी है पर राजकुमार कौन है···?

सहसा कल्पना लोक से नीचे उतर आना पड़ा : मृणाल के वानप्रस्थी स्वरका लक्ष्य इस समय शरवती बनी थी। तेज़-तेज़ क़दम मेरे पास आकर वह बोली—"ज़रा पूछिये इस शरवती से, अब तक कहाँ थी ?"

मैंने दृष्टि उठायी तो पाया, शरवती खड़ी है—भावशून्य, त्रस्त। मैंने धीरे से कहा—"शरवती, देखता हूँ, कई दिनों से सन्ध्या को तुम देर से आती हो, यह ठीक नहीं है। ज़रा ध्यान रखा करो। अच्छा, जाओ।'

शरवती उसी क्षण मुड़ गई। और मैंने अनुभव किया कि मृणाल की आग्नेय दृष्टि उसे भस्म किये दे रही है। अन्दर चली गई तो उसने मुझ से कहा—'मैं नहीं समझती थी कि तुम मेरा इस तरह अपमान कर सकोगे। मैं उसे किसी भी शर्त पर घर में नहीं घुसने दूँगी।'

मैं तब भी अपनी झुँझलाहट छिपा गया। मुसकराकर बोला—'सुनो, मृणाल, कहीं न कहीं हम सब दुराचारी हैं। मेरे बारे में क्या तुमने कभी कुछ नहीं सुना ?'

किंचित क्रुद्ध, किंचित व्यंग्य से मृणाल बोली—'रहने दो अब उन बातों को ! अपनी प्रसिद्धि का बखान सुनकर क्या करोगे !'

'कभी-कभी सुनने में अच्छा लगता है—विशेषकर अपनी पत्नी के मुख से !'

मृणाल मुसकरायी—'देखो जी, अब तुम वह नहीं हो जो मेरे आने के पहले थे।'

'तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है ?

'मेरी आँखें।'

वह मुसकरायी। पर मुझे इस दावे से सुख नहीं मिला। अपनी पराजय ही अधिक लगी। फिर भी कहना पड़ा—'तुम ठीक कहती हो।'

मृणाल गर्व से बोली—'इसीलिए तो मैं कहती हूँ कि मेरी आँखें धोखा नहीं खा सकतीं। उस दुराचारिणी को अब जवाब देना ही होगा।'

नारी जब गर्व करती है तो उसका सौन्दर्य म्लान पड़ जाता है। अपनी पराजय के कारण मैं तब सुखी नहीं हो सका। किसी तरह साहस बटोरकर मैंने धीरे से कहा—'अच्छा।'

मनका भय मुख पर ही नहीं, अंग-अंग में प्रकट हो चला था। उस समय वह और भी सघन हो उठा जब सन्ध्या को मैंने मृणाल को भ्रमण के लिए तैयार पाया। उसके नयनों में ऐसी दीप्ति थी जैसी शिकारी के नयनों में शिकार को पा जाने के बाद होती है। सान्ध्य वनश्री की शोभा सी उसकी साड़ी, कर्णीकार के पुष्पों से उसके कुण्डल, दिन भी पलाश के फूलने के थे। शीघ्र ही हम नव निर्मित कुजों से होकर उषा घाटी की ओर जा निकले। उधर तेंदवे, जंगली सूअर, स्वर्ण मृग, सभी आते हैं। पर अभी अन्धकार दूर था और राजमहल तक पहुँचने तक वन-पशुओं के उधर आ निकलने की आशा नहीं थी। नदी में जल भी कम था—विशेषकर संगम के पास। बुन्देलखण्ड की नदियाँ बहुत उग्ररूपा नहीं हैं। चंचल किशोरी के समान क्रीड़ा कौतुक में उनकी विशेष रुचि है। उस समय उन वन प्रान्त में शान्ति थी। केवल चिड़ियों का कण्ठ संगीत और नदियों का कलकल वाद्यवृन्द शोभा के समताल को पुलक से भर रहा था। मुग्ध मन मैंने कहा—'आओ, मृणाल, कुछ देर यहीं पर बैठेंगे।'

मृणाल बोली—'न, आज नहीं। मुझे उधर रामप्रसाद वनरखे से कुछ काम है।'

'तो'...

'वह अब यहीं रखवाली कर रहा होगा।'

'पर उसे तो मैं कल घर पर बुला सकता हूँ।'

'नहीं...नहीं, मुझे अभी एक आवश्यक काम याद आ गया है। चलिये, फिर अँधेरा हो जायेगा।'

सवेरे की पराजय के प्रभाव से अभी से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हुआ था। यन्त्रवत उसी ओर बढ़ गया। मन में क्रोध था पर मैं नहीं चाहता था कि मुझ पर कोई यह लाँछन लगाये कि मैं अपनी पत्नी पर और उसके माध्यम से नारी मात्र पर अत्याचार करता हूँ।

वनरखे की चौकी सामने दिखाई देने लगी थी। पास जाकर पाया कि वहाँ कोई नहीं है परन्तु कहीं से किसी के बातें करने का स्वर वहाँ ऐसे गूंज रहा है जैसे कोई दो व्यक्ति बहुत धीरे-धीरे पर व्याकुल व्यग्रता से बातें कर रहे हों। मृणाल मुस्करायी, बोली—'सुनो!'

अनजान बनकर मैंने कहा—'क्या?'

'अपनी शरवती की वाणी!'

मैं एकाएक आपाद मस्तक सिहर उठा। यन्त्रवत मेरी दृष्टि मृणाल के मुख पर घूम गई। वह अब पूर्ण शान्त थी। और चीते की तरह मौन मन्थर

गति से स्वर की दिशा में बढ़ रही थी। मोहग्रस्त-सा मैं तब भी वहीं खड़ा रहा। परन्तु तभी उसने मुड़ कर मुझे आने का संकेत किया। और मैं सहज भाव से अगले ही क्षण नाले के ऊपर जाकर खड़ा हो गया। झाँककर क्या देखता हूँ कि नीचे एक बड़े से पत्थर पर बनरखा रामप्रसाद बैठा है और उससे बिल्कुल सटी, कहना होगा उसके वक्ष पर झुकी, शरबती बैठी है। वस्त्रों का ज्ञान नहीं, तनका ज्ञान नहीं, बस भावाकुल भीगे नेत्रों से एकटक रामप्रसाद के मुख को देखती हुई धीरे-धीरे कुछ कह रही है। उस शान्त प्रदेश में वे शब्द नियन्ता की वाणी की तरह मेरे हृदय में सीधे प्रवेश कर जाते हैं। पहचान सकता हूँ, यह शरबती का स्वर है। कोमल-मधुर। 'नहीं, मैं अब उसके बच्चों की माँ नहीं बनना चाहती। माँ बनना और फिर गला घोंट देना…वह मेरा ही गला क्यों नहीं घोंट देता!

अब रामप्रसाद का स्वर है। उसने शरबती के क्लान्त त्रस्त शरीर को अपनी बलिष्ठ भुजा से दबा लिया है। कहता है—'इतनी दुखी मत हो, यह सब तो भगवान की माया है!'

'भगवान क्या इतने क्रूर हैं?'

मौन।

''बोलो?'

'नहीं, भगवान क्रूर नहीं होते पर…'

'न, न, मैं नहीं मानती…मैं नहीं मानती।'

फिर एक क्षण मौन रहा। पाया, शरबती रो रही है। बनरखा ने धीरे से उसका मुख ऊपर उठाकर उसके आँसू पोंछ दिये और…

तभी वह एक झटके के साथ उठ खड़ी हुई। व्यग्र-सी बोली—'ओह, देर हो गई! बीबी जी आज फिर नाराज होंगे!

यह फिर बनरखे का स्वर है—'न, न, दो क्षण और बैठो। तुम्हारी बीबी जी क्या तुम्हारे दुःख को नहीं पहचानतीं?'

पहचानती हैं। फिर भी देर होने पर नाराज़ तो हुआ ही करती हैं। नहीं। अब जाने दे। कल आऊँगी।'

'सुन, तू उसे छोड़ क्यों नहीं देती?'

यह शरबती का स्वर है—'तब उसकी माँ ही उसे मार डालेगी!'

'तो मरे!'

'नहीं…नहीं, वह मुझे ब्याहकर लाया है।'

'मार डालने के लिए तो नहीं।'

यह फिर शरबती का स्वर है—'मेरी कुछ समझ में नहीं आता। मैं

तुम्हें चाहती हूँ। तुम्हारे पास मुझे दो क्षण का सुख मिलता है। मैं उसे भी छोड़ नहीं पाती···।'

और फिर एकाएक उससे सट गई। उसकी शरबती आँखों में उन्माद-सा छलक पड़ा। मुझे जैसे किसी ने पीछे पकड़कर खींचा हो। मुड़कर देखता हूँ, मृणाल दूसरी ओर देखती हुई मूर्त्तिवत खड़ी है। उसका चेहरा राख हो गया है। वह जल्दी-जल्दी मुझे खींच रही है। सड़क पर पहुँचकर ही संज्ञा लौटी। पुकारा—'मृणाल !'

अब मृणाल ने दृष्टि मेरी ओर घुमायी। देखता हूँ, आँखों से आँसू झरे जा रहे हैं। एकाएक सोचता हूँ, क्या ये शरबती की आँखें ही नहीं हैं ?

1964

●

'तब शायद मेरे समझने में भूल रह गई थी अकसर उस के साथ देखा था। कितनी ही बार घर भी आई थी। इस उम्र में कोई यों ही तो घूमता नहीं। तुम से भी तो मिलाया था। उस दिन तुम कितनी नाराज हुई थीं, पर मैंने तो उसे पूरी छूट दे रखी है। न भी दूँ तो वह लेगा। सभी लेते हैं। मैं उसे विद्रोही नहीं बनने देना चाहता। यों बेटे किसी न किसी समय विद्रोही होते ही हैं। 'एंगरी यंगमैन' वाला सिद्धान्त गलत नहीं है। मैंने भी तो जिद करके तुम्हें पसंद किया था।'

दीपा व्यंग्य से हँसी, 'जी हाँ, पसंद किया था। किसी लड़की से मिलने का तुम्हारा पहला ही अवसर था। पहली ही बार में चित हो गए थे।'

प्रोफेसर भी हँसे और खुशामद के स्वर में बोले, 'तुम थीं ही ऐसी। और अब भी तुम्हें कौन चवालिस वर्ष की बतायेगा ! ऐसी लगती हो···'

'अब रहने दो ठकुरसहाती। मुझे सच बताओ क्या यह शादी होगी ?'

'मैं तो यही समझता हूँ और आज मैं उस से कहने वाला भी हूँ कि वह अब शादी कर ले। मधुमिता हर तरह से योग्य है।'

'पर मैं उसे योग्य नहीं समझती।'

'उस दृष्टि से तो मैं भी नहीं समझता। पर देखो दीपा, अपने एक ही लड़का है। सब प्रकार से योग्य ऊँचे पद पर है। शादी-विवाह हमारी रुचि से तो वह करेगा नहीं। वही करेगा जो वह चाहेगा। इसलिए तुम उस से कुछ मत कहना। मधुमिता से प्यार से बातें करना। उखड़ी-उखड़ी न रहना।'

'मैं क्यों रहूँगी उखड़ी-उखड़ी ? पर मैं जिस बात को अच्छा नहीं समझती, नहीं समझती। किसी की खुशामद भी मुझ से नहीं होती। तुम से होती है तो करो। मैं माँ हूँ।'

सुभाष की आँखों में एक अद्‌भुत चमक उभरी। धीरे से कहा, 'माँ का काम तो तुम कर चुकीं, अब जन्म भर माँ बने रहने का युग बीत गया दीपू !'

दीपा सहसा शिथिल हो आई। दीर्घ निःश्वास के साथ इतना ही कहा, 'चाय ले आती हूँ।'

प्रोफेसर क्षण भर मौन दीपा को उठते और अन्दर की ओर जाते हुए देखते रहे। सोचते रहे—आदमी क्यों सहज भाव से अरमान संजोता चला जाता है ? रुक कर सोचता क्यों नहीं ? दूसरा पक्ष देखता क्यों नहीं ? क्यों नहीं मानता कि···सहसा द्वार पर खटका हुआ। तुरन्त पुकार कर उन्होंने कहा, 'दीपा, वे आ गये, साथ-साथ ही चाय पीएँगे'

दो क्षण बाद अन्दर से दीपा ने और नीचे से सुनील ने वहाँ प्रवेश किया। वह अकेला था। एक क्षण प्रोफेसर ने किसी और के पदचाप की राह देखी। फिर पूछा, 'मधुमिता कहाँ है।'

सुनील ने हठात पिता की ओर देख कर कहा, 'मधुमिता ?'

'हाँ, वह तुम्हारे साथ आने वाली थी !'

'किस ने कहा ?'

सुभाष इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं थे। हतप्रभ से दीपा की ओर देखने लगे—मानो कहते हों, 'अब तुम्हीं कुछ कहो न !' दीपा ने मौन रह कर उत्तर दिया—'अपने आप ही न जाने क्या ताना-बाना बुनते रहते हो। अब भुगतो। बताओ किस ने कहा है ?' सहसा प्रोफेसर उधर से गरदन घुमा कर बोले, 'बात यह है कि कुछ देर पहले मैंने तुम दोनों को साथ-साथ देखा था। सोचा…'

सुनील ने एक बार वितृष्णा से जासूसी करने वाले अपने पिताजी को देखा। फिर माँ से कहा, 'मेरा सामान तैयार है ?'

'हाँ।'

'तो मैं अभी जाऊँगा।'

वह अन्दर की ओर मुड़ा। प्रोफेसर स्नेह से बोले, 'चाय भी नहीं पीओगे, बेटा ?'

'मधुमिता के घर पी आया। मुझे अभी जाना है। कार से जाऊँगा।'

प्रोफेसर मुसकराये। बोले, 'मधुमिता भी साथ जा रही है ?'

सुनील का अन्तर जैसे उबल उठेगा। लेकिन ऊपर से उसी तरह शान्त, पर प्लुत स्वर में उस ने कहा, 'जी…'

'देखो सुनील, 'प्रोफेसर ने उस ओर ध्यान दिये बिना प्रफुल्लित स्वर में कहा, 'यह नहीं सोचा था कि मुझे ही सब कहना होगा। तुम सयाने हो। सब प्रकार से योग्य हो। अब तुम्हारी माँ कहती है और माँ ही क्या मेरी भी इच्छा है…'

लेकिन वे वाक्य पूरा कर पाते कि उन्होंने पाया सुनील कमरे में नहीं है। दीपा उन्हें देख कर मुसकरा रही है। कैसी है यह दीपा, आजकल जैसे हो ही नहीं। जीवन से असम्पृक्त, उदासीन, निस्संग—इसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। कछुए की तरह खोल में मुंह छिपाये रखती है। तभी सुनील ने बाहर आते हुए कहा, 'अच्छा डैडी, मैं जा रहा हूँ। पंद्रह-बीस दिन लग सकते हैं। ममी नमस्ते।'

'नमस्ते,' उत्तर दिया प्रोफ़ेसर ने। फिर कहा, 'दीपा चाय ले आओ। मैं जानता था···'

दीपा ने कहा, 'चाय रखी है।'

'ओहो, बैठो।'

आधा प्याला समाप्त करने के बाद कुछ कहने को दृष्टि उठाई तो देखा दीपा वहाँ नहीं है। खीझ उठे, 'कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। समझते हैं जैसे मैं हूँ ही नहीं। और सच भी है, मैं हूँ ही कहाँ?'

सोचते-सोचते उठे और बाहर जहाँ दीपा खड़ी खिलौने बनते देख रही थी वहीं जा कर बोले, 'चाय नहीं पी?'

'पी तो रही हूँ,' कहते-कहते दीपा ने हाथ का प्याला उनकी ओर बढ़ा दिया। फिर कहा, 'कितनी मेहनत करते हैं ये लोग। गाली देना, शराब पीना तक भूल जाते हैं।'

'हाँ दीपा, निर्माण का आनन्द ऐसा ही सर्वजयी होता है।'

'निर्माण का आनन्द! दीपा फुस-फुसायी और अन्दर की ओर मुड़ती हुई बोली, 'दो दिन बाद सब कुछ बेच कर ये फिर शराब पीयेंगे और मार-पीट करेंगे।'

प्रोफ़ेसर स्वभाव के अनुसार लम्बा भाषण देने के मूड में आने ही वाले थे कि नीचे से रेशमा ने पुकार लिया, 'बहिन जी हैं क्या?'

और यह कहती-कहती हाथ पर बड़ी टोकरी संभाले वह ऊपर आ गई। बोली, 'लो बहिनजी, दो-चार खिलौने ले आई हूँ। तुम्हें अच्छे लगते हैं न!'

प्रोफ़ेसर और दीपा दोनों एक साथ टोकरी पर झुके, 'अरे, इतने खिलौने! कितने के होंगे?'

'अए हाए, जैसे मैं बेचने आई हूँ! दीवाली साल में एक बार ही आती है, प्रोफ़ेसर साहब!'

'और एक बार ही तुम खिलौने बनाती हो।'

रेशमा फिर हँसी, 'तभी तो कहती हूँ, ये दीवाली की भेंट है।'

दीपा ने कहा, 'हाय, ये छोटे खिलौने कितने सुन्दर हैं!',

प्रोफ़ेसर बोले, 'सच, जैसे अभी बोल उठेंगे।'

रेशमा फिर हँसी, 'प्रोफ़ेसर साहब, ये बोल पड़े तो मुसीबत आ जायेगी। बिकने से इनकार कर देंगे और हमें भूखों मरना पड़ेगा।'

हठात प्रोफ़ेसर ने दीपा को देखा, फिर रेशमा को देखा। पाया कि वह

नीचे उतरती जा रही है और दीपा एकटक उन खिलौनों को देख रही है। और उसकी आँखों से आँसू झर रहे हैं। प्रोफेसर ने प्यार से कहा, 'आओ अन्दर चलें।' फिर चुपचाप दीपा के पीछे-पीछे टोकरी लेकर अन्दर आ गए। उसे रखते हुए बोले, 'तुम से मैं ने कितनी बार कहा है कि तुम सोचना छोड़ दो। उसके जो जी में आये करे, हमें क्या ? हम तुम दोनों ठीक हैं। बस यही चाहिये। हमें उस से लेना भी क्या है ? अब तो जमाना किसी पर निर्भर करने का रहा नहीं। मुसीबत पड़ने पर तुम स्वयं भी तो कमा सकती हो।'

दीपा ने धीरे से, पर अधिकार-भरे रुंधे स्वर में कहा, 'अब चुप भी करोगे ? मैं उस की क्यों चिन्ता करूँगी ? चिन्ता उसे करनी चाहिये।'

प्रोफेसर खूब हँसे, 'देखा तुम ने अनपढ़ रेशमा अनजाने ही कितनी बड़ी बात कह गई। पर तुम उसे अब भी खिलौना ही समझती हो।'

दीपा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, 'मैं तो कुछ भी नहीं समझती। जहाँ चाहे, जिस से चाहे, शादी करे। पर इतना अधिकार तो मुझे है कि मैं उसे अपने घर में आने दूं या न आने दूं।'

प्रोफेसर फिर हँसे, पर बोले कुछ नहीं। बैठक में जाकर पढ़ने लगे। फिर अँधेरा होने पर बाहर चले गए। जाते-जाते कहा, 'दीपा, अभी एक घंटे में लौट आऊँगा। तुम खाना खा लेना। मेरी राह न देखना।'

दीपा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रति दिन वे इसी तरह कह कर जाते हैं। प्रतिदिन वह देर तक खाना लिए बैठी रहती है। प्रतिदिन प्रोफेसर आ कर कहते हैं, 'अरे भाई, तुम सुनतीं क्यों नहीं ? कहता हूँ मेरी राह देखती न बैठी रहा करो।'

फिर मुसकरा कर धीरे से कहते हैं, 'तुम्हें भी साथ खाना अच्छा लगता है। मुझे भी। दोनों मजबूर हैं।'

फिर दोनों हँस पड़ते हैं। खा-पी कर कुछ देर पढ़ते हैं या बातें करते हैं। फिर लेट जाते हैं। अकसर बातें करने का दौर एक तरफा रहता है। प्रोफेसर मानो क्लास-रूम में भाषण देते हैं और दीपा सुनते-सुनते सो जाती है। उस दिन भी सब काम उसी तरह हुए। पर दीपा थी जैसे उदास-उदास, खोयी-खोयी। लेटे-लेटे सहसा प्रोफेसर बोले, 'सो रही हो ?'

'नहीं तो।'

'सुनो, जब मैं रूस गया था तो मैंने वहाँ अपने एक मित्र से पूछा था कि क्या वे शादी-विवाह में माँ बाप की राय बिलकुल नहीं लेते।'

'तो ?'

'तो मित्र ने कहा था कि कोई बेवकूफ ही नहीं लेता। उन्हें पूरी स्वतंत्रता है, पर अनुभव तो माँ-बाप का अधिक होता है। उसे अनुभव से लाभ उठाना ही चाहिए।'

दीपा ने इस बार तुरन्त उत्तर दिया, 'यह मुझ से क्या कहते हो! तुम्हारे सोचने की बात है। तुम हर बात में उसी की कहते हो।'

प्रोफेसर ने करवट बदल कर दीपा का हाथ अपने हाथ में ले लिया। धीरे से कहा, 'उसकी न कहूँ तो क्या उसे अपना दुश्मन बना लूं? मैं तो उसे बता देना चाहता हूँ कि मैं उतना ही प्रगतिशील हूँ जितना वह। और दीपा, अपने समय में हर व्यक्ति प्रगतिशील होता है। नानाजी ने 1870 में जब दिन के समय नानी का मुँह देखने का दुस्साहस किया था तब क्या उन्होंने कम क्रान्ति की थी! पिता ने नंगा करके पेड़ से बाँध कर शहतूत की कमची से खाल उतार ली थी···'

लेकिन, उन्होंने पाया कि सुनने वाले की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। बाँह भी बोझिल हो उठी। पुकारा, 'दीपा!' लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला। बोले, 'सो गई है। अच्छा।' फिर धीरे-से दीपा की ढीली बोझिल बाँह को उसकी छाती पर रख दिया और आँखें मींच कर सोने का प्रयत्न करने लगे, पर नींद नहीं आयी। बस करवट बदल-बदल कर अँधेरे में देखते रहे। देखते क्या हैं कि उन के सामने जो मूर्ति है वह उनकी अपनी है। वे डर गए। अपने को देखने से सदा डर लगता है। दूसरे क्षण आँख खोल कर देखा तो दीपा का उदास-उदास चेहरा था। फिर आँखें खोलीं तो टोकरी लिये रेशमा हँसती हुई सामने आ खड़ी हुई। वह गई तो सुनील आ गया। फिर स्वतंत्रता भी आ गई—स्वतंत्रता, जो चंचलता की प्रतिमूर्ति है, जो इंगलिश में धाराप्रवाह बोलती और नयी कविता करती है···

प्रोफेसर अनायास फुसफुसा उठे—उसकी कविता सचमुच प्राणवन्त है। मस्तिष्क को झंझोड़ देती है। उस की आँखों में कितनी चमक है! सभी को विश्वास था कि सुनील उसी से विवाह करेगा, पर एक दिन मधुमिता आसन पर आ विराजी···और स्वतन्त्रता से पहले शोभना थी। सोनाली थी। और भी होंगी···तभी लगा कि दीपा जैसे चीख पड़ी है···

'दीपू, दीपू···क्या है दीपू···'

प्रोफेसर हठात चौंक कर उठ बैठे। अँधेरे में सुना कि दीपा धीरे-धीरे सुबक रही है।

'दीपू, दीपू क्या है? सपना देख रही हो क्या?'

दीपा शिथिल-सी पति की वाँहों में पड़ी सुवकती रही, सुवकती रही। प्रोफेसर उसे थपथपाते रहे, सहलाते रहे। देखते रहे कि उस का वक्ष एक वार तेजी से उठने को होता है, फिर वाधा पा कर गिर-गिर पड़ता है। और वे वार-वार हाथ से उसे दवा देते हैं। कई क्षण वाद गति कुछ सम पर आई तो उन्होंने पूछा, 'सपना देख रही थीं ?'

'हूँ।'

'क्या था ?'

'कुछ नहीं। आप सो जाइये।'

दीपा ने अपने को उन की गोद से अलग कर लिया। दो क्षण वाद दीपा ने वताया कि उसने सचमुच ही सपना देखा है कि सुनील का विवाह हो गया है और वह वहू को लेकर द्वार पर आया है। शहनाई वज रही है। मंगल गीत गाये जा रहे हैं और वह हार पहने वहू की ठोड़ी ऊपर उठा कर देखती है—आह क्या रूप है। जैसे धरती में शोले उठने लगेंगे। वह गद्गद होकर अपना हार उसके गले में डाल देती है और···और···

दीपू ने जोर से हिचकी ली। क्षण भर वाद फिर कहा, 'वहू ने उस हार को देखा। उसका चेहरा घृणा से विरूप हो आया। उसे उतार कर उपेक्षा से उसने सुनील को थमा दिया, कहा, 'कितना पुराना डिजाइन है!'

'जैसे सागर की उमगती लहर को किसी ने रोक दिया हो। किसी तरह मैं उसे अन्दर ले जाती हूँ। वह चारों ओर देखती है। सहसा उस की दृष्टि रेशमा के खिलौने पर पड़ती है और वह जैसे चीख उठती है, 'छिः, ये मिट्टी के कलाहीन खिलौने! लोग अभी भी पिछली सदी में रहते हैं।'

'और वह कहती ही नहीं, उन्हें उठा कर एक कोने में फेंक देती है। मैं यह सव नहीं सह सकती। चीख उठती हूँ। तभी आँख खुल जाती है। देखती हूँ कहीं कुछ नहीं है। सव सपना है। पर मैं जानती हूँ कि यही सच है। सपने में आने वाली वातें सच होती हैं।'

'होती हैं तो इस में दुखी होने की क्या वात है? सपना ठीक ही तो है। तुम समझती क्यों नहीं? कुछ दकियानूसी लोगों को छोड़ कर अव कौन सोने के भारी-भारी हार पहनता है? अव तो तरह-तरह के कलापूर्ण पत्थर आते हैं और रेशमा के खिलौनों में भी कहीं कला है? वह तो दूर से देखने के हैं। पास से देखो तो न रंगों का मेल, न अंगों का सौन्दर्य।'

दीपा ने कहा, 'तुम तो यही कहोगे। पास से देखने पर तो सभी वदरंग दिखायी देते हैं।'

प्रोफेसर ने जैसे सुना ही नहीं। एक क्षण निस्संग भाव से कहा, 'मुझे ऐसा लगता है कि सुनील मधुमिता से विवाह निश्चित करके ही आयेगा। तुम उस से कुछ भी मत कहना। समझीं। मन में यही बात रचा लो। तब न सपने आएँगे और न रोना। दुख-सुख तो मानने के हैं। तुम्हें कैसे समझाऊँ कि तुम्हारा दुख-सुख मेरे साथ बँधा है। बाकी रही दुनिया की बात —वह जितना हमें मानेगी उतना ही हम…'

दीपा ने तड़प कर कहा, 'सुनील दुनिया में है ?'

'आजकल अपने आप के अलावा सभी दुनिया में हैं।'

'तो फिर तुम क्यों उस के मन की करने को आतुर रहते हो ?'

'क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह ठीक है। यह दूसरी बात है कि मुझे भी उस की बातें अच्छी नहीं लगतीं। पर हैं वही ठीक। हमारी हड्डियाँ पक गई हैं। नये सच को झेल नहीं पातीं।'

'सच भी नया पुराना होता है ?'

इस स्थापना पर प्रोफेसर घण्टों बोल सकते हैं। उस रात भी न जाने कब तक बोलते रहे। दीपा सो गई, वे भी सो गये, पर नये सच की कड़वी-मीठी ध्वनियाँ उन की गृहस्थी में गूँजती रहीं। एक दिन घर लौटे तो बड़े उद्विग्न थे। बिना कपड़े उतारे दीपा के पास आये और गंम्भीर स्वर में बोले, 'सुनील कब आ रहा है ?'

'अब मुझ से पूछते हो ? वह क्या आने-जाने की सूचना देता है ?'

'दिन तो बीस-इक्कीस हो गए।'

'हो तो गए। पर, बात क्या है ?'

आज मधुमिता को देखा था।'

'मधुमिता को ?'

'हाँ।'

'तो ?'

'बस यही तो तुम्हारी बुद्धि है। दोनों साथ ही तो गए थे। मधुमिता उसे छोड़कर कैसे आ गई ?'

'मुझे क्या पता। उसी से पूछा होता।'

'मैं उस से पूछता ?'

'क्यों, उसे जब बहू बना कर घर ला रहे हो तो पूछने में क्या है ?'

'तुम व्यंग्य-बाण बरसा रही हो और मैं परेशान हूँ। आखिर वह…'

'वह…'

'अब उस को भी नहीं जानती ! आखिर सुनील किसी से शादी करेगा ?'

दीपा हँस पड़ी, 'मुझ से कहते हो कि मेरी रग-रग में यही बात रच गई है और आप एक लमहे को भी उस के बारे में बिना सोचे नहीं रह पाते।'

'तुम तो बस···चाय है ?'

'है, अभी लाती हूँ।'

चाय पर दोनों फिर कई क्षण मौन बैठे रहे। कोई प्रसंग निकाल कर दीपा ने कहा, 'आप उस की चिन्ता क्यों करते हैं ? नहीं मानता तो करे जो उस के मन में हो।'

प्रोफेसर एक दम तड़प उठे, 'यह तुम कहती हो !'

दीपा कुछ उत्तर देती कि डाकिया डाक दे गया। एक लिफाफे पर हस्ताक्षर पहचान कर प्रोफेसर ने तुरन्त उसे फाड़ डाला और पत्र निकाल कर पढ़ने लगे। दो क्षण बीतते न बीतते वह जैसे पागल हो उठे हों। चिट्ठी को बुरी तरह मुट्ठी में भींच लिया। नथने पड़कने लगे। क्रुद्ध-कम्पित स्वर में चीख कर कहा, 'गुस्ताख, बदतमीज, वह अपने को समझता क्या है ? मैं हरगिज-हरगिज यह नहीं होने दूँगा। मैं···मैं···'

मुँह से झाग निकलने लगे। दीपा घबरा कर दौड़ी हुई आयी। बोली, 'क्या हुआ ? किस की चिट्ठी है ?'

पर वह मुट्ठी खोलने में सफल न हो सकी। किसी तरह उन को दोनों बाहों में भरना चाहा, पर वे तो रौद्र रूप हो उठे थे। जोर से उसे झटका दिया। कुर्सी के लात मारी। सामने जो दो सुन्दर खिलौने रखे थे, उन्हे जोर से जमीन पर फेंक दिया, 'मैं···मैं···मेरा इतना अपमान ! इतनी बेइज्जती ! मैं ने···'

'कुछ बताओगे भी। किस ने किया अपमान ? किस की चिट्ठी है ?'

'होती किस की ? उसी नालायक- गुस्ताख की है।'

'सुनील की ?'

'हाँ, मैं उस से कोई सम्बन्ध नहीं रखूँगा। उसने समझा क्या है ? इतनी लड़कियों को झाँसा दिया। यह शरीफों के काम हैं ?'

'कुछ बताओगे भी हुआ क्या ?'

'होता क्या ? तुम्हारे साहबजादे ने लिखा है कि छह महीने की छुट्टी ले कर वह रूस जा रहा है। वहाँ वह स्तावना नाम की किसी लड़की से शादी करेगा। पिछले वर्ष वहीं उस से परिचय हुआ था। तब से वह बार-बार उसे बुला रही थी। अब जा कर वीसा मिला है। और हमारे साहबजादे कल शादी करने जा रहे हैं। यहाँ नहीं आ सकेंगे। क्षमा माँगी है। अहा ! कैसी सादगी से आप ने सब कुछ लिखा है। मैं पूछता हूँ—क्या

जरूरत थी मुझे पत्र लिखने की ?'

तब तक दीपा उन से चिट्ठी ले लेने में सफल हो गई थी। पढ़ते-पढ़ते उसे लगा जैसे उस का दिल डूब चला है। शरीर को लकवा मारता जा रहा है। परन्तु जब पढ़ चुकी तो सहज विश्वास से दृष्टि उठा कर पति की ओर देखा। बोली, 'सुनो !'

'क्या सुनूं ? उस ने यह निश्चय कर लिया था कि जो मैं कहूँगा वह उसे नहीं मानेगा।'

'सुनो भी। अब क्रोध करने से कोई लाभ है ? बात साफ हो गई है। चलो छुट्टी हुई। न अब आशा रखेंगे, न दुख होगा।'

और आगे बोलने में असमर्थ वह चिट्ठी वहीं रख कर सीधी अपने कमरे में चली गई। प्रोफेसर ने 'मैं···मैं···'करते-करते अचकचा कर पत्नी की ओर देखा, फिर जैसे परिस्थिति समझ कर लाँछित-लज्जित वहीं कुर्सी पर बैठ गए। उसके बाद किसी ने किसी से कुछ नहीं कहा। उस रात खाना-पीना भी नहीं हुआ। प्रोफेसर देर तक खिलौनों के टुकड़े बीनते रहे। बीन चुके तो बैठ कर पत्र लिखने लगे। दीपा सहसा बीच में उठ कर आई, 'सुनील को लिख रहे हो ? देखो, कुछ ऐसी-वैसी बात न लिख देना। खून में उस के भी गरमी है। बस आशीर्वाद लिखना।'

'मैं उस से हार मानने वाला नहीं हूँ। वह डाल-डाल तो मैं पात-पात। लो पढ़ लो।'

दीपा ने पढ़ा—

'मेरे प्यारे बेटे !

आशा है तुम सकुशल पहुँच गए हो। बड़ी खुशी हुई कि आखिर तुम्हें वीसा मिल गया। शादी का कौन-सा दिन निश्चित हुआ, यह लौटती डाक से लिखो। तुम्हारी माँ और मैं दोनों तुम्हें और बहू स्तावलाना को बहुत-बहुत आशीर्वाद भेजते हैं। दोनों खुश रहो। तुरन्त चित्र भेजना। तार से उत्तर देना। तुम्हारी माँ बड़ी उतावली से राह देख रही है। तुम दोनो को हम दोनों का ढेर-ढेर प्यार।

तुम्हारा पिता
सुभाष'

1964

—9
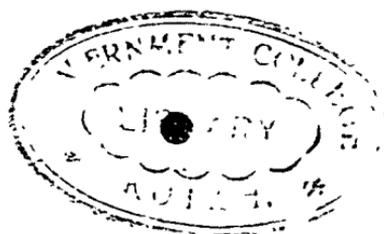
आदर्श, आँसू और अंधेरा

डाक्टर सिन्हा का प्रसिद्ध वार्ड—वार्ड नम्बर 3। किसी से भी पूछ लीजिए। बरामदे में लम्बे-लम्बे पर्दे पड़े हैं। बाहर लान में चावियों का गुच्छा बजाता हुआ, खाकी कोट पहने, एक चौकीदार बैठा रहता है। रिश्वत और खुशामद ने उसे लगभग बहरा बना दिया है।

इसी वार्ड नम्बर 3 के बैड नम्बर 10 पर वह लेटा रहता है। नम्बर 10 याद रखिए क्योंकि डाक्टर और नर्स उसे इसी नाम से पुकारते हैं। वैसे भी यह एक सार्थक संख्या है। वह प्रायः सर्वदा मौन, निर्द्वन्द्व, सीधी देह, लेटे रहता है। अपेरेशन के दिन भी वह मौन ही रहा। एक सुबकी तक नहीं फूटी, बुदबुदाया तक नहीं। फिर भी लगता है जैसे कि सारा कमरा उसी की वाणी से गूंजता रहता है। उसके ओठों पर सदा रहने वाली एक रहस्यमय मुस्कान है। डाक्टर और नर्स धीरे-धीरे और कभी-कभी जोर से उसी मुस्कान की चर्चा करते दिखाई देते हैं। दूसरे घायल दर्द के क्षणों में भी उसकी ओर देखकर पीड़ा को भूल जाते हैं। उसके दाहिनी ओर एक मरणासन्न घायल युवक है। मिलने के समय जब-जब उसकी पत्नी आती है तो उसकी दिलकश आँखें सदा झरती रहती हैं। कभी-कभी उन डबडबाई आँखों से उसकी आँखें भी मिल जाती हैं। तब दिल जैसे कसक आता है। भीतर शायद कहीं तड़फड़ाहट है जो बाहर मुस्कान के रूप में प्रकट होती है। एक दिन वह युवती पाती है कि लेटे ही लेटे वह कागज पर लाइनें खींच रहा है। बीच-बीच में उसकी ओर देख लेता है। उसका कौतुहल जाग आता है। पास से जाते हुए वह कागज पर दृष्टि डालती है। कुछ रेखाएँ उनमें से उभरती एक नारी की आकृति···इसे तो कहीं देखा है। कहाँ ?··· जैसे भूकम्प हुआ हो—यह आकृति उसी की तो है। उसी की। ओह !···

ही कर देता है। अकसर उसे भ्रम होने लगता है कि यह पागल तो नहीं।

लेकिन वह पागल नहीं है। तब भी नहीं था जब वह घायल हुआ। उन दिनों उस नगर में किसी क्षण, कहीं भी, कोई घायल हो सकता था। धीरे-धीरे भीड़ मे जाते हुए एकाएक कोई चीख उठता और दूसरी चीख के प्रयत्न में उसकी आँखे मुंद जाती। जो शक्तिशाली थे वे कुछ दूर घिसटते-छटपटाते और फिर धीरे-धीरे मौन हो रहते। भीड़ मे से कुछ व्यवित उस रक्त को पानी से धो देते और लाश को ठेले पर लादकर कहीं सरका देते। या फिर पुलिस आती और उन्ह उठवा ले जाती। और मनुष्य के हाथों ही मनुष्य का मूल्य शून्य हो रहता।

वाड नम्बर 3 में लगभग सभी ऐसे ही घायल थे। लेकिन उसमें एक विशेषता थी। उसके शरीर में दोनों पक्ष वालों ने छुरा घोंपा था। क्योंकि उस नगर में न तो कोई उसका मित्र था, न नातेदार। फटे वस्त्र पहने, वह बहुत धीरे-धीरे चलता और प्रत्येक वस्तु को बड़ी तन्मयता से निहारता। एक दिन उसने कहीं एक पुराना लोटा देख लिया। उसकी लाइनों में कला थी। और आँखों को सुख पहुँचाता था। बस बहुत देर तक वह उसी के स्पर्श की अनुभूति से अभिभूत वहीं खड़ा रहा। पता नही लगा कि सूर्य कभी का डूब चुका है और धरती रात के आगोश में जाने के लिए उतावली हो रही है कि सहसा तभी उसने एक चीख सुनी। एक घुटी-घुटी-सी चीख। वह एक झटके के साथ मुड़ा। पाया कि एक व्यक्ति एक युवक पर छुरे से प्रहार करने वाला है। तब सहसा एक छलाँग लगा कर छुरे वाले व्यक्ति को उसने नीचे गिरा दिया। वह युवक ऐसा भागा कि एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। लेकिन आक्रमणकारी जैसे उन्मत्त हो उठा। उसका छुरा कन्धे के साथ-साथ नं० 10 की कमर को ऊपर-ऊपर से चीरता हुआ निकल गया। उसने बस एक बार आह की और फिर मौन हो गया। कराहा तक नहीं। चुपचाप आगे बढ़ा चला गया।

आगे उसने एक सुन्दर युवती को देखा जो बेतहाशा नंगे पैर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में मौत की तस्वीर लिए उसी की दिशा में भागी चली आ रही थी। उसकी घनी केशराशि अस्त व्यस्त होकर बिखर गई थी। सिर का वस्त्र कहीं गिर गया था। पीछे पैरों में पिशाच की गति भरे और आँखों में राक्षस का अट्टहास लिए दो युवक थे, उनमें एक वही था जिसे कुछ क्षण पूर्व उसने बचाया था। उसके मस्तिष्क ने दूसरी बार जुम्बिश की। तूफान की भाँति वह एकाएक उस युवती और उन युवकों के बीच में आ गया, क्षण के सहस्रवे भाग इतने समय में वे युवक सकपकाए

पर तुरन्त क्रोध से उन्मत हो चीख उठे—'हट जाओ।'

पर वह जहाँ रुका था वहाँ से रंचमात्र भी नहीं हिला। निश्चय था कि उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते, पर उसी क्षण पुलिस के जवान वहाँ दिखाई दिए और फिर उठे हुए छुरे उठे ही रह गए। आततायी भाग निकले, लेकिन जाते-जाते भी उसकी दाहिनी जाँघ को कूल्हे से लेकर टखने तक एक बड़ी फाँक की तरह काट गए। वह गिर पड़ा लेकिन उसकी वाणी मुखर नहीं हुई। वस्तुतः वह तुरन्त संज्ञाहीन हो गया और उसी अवस्था में अस्पताल ले जाया गया। उसका कोई वली वारिस नहीं था। बहुत देर तक डाक्टरों ने उसे देखा तक नहीं। और जब आपरेशन के बाद उसे होश आया तो उसकी दृष्टि कहीं दूर भटक रही थी। उसने पुलिस को कुछ नहीं बताया। केवल मुस्कराता रहा। यह वही रहस्यमयी मुस्कान थी जिसे सैंकड़ों वर्ष पूर्व लियोनार्ड डी० विंची ने मोनालिसा के होंठों पर अंकित किया था।

उसने नर्सों और डाक्टरों से भी कोई बात नहीं की। केवल एक बार जब उसके सामने वाले घायल को ग्लूकोज दिया जा रहा था तो उसने नर्स को रुक जाने का इशारा किया। एक बड़े स्टैण्ड पर रखे शीशे के पात्र में, गहरा लाल रक्त जैसा, तरल पदार्थ भरा था और रबड़ की नली से होकर वह सुंई में प्रवेश कर रहा था। वह सुंई रोगी की नस में चुभो दी गई थी। नर्स सुन्दर थी। अपने बगुले जैसे कपड़ों में और भी आकर्षक लग रही थी। खट खट करती यान्त्रिक पुतली की तरह आती और उस नली को दबाती। ...तब चुपचाप कागज निकाल कर वह लाइन खींचने लगा। और जब नर्स वहाँ से हटने लगी तो उसे हाथ से जाने को मना किया। वह सहसा उसकी आज्ञा का विरोध न कर सकी और जब कई क्षण बाद कौतूहल से उसके पास आई तो हर्ष से लगभग चीख उठी, 'तुम—तुम तो कलाकार हो।'

वह केवल मुस्कराता रहा।

'कितनी सच्ची, कितनी प्यारी रेखाएँ खींची हैं तुमने।'

और फिर एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी नर्स ने उसकी कहानी सुनी और उसमें दिलचस्पी लेने लगी। जैसे एक ही रात में सब उसे प्यार करने लगी हों। जब वह सो जाता तब भी वह उसे देखती रहती। उसकी चादर और कपड़े ठीक कर जाती। धीरे-धीरे उसकी आकृतियाँ भी रेखाओं में उभरने लगीं लेकिन उसका मौन भंग नहीं हुआ।

तभी अचानक एक दुर्घटना घटित होती है। एक नया घायल बुरी अवस्था में वहाँ लाया जाता है। वह आपाद मस्तक सफेद पट्टियों का समूह मात्र है। उसके माता-पिता सिसकते हैं। डाक्टर सिर हिला-हिला कर

निराशा प्रगट करते हैं। उसे रक्त की आवश्यकता है और अस्पताल में जो रक्त है वह उसके योग्य नहीं है। नम्बर 10 देखता है, सुनता है फिर इशारे से डाक्टर को बुला कर कहता है—'मेरा रक्त ले सकते हो।'

डाक्टर हँस कर चले जाते हैं। परन्तु दूसरे दिन वे उसके रक्त की परीक्षा करने को विवश हो जाते हैं। आश्चर्य, वही रक्त तो ठीक है। डाक्टर कहता है—'काफी रक्त चाहिए।'

वह उत्तर देता है—'लीजिए तो।'

वह मुस्कराता है। नर्स मुस्कराती है। डाक्टर मुस्कराते हैं। नया रक्त पाकर मरणासन्न घायल भी मुस्कराता है और सन्ध्या तक ही आँखें घुमा-घुमाकर चारों ओर देखने लगता है। नम्बर 10 की मुस्कान उस अपनी ओर खींचती है। वह खिल उठता है लेकिन…

जैसे इसे कहीं देखा है, लेकिन कहाँ देखा है ? कहाँ ?

वह बहुत देर तक सोचता है। सोचता रहता है। मस्तिष्क की रेखाएँ तिड़कती रहती हैं। फिर सहसा उनका धुन्धलका जैसे अकस्मात आने वाले विद्युत के प्रकाश से एकाएक दूर हो जाता है। अविश्वास और भय से वह काँप काँप उठता है—'ओह, यह तो वही। जिसने एक बार मेरी प्राणरक्षा की थी। परन्तु कुछ क्षण बाद ही मैंने स्वयं उसके प्राणों पर डाका डालना चाहा।…

पहली बार जिस व्यक्ति ने उसे चोट पहुँचायी वह उसके दाहिनी ओर लेट है। उसकी पत्नी उससे बड़ा स्नेह करती है। दूसरी बार जिन युवकों ने उस की जाँघ काट डाली, उन्हीं में से एक बुरी अवस्था में उसकी बाईं ओर वाली बैड पर है। उसके बेटे को वह अपने बेटे के समान प्यार करता है।…

वह तड़फड़ाता है। घृणा, मोह, विराग की परछाइयाँ उसके चेहरे पर उभरती हैं लेकिन वह सब कुछ से अपने को तोड़ कर कुछ भी नहीं छिपा पाता।…

उसी रात पुलिस के बड़े अधिकारी और मजिस्ट्रेट वार्ड नम्बर 3 पर धावा बोल देते हैं। वे बैड नम्बर 10 के पास इकट्ठे हो जाते हैं। वह अब भी मुस्करा रहा है। यद्यपि डाक्टर सिर हिलाते हैं, उसका जीवन संकट में है। मजिस्ट्रेट घुटी हुई खोपड़ी का पुराना घाव है। वह बहुत प्रश्न नहीं पूछता। दाहिनी ओर वाले बैड को सरकाकर उसके बिल्कुल पास ले आता है। पूछता है—इसे जानते हो ?

शान्त भाव से वह उत्तर देता है—जानता हूँ।

इसने तुम्हारे छुरा मारा था ?

वह मुस्कराता है– इसकी पत्नी मुझ से बहुत स्नेह करती है।

मजिस्ट्रेट झुँझला उठता है। कर्कश स्वर में कहता है—जो पूछते हैं उसका जवाब दो।

उसका उत्तर है—जीवन में पहली बार मुझे इतना प्यार मिला है। मैं जी आया।

बाईं ओर वाले मरीज के बारे में भी वह यही कहता है—इसका बेटा मुझे इससे अधिक प्यार करता है।

मजिस्ट्रेट जिसका सब्र जवाब दे रहा होता है। अन्तिम बार उस युवक की ओर संकेत करता है जिसके लिए उसने रक्त दिया था। कहता है—इसकी नसों में मेरा रक्त बहता है।

और वह मौन हो जाता है। क्रूर आँखों वाला कप्तान घृणा से चीखता है—अहमक,पाजी, गधा।'

मजिस्ट्रेट उससे सहमत नहीं हो पाता। हिकारत की हँसी हँसता हुआ कहता है—गधा नहीं, महान् आदर्शवादी।

परन्तु वह उसी तरह मुस्कराता है। स्थिर दृष्टि से कप्तान पुलिस को देखता रहता है कि अचानक कप्तान पुलिस की जैसे चीख निकल जाती है। सब चौंक उठते हैं। विस्फारित नयन डाक्टर उधर मुड़ते हैं—क्या हुआ कप्तान साहब?

कप्तान तब तक अपने को संभाल लेते हैं। कहते हैं—कुछ नहीं। कुछ नहीं। मैं इसे पहचानता हूँ। 20 वर्ष पूर्व इसने…

एक छाया-सी उसे अपने में समेटती आती है, वह मौत की छाया है। वह क्या कभी सत्य नहीं कह सकेगा? कह सकेगा, अवश्य कह सकेगा। और उसने अपना वाक्य पूरा किया—इसने अपनी पत्नी की हत्या की थी। और मैंने इसे गिरफ्तार किया था। इसे पत्नी के चरित्र पर सन्देह था।

सन्नाटा जैसे चीख उठता है। सभी सहम आते है। कप्तान जैसे धीरे-धीरे श्मशान घाट पर भाषण दे रहा हो—'लेकिन पत्नी ने मरने से पूर्व अपने बयान में कहा—मैं सचमुच किसी और को प्यार करती हूँ। लेकिन इस अभागे समाज में न्याय न पाकर आत्म हत्या कर रही हूँ। इसके लिए कोई दोषी नहीं।

मजिस्ट्रेट बोला—और यह छूट गया।

जी हाँ। प्यार न करके भी उसने इसे छुड़ा दिया।

सहसा नम्बर 10 की मुख मुद्रा वक्र हो उठती है। समस्त शक्ति के साथ चीख कर कप्तान से कहता है—तुम्हें दुख है कि उसने झूठ बोला और तुम

उसे पा न सके।

कप्तान मुस्कराया—तो तुम भी पहचानते हो।

नम्बर 10 ने कहा—अपनी पत्नी के प्रेमी को न पहचानूँगा। कप्तान साहब, यह सत्य है कि उसने आत्म हत्या ही की थी। मैंने उससे कहा था—तुम सहर्ष जा सकती हो। परन्तु वह कायर निकली। समाज का सामना न कर सकी।

नहीं, नहीं, कप्तान जैसे चीख उठता है, 'कायर वह नहीं थी, मैं था।

—क्या ?···

—हाँ मिस्टर विनय।

—तो, तो, मेरा सन्देह सत्य है कि तुम उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। तुमने उसकी हत्या की। ओह।

वह जितनी तीव्रता से उठता है, उतनी ही तीव्रता से लुढ़क जाता है। जैसे उसे अन्तर्दृष्टि मिल जाती है। सब कुछ पारदर्शी हो उठता है और किसी आन्तरिक व्यथा से वह चिर परिचित मुस्कान पहली बार धूमिल होती है और···

सहसा उसी क्षण स्तम्भित-चकित डाक्टर आगे बढ़ता है और तीव्रता के साथ सबको चले जाने का इशारा करता है।

कई क्षण बाद अस्पताल के नौकर आते हैं और उसके पलंग को घुमाते हुए कहीं ले जाते हैं।

वार्ड नम्बर 3 में बैड नम्बर 10 अब खाली है।

1962

10—

फास्सिल, इंसान और···

साठ वर्ष की आयु में भी विनोदशंकर को अधिक-से-अधिक पेंतीस-चालीस का कहा जा सकता है। चेहरा वैसा ही सुचिक्कण-रक्तिम, आँखें वैसी ही भावाकुल और मुस्कान वैसी ही मनोहारी, पर आज उदास-उदास वह करवटें बदल रहा है। नींद उसे कभी अधिक नहीं आती। चार बजते न बजते तारों भरा आकाश उसके मस्तिष्क पर उभर आता है। अभी भी सामने के द्वार से उसका सदा का मित्र शुक्र तारा उसे पुकार रहा है, 'आओ भाई, छः बज रहे हैं। एक घण्टे से राह देख रहा हूँ। आज क्या वायु-सेवन को नहीं चलोगे।'

शुक्र के पास ही नीम के पेड़ के ऊपर से उठता हुआ, अमा से दो दिन पूर्व का चन्दा कुछ ऐसा लग रहा है जैसे बच्चे को बहकाने के लिए किसी माँ ने खरबूजे की पतली फाँक काटी हो। और बच्चे ने मचल कर उसे फेंक दिया हो। कहीं वह बच्चा वह स्वयं ही तो नहीं है।···

ये विचार आते ही उसके शरीर में झुरझुरी सी उठी। करवट बदल कर उसने चाहा कि दरारों से झाँकते हुए सुनहले दिन की ओर से वह आँखें मूँद ले। पर जैसे ही पलक झपकती है रात के सारे चित्र एक-एक करके उसके वक्ष पर उकर आते हैं। चित्र कम नहीं हैं पर चित्रों से भी बड़ी उसकी वेदना है। उस वेदना बोध के कारण ही उसकी स्वाभाविक प्रफुल्लता जैसे ठिरठिरा गई हो। वही वेदना बोध सौ-सौ शूल बनकर उसके अन्तर को छेदे दे रहा है। पीछे के कमरों से उठती उसके बच्चों की चुहलबाजी भी उसे मुखरित नहीं कर पा रही है।

रात 'नवकला निकेतन' में उसका सम्मान हुआ था। एक प्रदर्शनी का

आयोजन भी था जिसमें उसके अभिनय काल के सभी चित्र प्रदर्शित किये गए थे। राधेश्याम कथा वाचक, बेताव, व्याकुल, आगा हश्र आदि सभी नाटककारों के नाटकों में उसने अभिनय किया था। दूर-दूर तक उसकी प्रसिद्धि थी। उसका नाम सुनकर कहाँ-कहाँ के लोग अभिनय देखने आते और रात-रात भर बैठकर देखते। वीर रस का नाटक होता तो दर्शक के शरीर में वीरता जैसे बंध तोड़कर उमड़ पड़ती। करुणा रस का नाटक देख कर दर्शक सिसकियाँ भरते। शृंगार रस के नाटकों में युवकों और युवतियों, दोनों का अभिनय वह एक-सी सफलता से करता। उसके शरीर की गठन, उसका रक्तिम गौर वर्ण, उसके अंग अंग का सौन्दर्य सभी कुछ ऐसा था कि शक्ति पुंज युवक का अभिनय करते समय उसके भुजबंध फड़क उठते। रूप के अंबर-सी युवती का अभिनय करता तो वे ही अंग किसलय कोमल हो आते और आँखों से मद झराझरा पड़ता। ताण्डव और लास्य सभी रूपों के चित्र, सभी स्वर्णिम मेडल और ताम्र पत्र जो उसने पाये थे उस प्रदर्शनी में प्रदर्शित किये गए थे।

कितने गर्व से रात उसने अपने अभिनय के सभी रूपों का प्रदर्शन किया। तब कितना उल्लास था उसकी आँखों में। क्यों न होता यह अभिनय उसके व्यक्तित्व का एक अंग ही तो बन चुका है। परन्तु दर्शकों को क्या हो गया है। वह किसी और समय में तो नहीं भटक गया, जहाँ न कोई उसकी भाषा समझता है, न भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करता है जैसे वे सभी मनुष्येतर जाति के हों जो उसके प्रत्येक रस और प्रत्येक भाव के प्रदर्शन पर समान और मुक्त रूप से हँसे जा रहे हैं। सम्पूर्ण दर्शक प्रकोष्ठ के भूकम्प सरीखे एक सम्मिलित ठहाके से धरती जैसे बार-बार काँप-कांप उठती है। वह अपने भावाभिनय में जितनी भी प्राणशक्ति भरने की चेष्टा करता है उतना ही वह अट्टहास मुखर होता है। जैसे वह अभिनेता न होकर संस्कृत नाटकों का विदूषक मात्र हो।

आखिर एक सीमा पर आकर उसकी प्राण शक्ति का स्रोत सूख गया और आँखों की भावाकुलता म्लान पड़ गई। वह विशाल प्रकोष्ठ एक बार फिर मुक्त अट्टहास और सघन तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। उस के बाद उसे पता नहीं कि क्या हुआ और वह कैसे घर पहुँचा। वह तब जैसे था ही नहीं।...

सहसा कमरे के द्वार खोलकर उसकी पत्नी सरला सामने आ खड़ी हुई। बोली, 'क्या हुआ। रात भी ऐसे आकर लेटे थे जैसे जान ही न हो। सवेरे से उठे नहीं, घूमने नहीं गए और इधर घर में बेटे, बहू, बेटियाँ, दामाद सभी आ

गये हैं और तुम्हारी तारीफ करते नहीं थक रहे हैं।'

'उहूँ···क्या···तंग मत करो, मेरी तबीयत ठीक नहीं है।

'तबीयत ठीक नहीं है तो कहा क्यों नहीं। सुवीरा का पति भी तो आया है। बुलाती हूँ।'

वह विक्षिप्त सा उठ बैठा, 'नहीं, नहीं। मुझे डाक्टर की जरूरत नहीं है।' फिर एक उतप्त निःश्वास छोड़कर बोला, 'ये लोग क्या समझेंगे मेरे दर्द को, कल के छोकरे।'

आगे वह कुछ कह पाता कि सबसे छोटा लड़का भवभूति और उसकी वहू रागिनी वहीं जा पहुँचे। भवभूति बोला, 'पापा' आपने इस रागिनी पर क्या जादू कर दिया ? आपकी प्रशंसा करते नहीं अघाती। कहती है, 'आज तक मुझे पता ही नहीं था, कि पापा इतने बड़े कलाकार हैं।'

वह अविश्वास से अपने इस लाड़ले बेटे की ओर देखता है और अनुभव करता है कि उसकी प्राण शक्ति पर जैसे संजीवनी का अमृत टपक रहा है। धीरे-धीरे उसकी दृष्टि रागिनी की ओर घूम जाती है। पाता है कि वह बिना बाहों का ब्लाउज पहने, साड़ी के छोर को लापरवाही से कंधे पर डाले है और उसके पिरामिडी जूड़े पर चाँदी के घूँघरू कृष्ण घटा में तारों से दमक रहे हैं।

एकाएक मुग्धा रागिनी मुक्त मन बोल उठी, 'सच पापा, रात का आपका अभिनय प्रदर्शन सुपर्व था। मैं तो सोच भी नहीं सकती थी कि उस काल के कलाकार इतने 'पावरफुल' थे। मेरे थीसिस के लिए रात इतना मैटर मिला कि क्या कहूँ।'

अन्तर में पुलकित विनोदशंकर ने अचकच कर कहा, थीसिस।'

उत्तर दिया भवभूति ने, 'हाँ पापा, यह रागिनी डाक्टरेट के लिए थीसिस लिख रही है। विषय है, 'हिन्दी रंगमंच का विकास।'

'और पापा। रात वह विकास मेरे सामने मूर्त्त हो उठा। व्यर्थ ही लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ रंगमंच और अभिनय की परम्परा नहीं है।'

तब तक उनकी लड़कियाँ सुवीरा और सोमा, बड़ा लड़का कालिदास और उसकी पत्नी रत्ना और छोटे बच्चे सभी उनके कमरे में आ चुके थे उनका मस्तक गर्व से ऊँचा होता आ रहा था। नेत्रों की भावाकुलता दीप्त हो रही थी। कुछ क्षण पूर्व की असीम, अगाध उदासीनता को जैसे किसी ने कील दिया हो, वह तिरोहित हो चुकी थी। वह अब भी मौन थे परन्तु जैसे मान से रूठे हों। छोटी लड़की सोमा ने कहा, 'पापा, यह भाभी कह रही थीं···'

और रागिनी की ओर देखकर मुस्करायी, 'कह दूं भाभी।'

उन्होंने अनायास पहले सोमा और फिर रागिनी की ओर देखा। भवभूति हंसकर बोला, 'पापा, यह कहती थी कि पापा की 'पर्सनैलेटि' बड़ी ग्रेण्ड है। कितने सुन्दर लगते हैं उन चित्रों में।

रागिनी ने तुरन्त कहा, 'तो नहीं लगते क्या ? गलत कहा है मैंने।'

भवभूति बोला, 'तुम तो ऐसे कह रही हो, जैसे उनसे शादी करनी हो।'

रागिनी ने सहज मन कहा, 'तब होती तो जरूर कर लेती।'

जी हाँ, जरूर कर लेती।'

'क्यों न कर लेती। तुमसे तो लाख बार सुन्दर लगते हैं।'

भवभूति तनिक भी अप्रतिभ नहीं हुआ, 'बोला, 'जैसे तब आप भी आज जैसी होतीं। छुई मुई गुड़ियाँ-सी घर के किसी कौने में छिपी होती। तब की नारी में इतना साहस कहाँ था कि पुरुष से नजर मिला सके। और कहीं गलती से मिल भी जाती तो बस उसका तो मरण ही हो जाता। उस ज़माने में लड़की के मंच पर आने की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। नहीं तो…'

एकाएक पीछे से सरला का स्वर सुनकर सब सकपका गए। क्रुद्ध कंपित वह कह उठी थीं, 'शर्म नहीं आती तुम लोगों को, कैसी बातें कर रहे हो। बड़े-छोटे का कोई लिहाज ही नहीं रह गया।'

अब तक जो मौन थे, वही विनोदशंकर एकाएक 'हो हो' करके जोर से हंस पड़े। कई क्षण हँसते रहे। खीज से भरी पत्नी जब चली गई तो बोले, जानते हो एक बार तुम्हारी इस मम्मी ने क्या कहा था, कहा था, हाय, तुम इतने सुन्दर क्यों लगते हो, मुझे डर लगता है।' 'मैं बोला, कैसा डर। कोई भगा ले जाएगा।' तब इसने सचमुच गम्भीर होकर कहा था, और नहीं क्या। तुम समझते हो कि पुरुष ही स्त्री को भगाते हैं। सुन्दर बलवान पुरुष के पीछे स्त्री क्या नहीं कर गुजरती।'

फिर सहसा दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, 'आज का जमाना होता तो शायद।'

जैसे कुछ अनकहनी कह गए हों। हतप्रभ जीभ काटकर सबकी ओर देखा सभी नत दृष्टि शरारत से मुस्करा रहे थे। उन्होंने हँस कर कहा, कुछ भी हो, वह समय सचमुच बहुत अच्छा था। आज की सी सुविधाएँ नहीं थी। दिन रात चिचियाते यन्त्र नहीं थे, स्वर और स्वरूप पर ही सब कुछ निर्भर था। सिनेमा में न जाने कितनी बार एक दृश्य का अभिनय होता है जो श्रष्ठ बन पड़ा उसको वे यंत्रस्थ कर लेते हैं पर मंच पर एक बार ही वह अवसर

मिलता है। कितनी भावना भरी रहती थी तब, लेकिन उस भावना की कीमत भी मिलती थी। लोग दूर-दूर से आकर रात-रात भर नाटक देखते थे, कई-कई दिन तक देखते थे। फिर खोलकर प्रशंसा करते थे···

वे बोलते रहे और रागिनी तन्मयता से लिखती रही। एक-एक शब्द को पीती रही। जब उनकी दृष्टि उसकी ओर गई तो उत्साह में जैसे उन्माद भर उठा। वह सब कुछ भूल गए, यह पूछना तक भूल गए कि वे 'बोर' तो नहीं कर रहे। उनके नयनों में तो वह युग जैसे मूर्त हो उठा था। कैसे नाटक लिखे जाते थे, कैसे उन्होंने समाज-सुधार में योग दिया, कैसे राष्ट्रीयता की ज्योति जगाई, फिर कैसे सिनेमा ने एक दिन दुबके से आकर इस कला का गला घोंट दिया। सरकार वेश्याओं की कम्पनी बनाकर जो काम न कर सकी वह विज्ञान ने क्षण भर में कर दिया।···

उनके बोलने का कहीं अंत नहीं आ रहा था। हर क्षण लगता कि अब जैसे समाप्त करेंगे पर वहीं से एक नया स्रोत फूट पड़ता। उन्होंने उस काल के नाटकों की, मंच की, अभिनय की तात्त्विक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सभी दृष्टियों से विवेचना की। इस विश्वास के साथ ही कि उनसे बढ़कर इस कला का पारखी कोई नहीं है। आज के छोकरे कला को क्या जानें। आवेश में आकर वह बोले, 'सिनेमा और नो सिनेमा, रेडियो और नो रेडियो, टेली-विजन और नो टेलीविजन, थिएटर विल नाट डाई, नो इट विल नेवर डाई।'

वे हिन्दी के पक्षपाती हैं। इस सीमा तक उन्हें मतान्ध कहा जा सकता है। परन्तु आवेश में आकर जब वे भाषण करना शुरू करते हैं तो जिस बात पर वे विशेष प्रभाव डालना चाहते हैं उसे अंग्रेजी में बोलते हैं।

उन्हें विराम की तनिक भी चिन्ता नहीं, परन्तु तभी सहसा उनकी पत्नी सरला का स्वर उनके कानों में गूँज उठा। पास आती हुई वह बोली, 'क्या पुराण गाथा ले बैठे हो, बोलना शुरू करते हो जैसे नशा चढ़ जाता है।'

फिर रागिनी की ओर देखकर कहा, 'उठ बहू, कब से वह सब बैठे राह देख रहे हैं। चाय ठंडी हो रही है।'

जैसे वे अचानक ही एक समय से दूसरे समय में आ पहुँचे हों। हठात् उन्होंने देखा, वहाँ बस केवल रागिनी है, जो अब लिखना छोड़ कर अपनी सास की ओर देख रही है। उसकी दृष्टि में तृप्ति मुखर है। कह रही है, 'मम्मी मैं जो काम एक वर्ष में न कर पाती वह पापा ने कुछ क्षणों में करवा दिया है।'

सरला बोली, 'अरे तो ये कहीं भागे थोड़े ही जाते हैं। इन्हें तो कोई दूसरे

जैसा भक्त श्रोता मिले तो चौबीसों घण्टे बोलते रहेंगे। तू उठ चल।' फिर पति की ओर देखकर कहा, तुम भी वहीं आ जाओ न ! भाग्य से आज सभी इकट्ठे हुए हैं। गरम-गरम कचौड़ियाँ और जलेबियाँ मंगाई हैं। रसगुल्ले भी हैं।'

पर वे तो जैसे अब वहाँ थे ही नहीं। वे इतनी देर बोलते रहे और सुनने के लिए केवल रागिनी ही वहाँ रुकी। उसे थीसिस जो लिखना था। उनका सब उत्साह एक क्षण में चुक गया। निमिष मात्र में अमृत जैसे ज़हर हो उठा। अनमने से बोले, तुम चलो, मैं आता हूँ।'

लेकिन वे दोनों तो पहले ही चली गई थीं। न जाने क्या हुआ, चुम्बक की भाँति वह भी पीछे-पीछे खिंचे चले गए। अभी द्वार से इधर ही थे कि कहकहों की गूंज से उनका मस्तिष्क भर आया। उन्होंने सुना। उनका लाड़ला बेटा भवभूति कह रहा है, 'पापा तो अब म्यूजियम की वस्तु हैं पर आज इस रागिनी ने उन्हें जगा दिया।'

रागिनी हँसते-हँसते बोली, 'म्यूजियम ज्ञान का भण्डार होते हैं। वहाँ से जो ज्ञान प्राप्त होता है वही तो सर्वोत्तम है। मेरे थीसिस में प्राण पड़ गए हैं।'…

× × ×

आधा घण्टे तक राह देखने पर भी जब विनोदशंकर वहाँ नहीं पहुँचते तो सरला फिर उनको देखने आती है। पाती है कि पैरों पर लिहाफ डाले छत पर दृष्टि जमाये बैठे हैं। उस पीड़ित और क्लान्त दृष्टि में ऐसा कुछ है कि वह सह नहीं पाती। उससे झरती वेदना उसके हृदय के सातों पातालों को छेदती चली जाती है। और उसका सारा क्रोध तरल हो रहता है। पास आकर बड़े प्रेम से उनके कन्धे पर हाथ रखकर कहती है, 'क्या बात है ?'

विमूढ़ से विनोदशंकर दृष्टि छत से हटाकर पत्नी के मुख पर जमा देते हैं। वह काँपती है और वे जैसे कहीं गह्वर में से बोलते हैं, 'बैठो सरला।'

'चाय नहीं पियोगे।'

वह हँसते हैं, 'क्यों नहीं पियूंगा। पर उनके बीच में क्या अच्छा लगूंगा।'

सरला साहस बटोर कर कहती है, 'क्यों वे क्या अजनबी हैं। अपने ही बाल-बच्चे हैं और भगवान की कृपा से सभी…

हां, सरला मैं भी जानता हूँ वह अपने ही बच्चे हैं। प्रतिभाशाली भी हैं। ऊँचे-ऊँचे पदों पर हैं। मुझे उन पर गर्व भी है।···

और फिर छत पर दृष्टि गड़ाकर बोले, 'मोती सीप के गर्भ से जन्म लेते हैं परन्तु···जाने दो, हम इंसान हैं केवल हाड़ मांस के पुतले नहीं। तुम चाय यहीं भेज दो।'

1964

—11

बिम्ब प्रतिबिम्ब

रायबहादुर ने मानों सुदूर अतीत में झाँकते हुए कहा—'कमल, तुम्हारे पिता की याद मुझे कभी नहीं भूलती। सन्ध्या के झुटपुटे में जब अकेला बैठकर चुरुट के कश खींचा करता हूँ तो उनकी तेजस्वी आँखें मेरे सामने चमक उठती हैं। अभी तक उनका स्वर मुझे कभी-कभी सुनायी दे जाता है। मानो वे अपने सहज स्वाभाविक स्वर में कह रहे हों—'दीनानाथ, जिस तृष्णा के पीछे तुम भागे जा रहे हो, वह क्या कभी शान्त हो सकेगी ? तुम मर जाओगे, परन्तु वह भूत बनकर तुम्हारे भविष्य पर छा जायेगी। सन्यास मुझे प्रिय नहीं है, यह जीवन से भागने की वृत्ति है। परन्तु भोगों के आगे सिर झुका देना भी तो पराजय है। किसी भी अवस्था में मैं जीवन की पराजय स्वीकार न करूँगा। भोग तो भोगने के लिए हैं, परन्तु उसके पीछे हम अपने को क्यों भूलें ?'

कमलनाथ चुपचाप सुनता रहा। वह कुछ बोला नहीं।

सहसा रायबहादुर ने लम्बी साँस ली, मानों कोई घनीभूत पीड़ा उनके अन्दर कसक उठी हो। कमलनाथ ने बूढ़े रायबहादुर को एक बार ग़ौर से देखा। बिजली के प्रकाश में हल्की-सी काली रेखाएँ आँखों के नीचे चमक उठी थीं। उसने कहा, 'लेकिन चाचाजी, चरित्र की कठोरता पिताजी के जीवन की अपनी चीज थी। उस ओर वे बड़े निर्मम थे।'

'जानता हूँ, साथ ही यह भी मैं जानता हूँ कि इसका एक विशेष कारण था।' रायबहादुर ने आराम कुर्सी पर सीधे बैठते हुए कहा।

कमलनाथ को अचरज हुआ। उसने कहा, 'उनके जीवन में ऐसा कौन-सा कारण था जिसे मैं नहीं जानता ?'

रायबहादुर बोले, 'किसी के जीवन में क्या-क्या गोपनीय रहस्य भरे पड़े हैं, यह क्या कोई विश्वास कर सकता है। क्यों आशा करते हो कि तुम्हारे पिता के जीवन में ऐसी कोई बात नहीं थी जिसे तुम नहीं जानते। शायद सब बातें तो मैं भी नहीं जानता परन्तु वह बात मैं जानता हूँ, जिसने तुम्हारे पिता जैसे धार्मिक उदार व्यक्ति में भी निर्ममता भर दी थी और ऐश्वर्य-विलास के बीच में रहते हुए भी मेरी पत्नी को इतना धार्मिक बना दिया था।'

कमलनाथ ने धीरे से कहा, 'चाची की बात कहते हैं आप। जल में रहते हुए कमल के समान आपका भोग-विलास उन्हें छू भी नहीं गया था।'

'लेकिन बाहर का कोई भी व्यक्ति क्या यह कह सकता था कि इन्द्राणी धार्मिक है…?'

'जी नहीं।'

'बेशक, नहीं कह सकता कमलनाथ! और इसका कारण भी वही था जो तुम्हारे पिता को निर्मम बनाये हुए था।'

'लेकिन क्या आप कृपा कर वह कारण बता सकेंगे?'

'उसे बताने के लिए ही तो इतनी बात कह गया हूँ बेटा! आज उन दोनों में से कोई भी जीवित नहीं, इसलिए कह देने से उनका अकल्याण होगा, वह चिन्ता मुझे नहीं है। इन्द्राणी ने अपने जीवन में कभी मुझ से विश्वास-घात किया या मुझ पर शंका की, यह कह कर उस स्वर्गीय आत्मा का मैं तिरस्कार नहीं करना चाहता। परन्तु यह सच है कि उन्होंने मुझे अपने मन में अपना पति नहीं वरण किया था। वे किसी और से प्रेम करती थीं, पर उसे वे कई कारणों पा नहीं सकी थीं।'

यह कहते-कहते रायबहादुर का स्वर गिरने लगा। उनकी वाणी शिथिल हो आई। कमलनाथ ने अचरज से देखा। फिर पूछा, 'लेकिन पिताजी इस बात को जानते थे!'

रायबहादुर मुस्कराये, 'जानते थे कमलनाथ! तुम्हारे पिता ही तो वह व्यक्ति थे, जिन्हें इन्द्राणी ने तन-मन से अपना पति वरण किया था।'

कमलनाथ पर मानों गाज गिरी, अचकचा कर कहा, 'यह क्या कहते हैं आप?'

'चौंकने की बात नहीं बेटा! यह बात सच है। इन्द्राणी, जब आर्य विद्यालय में पढ़ती थीं, तब तुम्हारे पिता उसी नगर में थे। नये समाज के स्वतन्त्र वातावरण में दोनों पले थे। लेकिन दुःख यही था कि उन लोगों के माता-पिता पुरातन की ज्योति से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सके थे। जाति के प्रश्न पर आकर उनका प्रणय-बंधन खण्ड-खण्ड हो गया। इसके बाद अनेक

वर्ष बीत गये। और शायद दोनों प्रणयी उस बात को भूल गये। अक्सर ऐसा ही होता है। परन्तु अचानक जब मेरी बदली इधर हुई तो तुम्हारे पिता भी यहीं थे। मैं उन्हें नहीं जानता था, वैसे मेरी मित्रता उनसे हो चुकी थी। उनकी स्पष्टवादिता और चरित्र की निर्मलता का मुझ पर असर पड़ा था। एक दिन मैंने कई मित्रों को अपने घर डिनर पर निमन्त्रित किया। मैं लन्दन में दस वर्ष रह चुका था। मेरा जीवन एकदम विलासमय था। इन्द्राणी मेरे साथ थीं। पार्टी में और भी स्त्रियाँ थीं। परन्तु जैसे ही इन्द्राणी की दृष्टि तुम्हारे पिता पर पड़ी तो वे ठगी-सी देखती रह गईं। ठीक उसी समय तुम्हारे पिता ने उन्हें देखा। वे उठ खड़े हुए। मेरी पत्नी भी उठी, मुस्करायी बोली, 'आप यहाँ है ?'

तुम्हारे पिता मि० चन्द्रकिशोर के हाथ जुड़ गये। इन्द्राणी बोलती रही 'और आपने अभी तक खबर नहीं दी।'

'चन्द्रकिशोर ने बरबस मुस्करा कर कहा, 'मैं जानता नहीं था कि तुम यहाँ हो सकती हो ?'

इन्द्राणी बोली, 'अब तो जान गए न। भूलियेगा नहीं। कौन-कौन हैं घर पर। माँ हैं···?'

'माँ अभी जिन्दा हैं, इन्द्राणी।'

'और···!'

'और तुम आकर देख सकती हो। घर तो तुम्हारा ही है।'

'इन्द्राणी ज़ोर से हँसते हुए बोली, 'बेशक भैया, बहन कहीं भी जाय, अपना घर उसे नहीं भूलता।'

'सुनकर चन्द्रकिशोर हँस पड़े। बातें और भी हुईं। नतीजा यह हुआ कि तुम्हारे पिता मेरे और भी नज़दीक आ गये। मैं तब स्वप्न में भी नहीं जानता था कि एक दिन वे एक-दूसरे के प्रणयी रह चुके हैं।'

'यह कब जाना आपने ?' कमलनाथ आप-ही-आप बोल उठा।

'बहुत वर्षों बाद। चन्द्रकिशोर ने मुझे खुद ही बताया, परन्तु तब इन्द्राणी इस दुनियाँ में नहीं रही थी।'

'और आपने इस पर विश्वास कर लिया।'

'तुम्हारे पिता का अविश्वास करने की बात मेरे मन में कभी उठी ही नहीं, और बेटा अविश्वास करता भी तो क्या होता। ईर्ष्या का शिकार जिसे होना था, वह तो इस दुनिया में था ही नहीं। जीते-जी तुम्हारे पिता को उसने सदा भाई करके माना था। राखी बाँधा करती थी। ऐसी हालत में अविश्वास किसका करता और क्यों करता ?'

फिर क्षण भर रुककर उन्होंने कहा, 'लेकिन एक बात अब मैं पहचान पाया हूँ। वह यह कि इन दोनों में जो गहरा आकर्षण था, उसने इन दोनों को कभी भी मुख से मौन नहीं किया होगा। इसी कारण ये दोनों इतने गहरे धार्मिक और निष्ठावान् हो उठे थे। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है, कमल-नाथ !'

कमलनाथ ने इतना ही कहा, 'शायद...!'

'शायद नहीं, यह मैं ठीक कहता हूँ कमलनाथ ! आज इन दोनों का चरित्र जब मेरे सामने आ जाता है तो मेरा विश्वास और भी पक्का हो जाता है। लेकिन इस पर शंका करके अब मैं अपने जीवन की सन्ध्या को और अधिक काला नहीं करना चाहता।'

कमलनाथ ने स्वाभाविक अचरज से पूछा, 'लेकिन क्या आपने उनके चरित्र में कोई त्रुटि देखी थी, चाचा जी ?'

रायबहादुर विद्रूप से हँसे, 'उनका सारा जीवन ही एक बड़ी भारी गलती था। अपनी उमंगों की राख पर इन्द्राणी ने मेरे लिए सुख का जो महान् भवन निर्मित किया, उसे क्या मैं ठीक कह सकता हूँ। इस आत्म-समर्पण में मात्र कोरी अवशता ही मैं देख पाता हूँ। यह त्याग तो मुझे व्यभिचार से भी भयपूर्ण जान पड़ता है।'

'लेकिन', कमलनाथ ने कहा, 'इसमें उनका तो कुछ भी दोष नहीं था। समाज की व्यवस्था...'

'समाज की व्यवस्था...!' रायबहादुर फिर उठ बैठे और उन्होंने तीखे होकर कहा, 'कमलनाथ, जिसे तुम समाज कहते हो, वह क्या व्यक्ति के बिना कुछ चीज़ है ! वह तो जन्म-मरण को जीवन से अलग करने जैसी बात है...।'

रायबहादुर आगे बोलते कि कमलनाथ जोर से कह उठा, 'वह देखो चाचाजी, इरा तो लौट भी आयी।'

'इरा लौट आयी ?' रायबहादुर ने उठते-उठते कहा।

'जी, हमें बातें करते देर भी तो बहुत हो गई...!'

'देखो, कमलनाथ, इस बात का ज़िक्र इरासे मत करना। इरा मेरे जीते-जी इस बारे में कुछ जाने यह मैं नहीं चाहता।'

'समझता हूँ, चाचाजी !'

इतने में एक कार सामने आकर खड़ी हो गई। शीघ्रता से शोफ़र ने उतरकर पीछे का दरवाज़ा खोल दिया। सलवार और कुरता डाले एक नव-युवती बाहर आ गई। यही इरा थी। उसका सुन्दर मुख बिजली के प्रकाश

में मुखरित हो उठा। ओठों की लाली, कानों के कर्णफूल और वालों के जूड़े का लम्बा सुनहरी पिन सोने पर सुहागे की तरह और प्रकाशमान हो उठा। वह सीधी खट-खट करती रायवहादुर के पास चली आयी। हँसते-हँसते बोली, 'देर हो गयी डैडी!' फिर मड़ कर कहा, भैया, तुम अभी यहीं हो...!'

रायवहादुर बोले, 'देर की कोई बात नहीं, इरा। खाने में अभी देर है। रमणीक कहाँ है?'

'घर चले गए।'

'यहाँ ले आती उन्हें, कमलनाथ था, खाना खाते सब मिलकर।'

इरा ने कहा, 'भैया इतनी देर बैठेंगे, यह मुझे पता नहीं था। और ये तो उन्हें खूब जानते हैं।'

'जी हाँ,' कमलनाथ ने कहा, 'मैं रमणीक को खूब जानता हूँ। ही इज ए परफ़ैक्ट जैन्टलमेन एंड...।'

इरा मुस्करायी, 'तुम तो भैया हर वक्त मजाक करते हो!'

रायवहादुर और कमलनाथ एक साथ हँस पड़े, 'इसमें मज़ाक की क्या बात है, इरा?' रायवहादुर कहते गये, 'सुनो इरा, कमलनाथ कहते हैं कि रमणीक सब तरह इरा के लिए ठीक है। अब इन दोनों का विवाह हो जाना चाहिए।'

'हटो-हटो!' इरा ने विद्रूप से कहा, 'भैया बड़े शरारती हैं।'

फिर जाते-जाते रुककर कहा, 'डैडी, भैया बार-बार मेरे विवाह की बात इसलिए कहते हैं कि इन्हें अपने विवाह की चिन्ता है। क्यों, ठीक है न भैया?'

सुनकर दोनों इतने जोर से हँसे कि आगे की बात हँसी के शोर में खो गई और इरा तब तक खट-खट करती हुई दूर चली गई।

कुछ देर गम्भीर रहने के बाद रायवहादुर ने कमल से पूछा, 'क्या तुम सचमुच रमणीक को इरा के उपयुक्त समझते हो!'

'बिल्कुल उपयुक्त, चाचाजी!'

'कैसे?'

'इरा उसे बेहद प्रेम करती है न।'

'तब तो मैं कल ही इन दोनों को साउण्ड करूँगा। काफ़ी दिनों से साथ घूम-फिर रहे हैं।'

× × ×

इसके अगले दिन ही कमल कार्यवश बाहर चले गए। बाहर जब जाते ।ो महीनों नहीं लौटते। घर पर मा अकेली रहती। इरा कभी-कभी चक्कर लगा आती। कभी-कभी रायबहादुर भी आकर चन्द्र किशोर की चर्चा चला जाते। कभी माँ स्वयं उनके बंगले पर चली जाती। परिवार की पुरानी घनिष्ठता में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आया था। इस बार भी इसी तरह चलता रहेगा, यह सोच कर कमलनाथ घर आने में ढील पर ढील करते रहे। लेकिन एक दिन सवेरे ही सवेरे माँ का तार उन्हें मिला—'एकदम घर लौटो।'

कमलनाथ के परों के नीचे से जमीन खिसक गई। माँ अब चली, यही एक बात उसके दिमाग में उभर आयी और बस फिर आँसुओं की उमड़-घुमड़ ने उन्हें आगे न कुछ देखने दिया न सोचने। जैसे खड़े थे, लौट पड़े। ।र जब पहुँचे तो माँ अंदर कमरे में लेटी थी। पुकारा, 'माँ!'

माँ ने गद्गद होकर कहा, 'आ गए बेटा।'

'हाँ माँ, आता क्यों न। पर बात क्या है? तुम ठीक तो हो?'

माँ ठीक थी, यह समझते कमल को देर नहीं लगी। लेकिन उनकी वाणी ं कोई दर्द भरा था, यह भी उससे छिपा न रहा। पूछा, 'तार क्यों दिया ा, माँ?'

'वह भी बताऊँगी। तू जरा सुस्ता तो ले।'

'आखिर···?'

माँ ने कहा, तेरे चाचा पर एक बड़ी विपत्ति आ पड़ी है।'

'चाचाजी पर? इरा बीमार है क्या?'

'बीमार से भी ज्यादा।'

'यानी?'

'उसका भाग्य फूटा है कमल।'

'क्या···?'

'हाँ कमल, रमणीक ने इरा स व्याह करने से इन्कार कर दिया।'

कमल का हृदय एकदम धक्-धक् कर उठा—धक्-धक्-धक्!

माँ ने फिर कहा, 'तुम्हारे जाने के बाद एक दिन रायबहादुर आये थे। ोले, 'भाभी, इरा का विवाह पक्का समझो। रमणीक ने हाँ भर ली है। मलनाथ भी रमणीक को पसन्द करते हैं।'

'बेशक!' कमलनाथ ने बुत की तरह कहा, 'रमणीक इतना सुन्दर, ना सज्जन और फिर इरा भी उसे इतना प्रेम करती थी कि शायद ही ई स्त्री किसी पुरुष से प्रेम करती हो।'

'यही तो रायबहादुर भी कह रहे थे बेटा। पर अचानक ही इलाहाबाद जाकर रमणीक के पिता ने लिख भेजा—'उन्हें दुख है कि वे यह विवाह-सम्बन्ध करने में असमर्थ हैं।'

'क्यों ?'

'क्यों ? क्योंकि उनकी और रायबहादुर की जाति नहीं मिलती।'

'तो रमणीक ने कुछ नहीं कहा ?'

'कुछ भी नहीं। सुना है, इलाहाबाद में कोई जज हैं, उनकी लड़की से उसका सम्बन्ध पक्का हुआ है।'

'बदमाश !' कमल गुस्से में भर कर बोला 'उसको जरूर शूट कर देना चाहिए।' और फिर एकदम उठकर कहा, 'मैं अभी जाऊँगा।'

'कहाँ ?' माँ चौंककर बोली।

'चाचाजी के पास। वे बहुत दुःखी होंगे।'

'दुःखी! वे तो एक दिन में ही बूढ़े हो गए। मुँह पर झुरियाँ उभर आयीं हैं, और इरा, उसकी तरफ तो देखने की भी मुझ में शक्ति नहीं है। खिलते हुए फूल को जैसे झंझा के झोंकों ने झुलसा दिया हो···।'

कमल ने आगे नहीं सुना।

वह सीधा रायबहादुर के बंगले पर पहुँचा। तब तक सन्ध्या आ चली थी। चारों तरफ सुस्ती थी, सन्नाटा था, परन्तु बंगले के सन्नाटे ने तो कमल के प्राण ही कंपा दिये। उसने बैठक के दरवाजे पर रुक कर पुकारा, 'चाचाजी···।'

अन्दर से उसी तरह गम्भीर आवाज़ आयी, 'कमल, आओ बेटा !'

कमल किवाड़ खोलकर अन्दर चला गया, लेकिन चाचाजी पर जैसे ही उसकी दृष्टि पड़ी तो वह हतप्रभ-सा देखता रह गया, न बोल सका, न बैठ सका।

'बैठो बेटा।' रायबहादुर ने कहा और आप उठ खड़े हुए, 'जानता हूँ तू सब सुन चुका है, लेकिन···।'

आगे उनसे बोला नहीं गया। कुरते से आँखें पोंछ लीं।

'इरा कहाँ हैं ?' भर्राए हुए गले से कमल ने पूछा।

रायबहादुर ने उंगली से एक पलंग की तरफ इशारा कर दिया। कमल तब तक देख ही नहीं सका था कि उसके पास ही पलंग पर इरा भी पड़ी है। अब आंखें फाड़-फाड़ कर देखा—क्या यह सचमुच ही वही इरा है !—पैरों को पेट में समेटे, दोनों हाथों से मुंह ढके, गठरी-सी पड़ी, साड़ी अस्त-व्यस्त, बाल उलझे हुए, आंखों की चमक और ओठों की लाली

सब फीकी पड़ गई थी !

'इसे समझाओ।' रायबहादुर ने कहा और चले गए। कमलनाथ तब अपने को संयत बनाकर उसके पास जा बैठा। पुकारा, 'इरा···!'

इरा रोती रही।

'इरा, इधर तो देखो···।'

'भैया···!'

'मुझे मौत भी नहीं आती।'

'मौत आयेगी, लेकिन तुम्हें नहीं रमणीक को। मैं उसे शूट कर दूंगा।'

इरा चौंक कर उठी, 'क्या कहा भैया ?'

'बेशक इरा, तुम्हें दुखी करके उसे जीने का कोई हक नहीं है। उसकी मौत मेरे हाथों है, मैं उसे जरूर शूट करूँगा।' कहते-कहते उसका स्वर तेज हो आया, आँखें चमक उठीं और हाथ इस तरह सन्तुलित हो गए मानो सामने शिकार बैठा हो। लेकिन दूसरे ही क्षण आप-ही-आप फिर ढीला पड़ गया। उसने पूछा, 'लेकिन इरा, यह हुआ क्या ?'

'जो होना चाहिए था।'

'रमणीक से मुझे ऐसी आशा नहीं थी।'

इरा बोली, 'रमणीक के प्रेम पर मैं शंका नहीं करती भैया। परन्तु दुनिया के अधिकतर इन्सानों की तरह वह भी बुज़दिल निकला। यही दुःख मुझे सालता है और मैं सोचने लगती हूँ कि जो प्रेम करने का दावा करते हैं वे अगर इसी तरह बुजदिल होते हैं तो प्रेम करना पाप है, महापाप।'

'नहीं इरा, प्रेम करना कभी पाप नहीं है। यहाँ तुम भूलती हो। वह प्रेम नहीं बल्कि···।'

'मैं भूलती हूँ !' इरा ने चिनक कर तीव्र स्वर में कहा। उसकी आँखों से चिंगारियाँ निकलने लगीं, 'अगर प्रेम पाप नहीं है तो क्यों रमणीक को उसे ठुकराने की जरूरत पड़ी ? क्यों उसने चुपचाप एक ऐसी लड़की को अपनी संगिनी बना लिया जो मुझ से ज़्यादा खूबसूरत, मुझसे ज़्यादा धनी भले ही हो, परन्तु एकदम अपरिचित थी ? प्रेम क्या केवल सौन्दर्य और धनकी अपेक्षा करता है ? क्या घनिष्ठता का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है ? तुम शायद कह रहे थे कि वह प्रेम नहीं है, वासना है। भैया वासना की निन्दा करना आचा-रवानों ने अपना पेशा बना लिया है। परन्तु मैं पूछती हूँ, वासना के बिना, यौवन की पुकार के बिना भी प्रेम होता है। देश, धर्म, जाति, जीवन सभी का प्रेम उत्तेजना और उमंगों की अपेक्षा करता है। तुम जिस आध्यात्मिक प्रेम की दुहाई देते हो वह तो जीवन से मुँह मोड़ने की बात है और इसीलिए

बुज़दिली है। जिसे तुम वासना कहकर दिन-रात कोसा करते हो उसके विना भी क्या प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द या कर्त्तव्य का कोई मूल्य है। वासना और आसक्ति सब जरूरी है, वहुत जरूरी है ! केवल वात इतनी है कि हमें किसी का दास नहीं वन जाना है।'

इरा वोल रही थी और कमलनाथ उसके मुँह की तरफ देख रहा था। उसके अपने हृदय में एक भयंकर आन्दोलन मच उठा। वह वरावर चकित-विस्मित अपने आप पर झुँझला पड़ता, परन्तु वार-वार इरा की तीखी-तेज़ आँसुओं के क्रोध से भरी वाणी उसे जगा देती। वह सोचने लगता—वेदना ने इरा को पागल नहीं, वल्कि मनस्वी वना दिया है। लेकिन उसे इन वातों का उस समय कोई जवाव नहीं सूझ पड़ा। इतना ही वह वोला, 'कुछ भी हो, मैं एक वार रमणीक से मिलूँगा जरूर और पूछूँगा...।'

'नहीं !' इरा ने निश्चयात्मक ढंग से वात काटते हुए कहा, 'यह कभी नहीं होगा।'

कमल उठ खड़ा हुआ और उतना ही निश्चय-भरा वोला, 'यह जरूर होगा। उसे शूट करने की वात अभी मेरे मन से मिटी नहीं है, इरा !'

इरा भी उठी और उसके सामने आ खड़ी हुई। वोली, 'मेरी तरफ देखो भैया !'

'देख रहा हूँ।'

'वुज़दिल पर हाथ उठाओगे।'

'वेशक ! वुज़दिल को जीने का कोई हक़ नहीं है।'

'इरा वोली, 'लेकिन तव तो हम सब वुज़दिल हैं। और सुनो, इरा अभी भी उस वुज़दिल से प्रेम करती है...'

और इतना कहती फिर एकदम पलंग पर गिर पड़ी। उसकी सिसकियाँ फिर उमड़ आईं। कमलनाथ घवराकर उसके पास ही वैठ गया। वोला, 'यह वात है तो इरा, विश्वास रखो, मैं नहीं जाऊँगा। मैं तो केवल तुम्हारे दुःख के कारण ही यह सव कह रहा था।'

× × ×

इस घटना के कारण दोनों परिवारों में वहुत दिन तक एक मातम-सा छाया रहा। लेकिन जीवन के सभी कामों में वे लोग सदा की भाँति हिस्सा लेते रहे। हाँ, अव उनमें प्रेरणा नहीं थी। लगता था जैसे मशीन में जव तक तेल है, तव तक उसे चलते ही रहना है। लेकिन इनमें से सवसे वढ़कर परिवर्तन कमलनाथ में दिखायी पड़ा। इरा धीरे-धीरे दर्द को पीने लगी, पचाने

भी नहीं। बूढ़े रायबहादुर केवल बेटी के लिए जीते थे उनका अपना अस्तित्व बहुत दिन बीते मिट चुका था। इरा हँसती तो वे अट्टहास कर उठते। वह जरा से म्लान होती तो वे पागल हो उठते। कमलनाथ की माँ को जरा कम नहीं था। परन्तु वह आखिर उन स्त्रियों में से थी, जो इन बातों को ज्यादा महत्त्व नहीं देतीं। विवाह होना है, कमलनाथ नहीं तो कोई और होगा। कुछ जरे की सीमा है। वह ऐसे कारणों को लेकर, जो आसानी से दूर हो सकते हैं, अधीर क्यों बनें। एक दिन बातों-बातों में उसने कमल से कहा, 'इरा के लिए अब दूसरा वर ढूँढने में देर नहीं करनी चाहिए।'

कमल बोला, 'सो तो करना ही होगा। पर माँ, इरा जैसी लड़की का विवाह जबरदस्ती किया जा सकता है क्या ?'

माँ ने कहा, 'यह मैं जानती हूँ। परन्तु इतनी मुसीबत उठाकर भी इरा को इतनी आजादी देना क्या ठीक होगा ?'

'यह तो उसकी अपनी बात है माँ। और फिर...।'

माँ बिना सुने ही दीर्घ निःश्वास लेकर बोल उठी, 'अगर इन्द्राणी की बात मान ली जाती तो क्यों यह दिन देखना पड़ता !'

कमल चौंका, 'क्या बात ?'

माँ ने कहा, 'एक दिन इन्द्राणी मेरे पास आई थी। एकान्त पाकर उसने कहा, 'भाभी, इरा को अपने घर की बहू बना लो।'

कमलनाथ का दिमाग झनझना उठा। स्तम्भित-चकित होकर उसने कहा, 'क्या कहती हो माँ ?'

'ठीक कहती हूँ, कमल। इन्द्राणी ने ही यह कहा था। लेकिन जब तुम्हारे पिता ने सुना तो आँखों में खून उतर आया। बोले, 'आज के बाद स्वप्न में भी इस बात की चर्चा मत करना। कमल जीवन-भर इरा को बहन समझे, यही मैं चाहूँगा...'

माँ क्षण भर के लिए रुक गई। कमल न जाने कैसा हो आया। पागलों की तरह देखने लगा। दिमाग में एक अजीब झन-झनाहट मच उठी।

× × ×

इसके बाद एक दिन सबने आश्चर्य से सुना कि कमलनाथ सिटी क्लब का मेम्बर बन गया है। एक मित्र बोले—अचरज, कमलनाथ क्लब का मेम्बर बना है !

दूसरे ने कहा—जी, कुछ पैसा कमाया है उसने ?

तीसरा मुस्कराया—बेशक, पैसा है तो क्लब की जरूरत स्पष्ट है। अभी

ब्रिज, कभी एकाध ह्विस्की का पेग और···

इस पर मित्र हँस पड़े—बड़े आदमियों की बातें बड़े आदमी ही जानते हैं।

लेकिन इस बात को जब माँ ने सुना तो बोली—अच्छा है। बड़ा दुखी रहता है आजकल, जी बहलेगा। रायबहादुर को भी उसके क्लब का मेम्बर बनने में कोई एतराज नहीं था। उल्टे, अधिकारियों से परिचय बढ़ेगा, यह उनकी राय थी। लेकिन इन सबसे परे इरा ने सुना तो वह एकदम काँप उठी। अच्छे-बुरे की कोई स्वीकृति उसकी जबान से नहीं निकली। रायबहादुर और रमणीक के साथ वह स्वयं अनेक बार क्लब जाती रही है। परन्तु कमल के क्लब जाने की बात सुनकर न जाने क्यों उसका दिल बैठ गया। मानों कोई अप्रत्याशित दुर्घटना हो गई है, जिसे वह स्मरण करने की कोशिश करके भी जान नहीं पा रही है।

स्वयं कमलनाथ ने अपने अभिन्न मित्र अविनाश से कहा, 'जीवन में क्लब का अपना स्थान है। जीने के लिए क्लब बहुत जरूरी है। मन बहलाने को कभी ब्रिज खेलना, दुख-दर्द भूलने के लिए कभी वाइन का एकाध पेग पी लेना यह सब आवश्यक है।'

और फिर हँसकर बोला, 'और तो सब ठीक है, लेकिन कम्बख्त क्लब वाले मुनाफ़ा बड़ा खाते हैं। बाजार में जो चीज एक आने की मिलती है, उस के वे पूरे चार आने वसूल करते हैं।'

अविनाश ने कहा, 'सरविस की कीमत भी तो है। दिल बहलाने की बात क्यों भूलते हो। मिक्स्ड क्लब में दिल की आग बुझाने के लिए कुछ और भी शरीफ़ाना साधन मोहय्या किये जाते हैं।'

कमलनाथ बड़े जोर से हँसे, 'बड़े शैतान हो तुम ?'

'देख लेना !' अविनाश भी हँसे, 'वहाँ और है ही क्या ? क्लब में लोग कुछ पाने के लिए नहीं बल्कि खोने के लिये जाते हैं।'

'शायद···लेकिन तब तो···'कमलनाथ इतना कहते चुप हो गए। परन्तु बहुत जल्दी ही वह खुद भी इस बात को महसूस करने लगे कि अविनाश का कहना ज्यादा ग़लत नहीं था।

वह स्वयं अपने जीवन में रस लेने लगे हैं। उन्हें जैसे दुनिया से डर लगता है। माँ के पास ज्यादा बैठना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वह अक्सर विवाह की चर्चा चला देती हैं। इरा के पास जाने में भी उनके प्राण काँपने लगते हैं। दिल धक्-धक् करने लगता है। उन्हें लगता है कि इरा के विश्वासघात के लिए वे भी दोषी हैं। लेकिन इरा धीरे-धीरे सब दुःख भूल चली

है। हँसती है, खेलती है, बाहर घूमने जाती है और कभी-कभी, सुनने में आता है, वह शिकार भी खेलती है। कई मित्र भी उसके पास आते हैं। उसके लिए यह सब स्वाभाविक है, जरूरी है। पर कमलनाथ सोचता है इरा मर चुकी है। यह तो उसकी लाश है जो नियम में बंधी सब काम किये जाती है। सोचते-सोचते वह दर्द से भर उठता है और बस दर्द को मिटाने के लिए वह फिर क्लब में रस लेने लगता है। इन्हीं दिनों उसने यह भी देखा कि स्थानीय नये सब जज अक्सर रायबहादुर के बंगले पर आया करते हैं।

यही बात एक दिन जब अविनाश ने कही तो उसने एकदम पूछा, 'क्यों आते हैं ?'

'क्योंकि इरा उसे पसन्द करती है।' अविनाश ने जवाब दिया।

जैसे कमल के दिमाग पर किसी ने हथौड़ा मार दिया हो। सन्ध्या को क्लब न जाकर सीधे बंगले पर पहुँचा। बरामदे में सब जज के साथ इरा खड़ी थी। पहचान न सका। नई रेशमी साड़ी, हिलते अर्धचक्राकार कानों में कर्ण-फूल, जूड़े का लम्बा सुनहरी पिन, होठों की लाली, मनोहर मुस्कराहट, कमल को देखा तो खिल उठी, 'बड़े दिनों में आये भैया ! कहाँ रहते हो ?'

कमल ने बरबस हँस कर कहा, 'काम बहुत है आजकल। लेकिन तुम कहीं जा रही हो क्या ?'

इरा बोली, 'हाँ, क्लब जा रही थी। मिस्टर मोहन बहुत जिद करने लगे।'

फिर मुड़कर कमल से उनका परिचय कराया, 'आप हैं मिस्टर मदन मोहन मित्तल, सब जज।'

कमल हँसा, 'जानता हूँ इरा।'

मिस्टर मित्तल भी हँसे, 'कमलनाथ को कौन नहीं जानता ! आई हैव नेवर सीन सच ए ब्राड माइन्डेड फैलो।'

सुनकर इरा गद्गद् हो उठी, पर कमल जैसे बुझ चला। इरा ने कहा, 'चलो भैया, हमारे साथ चलो !'

कमल चौंका। 'क्लब ?...'

'हाँ।'

'नहीं इरा, आज तो क्लब जाने का इरादा नहीं है। कल दौरे पर जा रहा था। सोचा, मिलता चलूँ।'

'कल ही जा रहे हो ?' इरा ने अचरज से पूछा।

'हाँ।'

'तो जरूर क्लब चलो। लौट कर यहीं आयेंगे। खाना खाकर तब जाना क्यों ठीक है न, मिस्टर मोहन ?'

'ओह, यस, वेरी नाइस। कम ऑन इरा, कम ऑन कमल।'

यह कह कर वह आगे बढ़ गये। कमल मना नहीं कर सका, लेकिन आज उसे अपने पर विजय पाने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। आखिर वे क्लब पहुँचे, वहाँ पहुँचकर जैसे कमलनाथ को रास्ता मिल गया। ज़रा-सी देर में ब्रिज और वाइन के ग्लास ने उसकी समस्या हल कर दी। वह अपने को भूल गया। पर तब भी बीच-बीच में न जाने क्यों वह आँख बचाकर इधर-उधर देखने लगता था। जब दिल में पाप घुस आता है तो मन सीधा नहीं देख सकता। ब्रिज के पत्ते देखते-देखते कमल ने पक्के खिलाड़ी की तरह कनखियों से देखा कि इरा उठी और बाहर चली गई। उसके पीछे मिस्टर मोहन मित्तल भी उठे। साथ ही कई मेम्बरों की आँखें भी उधर घूम गयीं। शैतान की मुस्कराहटें उनके मुख पर खिल उठीं। कमलनाथ का दिमाग एक दम घूम गया। पत्ते बड़े जोर से दूर फेंक दिये और पुकारा, 'ब्वाय, ब्वय !'

जब वह क्लब से बाहर निकला तो उसके दिमाग की अस्त-व्यस्तता एक अजीब क्रम में बंध चली। विचारों के तेज़ प्रवाह ने उसे आलोड़ित कर दिया। उसे इरा और मदन मोहन की याद हो आयी और न जाने क्यों उसे विश्वास होने लगा कि यह मिस्टर मित्तल जरूर शैतान आदमी है, बदमाश है, भोली-भाली लड़की को जाल में फँसा रहा है।

नहीं, नहीं ! वह काँप गया। नहीं, यह हरगिज़ न होगा।

नहीं, नहीं होगा ! सहसा उसका अपना मन ही तर्क कर बैठा, कैसे नहीं होगा ? तुम कैसे रोक सकोगे ?

हाँ, मैं रोक सकूँगा। मैं अभी इरा को सचेत करूँगा कि वह धोखे में न फँसे।

लेकिन तुम सचेत करने वाले कौन ?

कौन···?

हाँ, तुम कौन जो उसे सचेत कर दोगे ?

मैं उसका भाई हूँ। वह मेरी बहन है। पिताजी मरते-मरते मुझे उसकी रक्षा करने का आदेश दे गये थे। अपने स्वर्गीय पिता की आत्मा को मैं दुखी नहीं होने दूँगा। मैं अभी उसके पास जाऊँगा।

और सचमुच वह सीधा रायबहादुर के बंगले पर पहुँचा। रात के ग्यारह

बजे थे। चारों तरफ सन्नाटा था। बिजली के धुँधले प्रकाश के कारण अंधेरे में एक धुन्ध-सी फैल रही थी। ऊपर तारों का संसार झिलमिल-झिलमिल कर रहा था। हवा में हल्की ठंडक थी। लेकिन वह अपनी धुन में मस्त था। उसे वातावरण का जरा भी ध्यान नहीं था। रायबहादुर के बंगले से निकल कर एक कार तेज़ी से उसको हिलाती हुई पास से निकल गयी।

'जरूर यह मिस्टर मित्तल होंगे।' वह पीछे हटता-हटता फुसफुसाया। फिर आप-ही-आप उसकी मुट्ठियाँ भिंच गयीं। दाँत किटकिटा उठे। लगा जैसे मित्तल उसके सामने खड़े हों और वह उनका गला धीरे-धीरे दबा रहा हो।

बेशक ! सोचता-सोचता वह बोला, 'बेशक, मैं उसका गला दबा दूंगा। मैं उसकी हत्या करूँगा।'

वह एकदम मुड़ा कि इरा के पास न जाकर पहले मिस्टर मित्ताल को ही खत्म कर दिया जाय। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसरी।

तभी किसी ने कोमल परन्तु चौंके- से स्वर ने पुकारा, 'भैया !'

कमल बड़े भयंकर वेग से काँप गया, माऩो उसने भूत देखा हो। बोला, 'इरा…?'

इरा अब सामने आ गयी। लज्जित-सी क्षमा के स्वर में बोली, 'मिस्टर मित्ताल को काम था और तब तुम्हें मैंने टोकना ठीक नहीं समझा।'

कमल ने बरबस अपने को समेटा। बोला, 'तुमने ठीक किया इरा। तब मैं बहुत व्यस्त था और मैं समझता हूँ मिस्टर मित्ताल अभी-अभी यहाँ से गए हैं।'

'हाँ।'

'तो मेरा ख्याल ठीक ही था।' कमलनाथ की मुद्रा फिर कठोर होने लगी।

इरा सकपका गयी, 'क्यों बात क्या है भैया। तुम ऐसे क्यों देख रहे हो ?'

अब तक वे बंगले के कम्पाउण्ड में आ चुके थे। गेट बन्द करते-करते कमल ने कहा, 'इरा, मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।'

इरा मुस्कराई, 'तो फिर ऐसे क्यों बोलते हो। आओ, अन्दर बैठेंगे।'

'नहीं इरा, बातें मीठी नहीं हैं। मैं यहीं ठहरना ठीक समझता हूँ।'

इरा फिर भी हँसी, 'बचपन में तुम सदा थप्पड़ मारकर ही प्यार किया करते थे, यह मैं भूली नहीं हूँ।

कमल बरबस ही मुस्करा उठा। लेकिन दूसरे ही क्षण वह मुस्कराहट कठोरता में बदल गयी। उसने एकदम कहा, 'इरा, क्या यह सब कुछ ठीक है ?'

"क्या कुछ ?......" इरा चौंकी।

"यही कि मिस्टर मित्तल......मेरा मतलब यह कि क्या तुम रमणीक को भूल गयी हो ?"

इरा का दिल बैठते-बठते रह गया। उसने पूछा "यह सब तुम क्यों पूछते हो ?"

"इसलिए कि रमणीक वाली घटना की पुनरावृत्ति न हो।"

"बस।"

"यह क्या कम है ? इसे क्या तुम कुछ भी नहीं समझती इरा ?"

इरा ने आँख उठाकर कमलनाथ को गौर से देखा। फिर बोली, "तुम्हारे दर्द को जानती हूँ, भैया ! परन्तु कहती हूँ, रमणीक वाली घटना की पुनरावृत्ति अगर होनी ही है तो मैं अभी से उसकी चिन्ता क्यों करूँ ?"

"चिन्ता करनी ही होगी इरा ! मुझे यह हरजाईपन अच्छा नहीं लगता।"

यह शब्द कमल के मुँह से निकले कि दोनों ही भयंकर वेग से काँप उठे। शब्दों में जो कठोरता भरी थी, उसने दोनों हृदयों को चोट पहुँचायी।

इरा ने गाढ़े स्वर में कहा, "ऐसी शंका करोगे तो मेरे लिए रस्सी का प्रबन्ध कर दो।"

"किस लिए ?"

"इसलिए कि हरजाई बनकर तुम्हें मुँह दिखाने से पहले ही मैं अपना मुँह काला कर लूँ।"

"और साथ ही अपने भैया और बूढ़े पिता को भी सदा के लिए नरक-यातना में तड़पने को छोड़ जाओ !"

इरा पहले तो काँपी फिर सहसा हँस पड़ी। बोली, "बस इतनी-सी बुद्धि है तुम्हारी ? एक अबला पर इतना बड़ा लांछन लगाकर उसकी जरा-सी धमकी भी न सह सके। जिसके हृदय में आज भी छलकता हुआ प्रेम भरा पड़ा है, वह क्या खाकर आत्म-हत्या करेगी ? यह क्या तुम सोच भी नहीं सके ?"

कमल तब चकित-विस्मित इस विचित्र नारी को देखता ही रह गया और क्रोध के स्थान पर उसका मन अमित प्रेम से उमड़ आया। हँस कर

वोला, "इतनी वड़ी बुद्धि तुम में है इरा, तो मुझे कुछ नहीं कहना है। मैं जाता हूँ।"

और वह मुड़ चला। इरा बोली, "बहुत रात हो गयी, डर लगता होगा, मैं साथ चलूं।

कमलानाथ वेतरह चंचल हो उठा। उसने कहा 'नहीं-नहीं इरा, मैं चला जाऊँगा।'

इतना कहकर वह बिना पीछे देखे दरवाजा लाँघकर वाहर चला गया और इरा वहीं खड़ी-खड़ी देर तक उस धुँधले प्रकाश में कमल की छाया-मूर्ति को मिटते देखती रही। सहसा पीछे से रायवहादुर ने कन्धे पर हाथ रखकर कहा—"रात वहुत वीत गयी वेटी, चलो, अन्दर।"

इरा ने अब मानो साँप देखा। चीख निकलते-निकलते रह गई। फिर न जाने क्या हुआ, उनकी छाती से लिपट कर फफक-फफक रो उठी।

रायवहादुर इतना ही वोले, "सब जानता हूँ वेटी ! लेकिन काश कि तुम लोग अपने को पहचान पाते !"

इरा सुबकती-सुबकती वोली, "डैडी···!"

"आओ, अन्दर चलो इरा···!"

× × ×

सन्ध्या को अविनाश जव घर आया तो कमल ने उससे रात वाली घटना का वर्णन किया और वोला, 'मैं सच कहता हूँ अविनाश ! अगर मिस्टर मित्तल तव मेरे सामने होते तो मैं जरूर उनका खून कर देता।'

'वेशक कमल, तुम ठीक कहते हो। ऐसा हो सकना असम्भव नहीं था।

'लेकिन मैं सोचता हूँ आखिर यह सब क्यों ? मित्तल के प्रति इतनी घृणा मुझ में क्यों भरी है ? क्यों मैं उसे अपना दुश्मन समझ वैठा हूँ।'

अविनाश मुस्कराया, 'यह मैं जानता हूँ, कमल !'

'तो वताओ अविनाश !' व्यग्र होकर कमल ने कहा, 'मैं तो इसे इरा के प्रति अन्याय ही समझ रहा हूँ और यही समझ कर मेरी आत्मा काँप रही है।'

अविनाश वोला, 'वता सकता हूँ परन्तु तुम सुन नहीं सकोगे।'

'आखिर ···'

'आखिर और आरम्भ यही है कमल कि तुम इरा से प्रेम करते हो।'

कमल हँसा, 'वस इतनी ही बुद्धि है तुम्हारी अविनाश ! इरा को प्रेम करता हूँ। आह ! अविनाश इरा मुझे प्राणों से भी वढ़कर प्यारी है। उसे

मैं अपनी बहन समझता हूँ। मेरे स्वर्गीय पिता का यह अन्तिम आदेश था कि मैं इरा को अपनी माँ की याद न आने दूँ।'

अविनाश झिझका नहीं, बोला, 'नहीं कमल, तुम गलती पर हो। तुम उसे बहन नहीं समझते।,

'और क्या समझता हूँ…?'

'प्रयसी'

'अविनाश ' कमल एकदम चीख उठा।

'मैं ठीक कहता हूँ, कमल।'

सहसा कमलनाथ का गला रुकने लगा। बोलने में उसे एकदम बड़ा परिश्रम करना पड़ा। उसने अटकते-अटकते कहा, 'तुम क्या कह रहे हो ? सच कहो अविनाश ; क्या तुम ठीक कह रहे हो ? नहीं-नहीं मैं जानता हूँ कि तुम मज़ाक कर रहे हो, तुम अपने हो। मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि इरा…'

अविनाश मुस्कराया, उसकी मुस्कराहट में तीव्र व्यंग्य भरा था। उसकी कुरसी की पीठ को अपनी बगल में जोर से दबाया और कहा, 'तुम मेरे लिए क्या हो कमल ; क्या यह बताने की जरूरत पड़ेगी ? इसीलिए मैं कहता हूँ भ्रम तुम्हें है, मुझे नहीं। तुम इरा को ठीक उसी तरह प्रेम करते हो जिस तरह प्रेमीं अपनी प्रेयसी को करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी मिथ्या अहंकार में फँसकर तुम उसे स्वीकार करने स इन्कार कर रहे हो, जबकि तुम्हारी आत्मा बारबार तुम्हें उस सत्य को पहचानने की चेतावनी दे रही है। इसीलिए तो इतनी विडम्बना तुम्हारे अन्दर मची है। बस इतना ही सच है, बाकी सब मिथ्या है।' इतना कहकर अविनाश उठा और जवाब की चिन्ता किये बिना बाहर चला गया। कमल हठात् ठगा-सा वहीं बैठा रहा। सोचता रहा, आखिर यह हुआ ? फिर एकदम उठ कर आप ही-आप बोला—'नहीं-नहीं, यह भ्रम है, केवल भ्रम है ! अविनाश पागल है, मूर्ख है।' और तब जोर से अपने कमरे के किवाड़ बन्द कर लिये। धीरे-धीरे वहीं टहलने लगा। बार-बार यही शब्द उसके मुँह से निकलते : 'नहीं नहीं, यह भ्रम है केवल भ्रम है।' और कहते-कहते वह फिर गहरे चिन्तन में डूब जाता। बाहर धीरे-धीरे सन्नाटा छाता गया। रात गहरी पड़ती गयी। धीरे-धीरे जेल के घण्टे ने 11-12 फिर। बजने की बारी-बारी से सूचना दी, लेकिन कमलनाथ उसी तरह कमरे के पीछे हाथ बाँधे घूमता रहा, सोचता रहा।

नहीं, नहीं, यह भ्रम है केवल…!

तीन भी बज गये। पहरुवे की हाँक तेज होती-होती दूर चली गयी फिर पास आ गयी, कमल थकने लगा उलझे बालों में उँगलियाँ फेरीं और पलंग पर जा बैठा, मशीन की तरह कपड़ा उठाया।

तो क्या अविनाश ठीक कहता है ?···इरा···इरा···! इरा··· पिताजी···!

सहसा वह फूट-फूट कर रो पड़ा। ऐसा कि घिग्घियाँ बंध गयीं और उन्हीं घिग्घियों के बीच में वह बड़बड़ाया—अविनाश ! तुम ठीक कहते थे, बिल्कुल ठीक कहते थे। लेकिन इतना जानकर क्या मैं किसी को मुँह दिखा कूंगा। कभी नहीं ! वह एकदम उठा और आगे बढ़कर उसने मेज की ड्राअर खोली। पिस्तौल बाहर निकाली। तभी बाहर दरवाजे पर किसी ने पुकारा, 'कमलनाथ !' ये रायबहादुर थे। फिर आवाज आयी, 'कमलनाथ, किवाड़ खोलो बेटा, दिन निकल आया है।'

सवेरे की पोशाक पहने चुरुट पीते हुए रायबहादुर ने अन्दर प्रवेश किया सबसे पहले पिस्तौल पर उनकी नजर पड़ी। एकदम बोले, 'ओ, यह बात है। कमलनाथ ! तुम अपने पिताजी से भी ज्यादा बुजदिल निकले !' कमल बिलकुल कोरा, बिलकुल खाली, उन्हें देखता रहा। वे फिर बोले, 'लेकिन अब इसकी जरूरत नहीं है कमल ; तुम्हारे एकनिष्ठ स्वर्गीय पिता ने अपने को धोखा देकर काफी दुःख उठा लिया। अब उस दुःख की छाया हमारे परिवारों पर सदा-सदा के लिए साँप बन कर छायी रहे, यह मैं नहीं चाहूँगा। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ। मुझ में अधिक दुख सहने की शक्ति नहीं है···'

इतना कहते-कहते वृद्ध रायबहादुर की आँखें भर आयीं, वाणी रुँध गयी। बड़ी कठिनता से इतना ही कहा, 'रात अविनाश ने मुझे सब कुछ बता दिया था। मैं यह बात नहीं जानता था, ऐसी बात नहीं। परसों भी इरा और तुम्हारी बातें मैंने सुनी थीं। उसे मैंने सब कुछ बता दिया है और अब मैं तुम्हारे पास आया हूँ कि चलकर उसे संभाल लो। ऐसा करने से तुम्हारे स्वर्गीय पिता को सन्तोष ही होगा, यह मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ।'

कमलनाथ तब अचरज और आत्मग्लानि से भरा-भरा यही सोच सका कि किसी तरह जमीन फट जाय और वह उसमें समा जाय।

1944, संशोधित 1962

12—

नफ़रत, केवल नफ़रत

आप वेश्याओं के यहाँ नहीं जाते क्योंकि आपको चरित्र के विगड़ जाने का डर है। वहुत-से लोग हैं जिन्हें लोक-लाज का डर है। कुछ लोग सम्भवः वेश्याओं की वीमारियों से डरते हैं। इसलिए वे उन नारियों के सजे हुए कोठों पर जहाँ स्वर्ग-नरक दोनों साकार है, चढ़ते हुए डरते हैं परन्तु उसी स्वर्ग के पास तंग गलियों में जहाँ का वातावरण सुनसान है, जहाँ माँस-मछली की या किसी मनचले पान वाले की एकाध दुकान नज़र आ जाती है, एक और वस्ती वसती है। उस रास्ते में जाते हुए कम से कम आपको लोक-लाज का डर नहीं लगता। आप नाक पर रूमाल लगाकर आँखें नीची करके उसमें वढ़े चले जाते हैं शायद आप मन ही मन कह उठते हैं—छी:, छी:, इस नरक में भी क्या मानव रह सकता है ? लेकिन इसी वस्ती में, जिसे आप नरक के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते, कुछ अजीव जीवधारी वसते हैं, जिन्हें स्वर्ग की भाषा में अप्सरायें और पृथ्वी की भाषा में वेश्याएँ कहते हैं, जो शरीर को सजाकर मोल पर चढ़ाती हैं, जो अपने ग्राहक को खुश करने के लिये सौन्दर्य के नाना उपकरणों का यथाशक्ति इस्तेमाल करती हैं।

वेशक आपने आँखें नीची कर रखी हैं, पर एक ही आवाज़ पर आप ऊपर देखने लगते हैं क्योंकि वह आवाज़ एक नारी की है जो शायद अपनी आत्मा के समस्त कोमल स्वर वटोरकर आपको पुकार रही है—ओ वावू ; इधर तो आ।'

'सुन वावू।'

'वात तो सुन।'

'इधर सुनो, वावू ;'

आप चौंकिये मत। वें सव आप ही को पुकार रही हैं। साहस करके जरा इनकी ओर देख भर लीजिये। ये आपको निगल नहीं जावेंगी। ये आपकी ही तरह मानव-मूर्तियाँ हैं, जिनको आपकी ही तरह भूख प्यास लगती है, जो आपकी ही तरह सोचती हैं और जिनका परमात्मा आपके परमात्मा की तरह सव जगह रमा है। भले ही रूप ने उन्हें धोखा दिया है। उनका रंग तवे से ज्यादा काला है ; आँखें वेहद छोटी या वड़ी हैं। नाक वीच में से दव गई है या ऊपर उठ आई है। गाल भीतर को पिचक गये हैं। पाउडर क्रीम भी वे लगाना नहीं जानती क्योंकि उनके गालों के नीचे का भाग वेहद सफेद और आँखों के आस-पास विल्कुल काला है। उनके दाँत जरूरत से ज्यादा पीले और हाथ-पैर या तो सींक से पतले या हाथी के पैर के समान मोटे हैं। गर्ज कि वे कुरूपता का साकार स्वरूप हैं परन्तु आप उन्हें कुरूप कह न वैठना। पापी को पापी कहने से क्या लाभ ? और फिर वे अपने को सवसे अधिक स्वरूपवान समझती होंगी। आपकी वात सुनकर उन्हें दुःख होगा। शायद न भी हो। शायद उनके दिल में किसी भले घर की खूवसूरत नारी को देखकर जलन पैदा होती हो। उनका अन्दर का मन वोल उठता हो—काश कि मैं भी उस जैसा रूप पाती तो कोठे पर वैठकर मनचले नौजवानों और विगड़े दिल रईसों को रिझा पाती। तव सम्भवः उन्हें अपने से नफ़रत होती होगी और वे अपनी कोठरी को आग्नेय नेत्रों से देखती होंगी जैसे कि शंकर ने कामदेव को देखा था। आप उन कोठरियों को वेश्याओं का शयन-मन्दिर क्रीड़ाकुंज, विश्राम भवन या भोजनालय या और जो कुछ आप जानते हैं कह सकते हैं लेकिन इससे वह साकार सत्य नष्ट नहीं हो सकता है। भले ही उनके दिल में टीस उठे या दरारे पड़ जावें। वह कोठरी, कोठरी ही रहेगी, जिसके एक कोने में एक पुराना पलंग या खाट पड़ी है और जिस पर यथाशक्ति सफेद चादर विछाई गई है। क्योंकि इसी पर तो ग्राहक का स्वागत-सत्कार होता है। यही उनका स्वर्ण पलंग या फूलों की सेज है जिस पर मोतियों की झालर का तकिया धरा है। इसी पलंग के पास कोठरी के वीचों वीच एक परदा डाल दिया गया है। वह कोठरी को दो हिस्सों में वाँट देता है, जिसके दूसरी ओर टीन, पीतल या लोहे के दो-चार वर्तन पड़े हैं। वक्त जरूरत पर काम आने के लिए शीशे का एक सस्ता गिलास, एक प्लेट और एक प्याली एक आले में रखी हुई है। चूल्हे की कालिख से अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि उसकी सफाई शायद वर्ष में एक वार होती होगी।

इसमें उनका अपराध ही क्या है, वे शरीर बेचकर पेट भरें या चूल्हे चौके की सफाई के साथ पेट की सफाई करें।

मैं मानता हूँ आप भले घर के लड़के हैं। आप उस कोठरी में पैर नहीं रख सकते, पर अगर आप की आँखें खुली हैं तो आप देख लेंगे कि साबुन की एक टिकिया, सस्ती क्रीम की एक शीशी और पाउडर का एक पुराना मैल चढ़ा डिब्बा भी एक खिड़की में रखा हुआ है। उसी के पास किलपों का ढेर लगा है। अरगनी पर एक मिल की किनारी की धोती, एक जापानी रेशम की कमीज और एक नकली दरयाई की जाकेट टँगी है। कुल जमा में ये वस्ती में बसनेवाली नारियों की सजावट व सौन्दर्य का सामान है। किसी के पास कम या किसी के पास ज्यादा हो सकता है। इससे ज्यादा हो भी कैसे ? उनका मोल कभी आनों से आगे बढ़ा ही नहीं। आप चौंकिये मत ! आपने सदा यही सुना है कि वेश्याओं के पीछे धनवानों ने लाखों रुपये खराब कर दिये हैं। यह सच है परन्तु वह स्वर्ग की अप्सराओं की बात है और मैं नरक की वेश्याओं की बात कर रहा हूँ जो ताँबे के कुछ पैसों पर या निकल के कुछ सिक्कों पर अपना शरीर आपको सौंप देती हैं और साथ ही साथ ऐसी बीमारी भी आपको देती हैं जो जन्म-जन्म आपका साथ नहीं छोड़ती।

ऐसी ही एक बस्ती में बसनेवाली एक नारी का नाम गुलाब है। वह बस्ती के बीचोबीच एक कोठरी में रहती है। यही गुलाब आज अपनी कोठरी में बैठकर बेहताशा हँस पड़ी है। हँसती चली जा रही है कि पड़ोसिन खिड़की से झाँककर अचरज से चिल्ला उठी, 'क्या मिला तुझे हरामजादी, जो हँसे चली जाती है !'

गुलाब चौंकी पर हँसी न रुकी।, 'क्या मिला ? देख चुड़ैलपरी ! सपने में भी नहीं देखे होंगे।

और उसने हाथ फैला दिया। तीन चाँदी के रुपये थे उसके पास। आँखें फाड़कर पड़ोसिन वेश्या कह उठी, 'तीन रुपये ! कहाँ डाका डाल तूने ?

डाका डाला है। हाँ, डाका ही था वह ! तूने देखा था न वह मोटा चौधरी जो मुझे बारह आने भी नहीं देता था। आठ आने का सौदा करके मेरे पास आया था।'

'अरे वही जो अभी चीख रहा था कि मुझे लूट लिया, उसे तो करीम ने जूते मारकर निकाल दिया है। तू बड़ी डाकिन निकली, गुलबिया कुत्ती !'

कुतिया, तू चुड़ैल ! मैंने तो उस पर दया की है, दया कि बीमारी नहीं दी। सूखा ही निकाल दिया है। अब के आएगा तो तेरे पास भेज दूँगी। चूम-चाटकर रखना। मुझे तो पैसे चाहिए पैसे ! पेट पैसों से भरता है।

जो उसने कोठरी के दरवाजे पर डाली थी, बठ गई। और भी उस जैसी वहुत वैठी थीं और आने-जानेवालों को पुकार रही थीं। उसने भी एक आदमी को आवाज दी—'सुनो जरा !' उसने सुना नहीं। दूसरे को पुकारा—'वावू ! ओ वावू।'

वावू भी आगे वढ़ गया। तीसरा कोई गँवार था। वोली—'चौधरी ! यहाँ तो आ !

चौधरी ने उसे देखा। फिर हँसा मानो उसने कहा—'क्या है तेरे पास जो वुलाती है।,' और वह भी आगे वढ़ गया। अव गुलाव को क्रोध आने लगा। खीझ उठी और उठकर सड़क पर आ गई। एक अधेड़ आदमी का हाथ पकड़कर वोली—'मेरे पास आ।'

आदमी हड़वड़ाया—'नहीं, नहीं। परे हट···।

उसकी घवराहट पर वह खूव हँसी और हाथ छोड़ दिया—'इतना कच्चा दिल लेकर आते हैं ये लोग। फिर सन्ध्या तक किसी ने उससे वात न की। वह गली का एक चक्कर लगाकर अपनी कोठरी में लौट आई। अँधेरा गहरा होता आ रहा था और गली की रौनक भी वढ़ने लगी थी। नई पुरानी लालटेनें चमक उठी थीं और उनकी रोशनी में उस वस्तीवालों की वदसूरती वहुत हद तक दव गई थी। रात की रोशनी काली होती है। गुलाव भी लालटेन जलाकर अन्दर चली गई। उसे रोटी पकानी थी। पेट अभी खाली था। उसने चूल्हे में आग फूँकी। आटा मथा और रोटियाँ वनाने लगी कि उसे वार-वार तीन रुपये याद आने लगे। वह वार-वार फुसफुसाई—'तीन रुपये···।

तभी रोटी सेकते-सेकते उसे याद आया कि वारह साल वाद उसने आज तीन रुपयों को अपना कहा था। लेकिन इन वारह सालों ने कितना अन्तर डाल दिया है उसके जीवन में, तव वह वहू वनकर किसी का घर वसाने आई थी और अव···।

वह चौंकी सी। क्षणभर के लिए कुछ याद आया कि एक चमार की लड़की मनभरी वारह वर्ष पहले एक कस्वे में विवाह करके गई थी। उसका घरवाला किसी खेत में काम करता था और वह नये वननेवाले मकानों पर ईंटें ढोती थी···।

हाँ ! वह ईंटे ढोती थी पर एक वात वह नहीं समझती थी कि घर से लेकर नए मकान तक लोग उसे अजीव नजर से देखते, मुसकराते और कुछ कह भी वैठते। क्या कहते यह अव गुलाव के लिए अचरज की वात नहीं

थी ? उसे तो यही बात विशेष रूप से याद आई कि मकान के ठेकेदार ने उससे एक दिन कहा था—'मनभरी ! डबल मज़दूरी कर दूँगा।

और वह झूठ नहीं कहता था। उसकी जैसी एक औरत पाँच आने पाती थी और वह तीन आने। और ठेकेदार ही क्यों ? राज भी उसे ऐसा ही कुछ कहते थे और रातों में एक बाबू का लड़का भी कभी चाँदी के चमकदार रुपये दिखा देता था···।

गुलाब ने जो रोटी तवे पर डाली थी वह जल उठी। खीजकर उसने उसे पलट दिया, काली हो गई थी पर क्या करे वह ! एक ही बात कर सकती है रोटी पका ले या सोच ले···हाँ तो आज सोचेगी ही। सब सोच लेगी कि उस बेचारी मनभरी का आगे क्या हुआ ! अनेक लोगों ने उसे लालच दिया पर उसका घरवाला था कि उसे गाली देता, कभी पीटने भी लगता। वह कहती, 'मूँडी काटे ! हाथ न उठाया कर !'

वह कहता, 'हड्डी-हड्डी तोड़ दूँगा ! बड़ी आज़ाद हो गई है तू। लोगों से आँखें लड़ाती है, कुतिया !'

विद्रोह गरज उठता, 'लड़ाती हूँ तो तेरे बाप का क्या लेती हूँ मुए ?'

और बात बढ़ जाती। मनभरी पिटती और घरवाला बाहर निकल जाता। यही कहानी बहुत बार दोहराई जाती। हर एक बार मनभरी शक्ति पाती और उसके मन में घरवाले के लिए नफ़रत पैदा हो जाती। लेकिन नफ़रत कभी अकेली तो नहीं पैदा होती। नफ़रत के साथ प्रेम जरूर होता है। मनभरी के दिल में भी प्रेम उपजा था। वह किसके लिए था यह मनभरी निश्चय से नहीं कह सकती थी पर रास्ते के जितने साथी थे उनसे वह अब कटती नहीं थी। जवाब में मुस्करा देती थी और कभी कदाक मजाक भी कर बैठती थी। वह चौंकती तो थी पर विद्रोह उसकी घबराहट को दबा देता था। इसी प्रकार बात बढ़ती गई। न जाने कब उसकी मजदूरी पाँच आने हुई। न जाने कैसे उसका बटुआ—जो सदा उसकी छाती पर लटका रहता था पूरे तीन रुपयों से ठसाठस भर गया···।

और यही बटुआ था जो एक दिन उसके घरवाले ने देख लिया। उसके बदन में आग लग गई थी। इतना मारा था कि नीली पड़ गई थी···।

गुलाब सोचकर काँप उठी। रोटी बनकर तैयार थी पर उसका पेट भर चुका था। वह उन्हें छू भी न सकेगी। उसका तो दिल भरा आ रहा है—'मैं-मैं···

मैं एक दिन इसी बात पर पिटी थी। और आज इसी बात पर शाबाशी

मिलती है। इसी बात पर होड़ बदी जाती है। उसे याद आया कि इस होड़ में वह कितनी बार जीती थी। अपना शरीर और अपनी आत्मा बेचने की होड़ में···लोगों को लूटने की होड़ में···व्यभिचार और हत्या की होड़ में और बीमारियाँ बाँटने की होड़ में गुलाब सदा ही जीती थी। आज भी वह जीती थी लेकिन आज की जीत की खुशी जैसे इसे टीस उठी। करीम कैसे रुपये उठाकर ले गया था। कैसे वह टुकर-टुकर देखती रह गई थी···। वह चूल्हे के पास बैठी-बैठी यही सोच गई थी। बाहर की अश्लील खिल-खिलाहट उससे बहुत परे थी और उसके भीतर अपनी वर्तमान अवस्था पर एक हल्की सी ग्लानि पैदा हो आई थी कि करीम अन्दर घुस आया, 'गुलाब ?'

गुलाब बोली चौंककर, 'क्या है ?'

मुस्कराकर करीम बोला, 'तुम यहाँ बैठी हो और बाजार फीका पड़ा है। जी कैसा है भला ?'

गुलाब को न जाने क्यों गुस्सा आया। बोली, 'तुझे क्या पड़ी है मेरे जी की। दूर हो यहाँ से। मैं न जाऊँगी आज।'

'क्या कहती है', वह विद्रूप से बोला।

'कहती हूँ, नहीं जाऊँगी।'

करीम ठण्डा पड़ा, 'न जाना पर कहता हूँ तीन बाबू गली में चक्कर लगा रहे हैं।

गुलाब अकड़ती ही गई, 'भाड़ में जावें तेरे बाबू कह दिया नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी।

'नहीं जाएगी।

'नहीं।'

'हूँ'—करीम को गुस्सा उत्तर आया। गुलाब का हाथ पकड़कर बोला—'जानती है, कौन हूँ ?'

उसके बाद क्या हुआ ? यह मैं न बता सकूँगा। आप भी कल्पना करने का कष्ट न करें, क्योंकि गुलाब उस दिन कुरसी पर नहीं बैठी थी। उस कमीनी और बेशर्म औरत के भीतर विद्रोह की आग भड़क उठी थी। लेकिन उस विद्रोह का मूल्य कुछ भी नहीं था इसीलिये तीसरे दिन जब उसे तेज बुखार चढ़ा था और हाथ-पर टूट रहे थे वह कुरसी पर पड़ी हुई गिड़गिड़ा रही थी—

'ओ बाबू ; सिर्फ दो आने ; ज़रा सुनो तो···।'

'लाला ; इधर देखो फ़क़त एक आने की बात है···।'

'चौधरी ; एक बार सुन तो लो फिर जो चाहे देना···।'

लेकिन वे लाला, बाबू और चौधरी उसकी ओर देखते और आगे बढ़ जाते केवल एक आदमी था जो उसके दरवाजे पर रुकता। वह था करीम। वह विद्रूप की एक हँसी के साथ बोलता—'और कहो···कि मैं नहीं जाऊँगी।

गुलाब क्रोध से तिलमिला उठती, पर बेबस-सी तड़प कर बोलती—मुझे माफ़ कर दो करीम, मैं···।'

और करीम मुस्कराकर आगे बढ़ जाता।

और गुलाब फिर पुकार उठती—'ओ बाबू ;···ओ लाला ;···ओ चौधरी !···

1941

—13

नीलकमल का पलायन

नीलकमल से मेरी भेंट अचानक ही नहीं हुई। रंगून की मुगल स्ट्रीट के पाँचवें तल्ले पर कई दिन तक मुझे उनकी राह देखनी पड़ी थी। और आज भी मैं विश्वास से कह सकता हूँ कि उनसे मिलकर मुझे दुख नहीं हुआ। छी:-छी: करके एक बार भी मैंने मुँह नहीं फेरा। लेकिन यह छी: छी: की बात आरम्भ में ही कैसे आ गई। देखने-सुनने में कोई ऐब नहीं था। उनके साँवले वर्ण में आकर्षण था और उनके नयन ऐसे थे जैसे किसी बूढ़े मृग ने वारुणी का सेवन किया है।

जब वह मुझ से मिलने आए तो एक विदेशी की तरह उन्होंने मेरा कायिक स्वागत नहीं किया। बल्कि युग-युग से परिचित की तरह पहले थोड़ा झिझके परन्तु दूसरे ही क्षण उनका मुक्त प्रवाह मुझे और मेरे साथी को वहा ले गया।

'मैं जानता था कि तुम आ रहे हो'—उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा। मैंने बड़े परिश्रम से तुम्हारे लिए सामग्री इकट्ठी की है। सच तो यह है कि तुम जिनके पीछे यहाँ तक आए हो। वह मेरा भी प्रिय है।'

और उन्होंने प्रियतमा के पहले पत्र की तरह एक जर्जर नोट बुक बड़े स्नेह से अपने थैले से निकाली। पढ़ने लगे वह सन् 1903 में यहाँ आए थे। 36 वीं गली में रहते थे। उनका रूप सुन्दर नहीं था। परन्तु उनका कण्ठ बड़ा मधुर था…।

उनके साथी मणि ने सहसा कहा—देखो मिस्टर नीलकमल…।

कीप युअर माउथ शट, यू आर ए चाइल्ड बिफोर मी। नीलकमल ने तुरन्त क्रुद्ध कम्पित स्वर में कहा—और फिर उस क्रोध को दूर करने के लिए

उन्हें काफी देर तक बोलना पड़ा। मणि का परिचय यदि मैं मृग शावक कह कर दूँ तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। गौर वर्ण, स्निग्ध लघु मुख और सदा मुस्कराते नयन। पूरा भाषण सुनने के बाद उसने कहा—यह सब तो अमुक पुस्तक में लिखा है। कुछ नया बताओ मिस्टर नीलकमल। ये इतनी दूर से आए हैं।'

'कीप युअर माउथ शट। यू आर ए चाइल्ड बिफोर मी। 'इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु···।'

आखिर बीच में बोलना पड़ा। आपका बहुत आभारी हूँ मिस्टर नीलकमल। उस समय के कुछ लोग अभी जीवित होंगे। शायद उनसे मिलकर···

'गौड ब्लैस यू। मिल देखिए। पर है कुछ नहीं। सब खोखले हैं। दूर के ढोल। कई वर्ष लगाए हैं।

फिर सिगरेट का कश खींचा और हँसकर कहा—'सब कुछ देख चुका हूँ। पाथेर दाबी के एक-एक स्थल से परिचित हूँ बस बाबा जरा कार का इन्तजाम कर देना। बीबी के पैर में न जाने क्या हो गया है। डाक्टर चीरा देगा। बेचारी! उसको वहाँ से लेकर घर छोड़ना होगा।'

नीलकमल किस जाति, धर्म, अथवा प्रान्त के हैं। यह बताने से कोई लाभ नहीं। वह मात्र एक व्यक्ति है। इसीलिए उनकी पत्नी विजातीय और विधर्मी ही नहीं विदेशिनी भी है। सुन्दरी, सुमुखी, यौवन में निश्चय ही रूपसी रही होगी। नीलकमल इस बुढ़ापे में भी उस रूप की प्रशंसा करते नहीं अघाते। छोटे-से आपरेशन को लेकर बहुत ही व्यस्त हो उठे हैं मानो मर्मान्तक पीड़ा हो रही है। आपरेशन के बाद बड़े आदर और स्नेह के साथ उसने विदेशिनी को अंक में भर कर कार तक पहुँचाया और अन्दर बैठकर बार बार उसके मुख को उठा कर कहना शुरू किया—'देखो तो इस मुखकमल को कितना सुन्दर है। अनुपमेय, चालीस वर्ष पहले क्या हुआ। 17 वर्ष की लड़की, 21 वर्ष का लड़का। दोनों परम सुन्दर। दोनों में प्रेम हुआ। दोनों भाग गए। शादी हो गया।'

फिर बीच-बीच में पीड़ा से कराहती विदेशिनी की ओर अर्द्ध-उन्मीलित नयनों से देखता हुआ गा उठा—'तुमि विद्या, तुमि धर्म, त्वं ही प्राणी शरीरे बाहुते तुमि मा शक्ति, हृदय तुमि मा भक्ति, तोमराई प्रतिमा गड़ी मन्दिरे मन्दिरे। तुम उर्वशी हम नहुष, तुमि डीजल इंजन हम गधा गाड़ी।'

सहसा मणि की याद आ गई। मैंने कहा—'मणि को भी ले चलें।'

'मैं कमाण्डर हूँ मेरी आज्ञा मानो। मणि को मैंने इस पेड़ के नीचे खड़ा

किया था। अब वहाँ नहीं है। छोकरा है एक दम गैर जिम्मेदार। इन लोगों पर विश्वास मत करो बाबा। मुझ बूढ़े की बात सुनो। चलो ड्राइवर, पहले बीवी को घर छोड़ना होगा। अहा ; कितना कष्ट है तुमको···।

उस के बाद भी क्या छुट्टी पा सके। गद्गद् होकर उसने कहा—'अहा ; साक्षात् बुद्ध भगवान हमारी कुटिया में पधारे हैं। धन्य हो गया हूँ। साहित्यिक भगवान ही होता है। मैं भी साहित्यिक हूँ। बौमा आओ तो देखो कौन आए हैं ; कृपा करके एक-एक कप चाय ले लें।'

गरीबों का मौहल्ला, काठ के मकान, कच्चा फर्श, आगे की बैठक में पुस्तकों का बेतरतीब ढेर। आदिम युग की एक लंगड़ी मेज, भुजा हीन एक कुर्सी, स्टूल, रेक और इधर उधर बिखरे अनेक भाषाओं के अनेक अखबार जैसे ये सब उसके स्वभाव से पूर्ण परिचित थे। सहसा एक-एक करके उसकी तीनों पुत्रियाँ वहाँ आ गईं। तीनों सौम्य, सुन्दर. जैसे माँ की प्रतिकृति हों। बौमा जिसे कह कर सम्बोधन किया गया था, उसी को दिखाकर नीलकमल ने कहा—बौमा मेरी माँ है। इस बार बेटी होकर आई है। अहा क्या रूप है मेरी बेटी का। इस देश की स्टार नम्बर एक होगी।

नीलकमल की वक्तृत्व कला का स्रोत अक्षय था। पुत्रियों के रूप गुण से सहसा वह अपने वेतन पर आ गए। बोला—'मुझको 350 रु० मासिक वेतन मिलता है। बड़ा बेटा सेना में कप्तान है। माँ को 65 रुपया महीना भेजता है। माँ ही सब कुछ है। माँ का राज्य है। हम तो उस राज्य के क्षुद्रातिक्षुद्र सेवक हैं। हनुमान हैं। अहा ! हनुमान की पूछ भी नहीं है। जरा आटोग्राफ बुक में अपने हस्ताक्षर तो बना दीजिए। भगवान की स्मृति गरीब की कुठिया में अमर हो जाएगी। प्रेम के बारे में कुछ लिख दीजिए। प्रेम ही एकमात्र शक्ति है। हाँ बौमा, लाना तो आटोग्राफ बुक। अहा ; मेरी कविता की पुस्तक पढ़ी तुमने। कलकत्ता से कवि शेखर ने मुझे तीन पन्नों का पत्र लिखा है। क्या प्रशंसा की है मेरे जैसे मूर्ख की। गाड ब्लैस यू। किसान का गीत उन्हें बहुत प्रिय है।'

और उसने गाना शुरू किया—वी सिंग दा सौंग आफ क्लटीवेशन ग्रेन।

डिग दी सोयल
ए डेज टीयल
विद स्पेड इन हैंड ड्रेंचिंग इन रेन।

अगर बौमा चाय के प्याले लेकर न आ जाती तो नीलकमल का यह सुमधुर अभियान संगीत क्या रुक पाता। वह भंगिमा देखने की चीज थी।

उसी स्वर में उन्होंने याचना की, 'चाय पीकर बौमा का एक चित्र न उतार देंगे। मेरी यह रुपसी बेटी सचमुच चित्र की वस्तु है। इस देश में एक दिन उसका नाम गूंजेगा।'

और कहा, 'आओ बौमा। भगवान बुद्ध तुम्हारा चित्र उतारेंगे। तुम भी आओ माँ, और बेटी तुम भी। और वह मेरी प्यारी मुन्नी कहाँ गई?'

और वह बेहद व्यस्त हो उठे। आटोग्राफ और फोटोग्राफ इन सबसे निबटते धूप में तेजी आ गई। नीलकमल ने माफी माँगी और तुरन्त ड्राइवर को लोअर पोजुनडंग रोड की ओर चलने का आदेश दिया। काफी दूर चलने के बाद वह एक स्थान पर उतर पड़े, 'वह देखो; वही 14 नम्बर था। युद्ध काल में बम वर्षा ने कुछ नहीं छोड़ा। आहा! वह भयानक दृश्य...।' ऊपर को दृष्टि उठाकर हाथ जोड़े। कहा, 'तब मैं उत्तर में था। साँस रोक कर उस विध्वंस लीला को मैंने देखा है।' और फिर कान के पास मुँह ले जाकर कहा, 'तीन साल जेल में रहा हूँ।

'क्यों?'

'आहा! गौड ब्लैस यू। तुम्हें पता नहीं। सेना के आफिस में मैं बड़ा अफसर था। और वीर सेनानी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्राणोत्सर्ग का निमंत्रण दे रहे थे। आहा! भयंकर वर्षा। हवाई जहाजों की तूफानी गड़गड़ाहट। आठ-आठ घण्टे तक मूर्तिवत् जनता के सामने मैंने उन्हें भाषण देते सुना है।'

जैसे नीलकमल कहीं सुदूर अतीत में खो गए हों। फुसफुसा कर कहा, 'लेकिन उन्होंने मुझ पर गबन का आरोप लगाया। गौड ब्लैस यू। मेरी विदेशिनी ने तब किस-किस के दरबार में गुहार नहीं की। कैसे उसने मेरी मुक्ति कराई, क्या वर्णन करूँ। अच्छा वह देखते हैं न नम्बर 279। यही तो नम्बर 14 के स्थान पर नया मकान बना है। फोटो लो बाबा।'

और उसके बाद बोले, 'यहाँ वह अखाड़ा था जहाँ कुश्ती करने के बहाने भारतीय क्रान्तिकारी इकट्ठे होते थे। वह जहाँ सेना का भवन है वहाँ भारती का मकान था। उसी मकान से उस तूफानी रात में सबने सव्यसाची को जाते देखा था। वह देखो उधर वहाँ बढ़ई, लुहार आदि गरीब लोग रहते थे। आओ, उधर आओ। ठीक दिखाता हूँ। यहीं से छिपाकर वह नाव ले जाते थे। और उधर मंकी प्वाइण्ट की तरफ सव्यसाची के छिपने का स्थान था। मैंने तुम्हारे लिए सब कुछ घूम-घूम कर देखा है। दा ठाकुर का होटल देखोगे? आहा! अब तो वहाँ मस्जिद है।'

नीलकमल की व्यस्तता कम नहीं हो रही थी। और उत्सुकता के कारण

मुझे यह सब अच्छा ही लग रहा था, इसीलिए लौटते समय एक वज गया। मार्ग में सहसा नीलकमल ने कहा, 'मुझे खाना खिलाओगे ?'

महान विपत्ति ! मैं स्वयं किसी का मेहमान हूँ। कुछ कहूँ कि ड्राइवर वोल उठा, 'चलिए वहाँ क्या कमी है।'

नीलकमल ने कहा, 'देखो भाई, तुम तो जानते ही हो। जरा दाएँ मोड़ कर नुक्कड़ पर कार रोक लेना। आज बहुत मेहनत की है। बस दो मिनट में आता हूँ।'

उस दो मिनट का अर्थ भोजन की मेज पर समझ में आ सका। नील-कमल की मस्ती देखते ही बनती थी। बोला, 'प्रेम किया है आपने कभी ? आहा ! प्रेम किया था चण्डीदास ने, और उसने गाना शुरू किया—

पीरिति रसैते ढालि प्राण मन
दियाछि तोमारे पाय।
तुमि मोर गति तुमि मोर पति
मन नाहि आन भाय ॥
सती वा असती तोमाते विदित
भाल मन्द नाहि जानि।
कहे चंडिदास पाप पुण्य मम
तोमार चरण खानि ॥

अहा !

ओ रूप-माधुरी पासरिते नारि
कि दिये करिव वश।
तुमि से तन्त्र तुमि से मन्त्र
तुमि उपासना रस ॥

तुम सब साहित्यिक हो। एक प्रेम के पुजारी के पीछे पागल हो। जानते हो जब प्रेम उपजता है तो क्या होता है।

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
सोइ पीरिति अनुराग वाखानित्ते तिले-तिले नूतुन होय ॥
जनम अवधि हम रूप नेहारल नयन न निरपित भेल।

जीवन पर इससे अधिकृत रचना आज तक नहीं हुई है। पूरा हो जाने पर……।

साथी बोले, 'यह तो आप बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं।'

अहा ! गौड ब्लैस यू । आप पहले व्यक्ति हैं जिसने इस तत्व को समझा। भारत जाकर किसी से कहना, वह इसे जरा देख लें। तेंतीस करोड़ देवताओं का देश है।'

मैंने कहा, 'अवश्य कहूँगा। लेकिन अब तो…'

बस्ता खोलकर उन्होंने पाण्डुलिपि निकाली। कहा, 'तुम्हारे पहले साथी ने मुझे पत्र लिखा है। गौड ब्लैस यू। कितना सुन्दर पत्र है। मेरी बेटी के शील, सौजन्य, और सौन्दर्य पर वह कितना मुग्ध है, पढ़ो तो। ऐसा ही पत्र तुम भी न लिखोगे क्या।'

कई देशों में घूमने के बाद फिर उसी स्थान पर लौटना पड़ा। सन्देश भेजने पर एक दिन वह आए। लेकिन केवल कुछ क्षण के लिए। बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले, 'जा रहे हो। कुछ सामग्री मिली ? अहा ! यहाँ के लोग छूछे हैं, बास्टर्ड। किसी की मदद नहीं करते।'

मणि ने कहा, 'मिस्टर नीलकमल ! आप गलत…।'

'कीप युअर माउथ शट। यू आर ए चाइल्ड बिफोर मी। तुम लोगों को कुछ आता-जाता नहीं।' और वह लौट पड़े, 'बीबी बहुत बीमार है। अच्छा जरा सुनो तो।'

जीने तक उन्हें छोड़ने गया। वहीं एक क्षण रुक कर उहोंने मुझे देखा और कहा, 'जानते हो, मैं रामकृष्ण परमहँस का अवतार हूँ।'

मेरी कुछ समझ में नहीं आया। यद्यपि मणि ने इस बात का संकेत कर दिया था। लेकिन मैंने उसे गम्भीरता से नहीं लिया। नीलकमल ने कहा, 'आई एम गोइंग टू प्रूव इट वन आफ दीज़ डेज। माई वाइफ इज शारदा माँ। हाँ, विदेशिनी शारदा माँ का अवतार है। मैं सच कहता हूँ यू विल फ्लाई टू मी वन डे। अब तो जाओ।'

मैंने कहा, 'ऐसा है तो अवश्य आऊँगा।'

'मैंने नेताजी के बारे में सामग्री इकट्ठी की है। शरत् के बारे में भी बहुत परिश्रम किया है। तुम्हारे मेरे नोट मिलते हैं। गौड ब्लैस यू। अच्छा, पत्र देना।'

'दूँगा।'

'बच्ची का फोटो भेजना। वो इस देश की स्टार नम्बर 1 होगी।'

'भेजूँगा।'

नीचे उतरते-उतरते कहा, 'और मेरे पत्र की राह मत देखना। लिखना, वही प्रेम है। वही सत्य है।'

और फिर एक दम नीचे उतरते चले गए।

आज भी वहाँ से मित्रों के पत्र आते हैं। पर मणि के अन्तिम पत्र में बड़ी चिन्ता की खबर है। लिखा है, 'नीलकमल की नौकरी छूट गई है।'

पढ़ कर दर्द हुआ। माना रामकृष्ण परमहँस नौकरी नहीं करते थे। पर नीलकमल का यह पलायन…!

अब जाने दो। इसका फैसला करना मेरा काम नहीं है।

1960

14—

लैम्पपोस्ट के नीचे एक लाश

लैम्पपोस्ट उस सड़क पर बहुत हैं, परन्तु प्रकाश किसी में भी नहीं है। शायद उस सड़क का कुछ सामरिक महत्त्व है। इसलिए प्रकाश वहन करने वाली लाइनें वहाँ से गुजरती अवश्य हैं पर उसे आलोकित नहीं करतीं। मुक्ति की चाह लिए वह उसके अन्तर में बन्दी ही बना रह जाता है। आसपास घना जंगल भी है। एक अजीब-सी गहरी सौंधी गन्ध वहाँ फैली रहती है। और जिले का सदर मुकाम होने के कारण सड़क भी खूब चलती है। ट्रक, कारें; दूसरी हल्की-भारी गाड़ियाँ, शहर के शौकीन लोग, सभी वहाँ से गुजरते हैं। मैं भी गुजरता हूँ। उस समय प्राय: ..धेरा रहता है। कभी-कभी मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि आसपास का वह अँधेरा, मेरे अन्तर में प्रवेश कर गया है। बाहर भीतर कहीं कुछ नहीं देख पाता हूँ। जब से मैं हूँ तभी से शायद ऐसा रहा है। यहाँ तक कि अचानक आ जाने वाली गाड़ी के प्रकाश को भी मैं अनदेखा कर जाता हूँ।

लेकिन उस दिन न जाने क्या हुआ, उस प्रकाश ने मुझे यकायक चौंका दिया। जब तक समझ पाऊँ तब तक वहाँ घुप्प अंधेरा छा गया। पर वह क्षणिक प्रकाश तो जैसे मेरे अन्तर में उतर गया था। मैंने एक लैम्पपोस्ट को देख लिया और यह भी देख लिया कि उसके नीचे कुछ है ···।

मैं सहसा ही उसकी ओर नहीं बढ़ गया। पहले मैंने अपने चारों ओर देखा कोई नहीं था। तब मैं धीरे-धीरे उस ओर चला और अन्धकार में पड़ी वह आकृति बड़ी होती गई। बिलकुल पास जाने पर मुझे लगा जैसे वहाँ कोई सो रहा है। मैं बुदबुदाया, 'कैसी अजीब बात है। ये लोग ऐसे सड़क पर आकर सो जाते हैं जैसे इनके बाप का घर हो। अब अगर कोई ट्रक आकर कुचल जाय तो?'

और मैंने मुड़ना चाहा, लेकिन न जाने क्यों मेरे पैर रुक गए। वह स्थान सड़क से कुछ हटकर था। यानी लैम्पपोस्ट के उस ओर, जिस ओर जंगल है, वह व्यक्ति पड़ा हुआ था। इसीलिए मैं ठिठक गया। मैं नहीं कह सकता वह सड़क से कितनी दूर था। दस गज तो हो ही सकता है। मैंने झुक कर उसे गौर से देखा। वह पीठ के बल पड़ा था।…

यकायक वह रात नई हो उठी। और जैसे सदियों की खामोशी एक छूटी हुई चीख के साथ टूट पड़ी। मुझे 'था' नहीं 'थी' कहना चाहिए। क्योंकि वह स्त्री थी। मैं उसके उलझे-बिखरे बालों को ईंटों पर बिखरे देख सकता था। उसके पैर जाँघों तक खुले हुए थे। शिथिल, स्पन्द उसके दोनों हाथ टूटे डैने से फैले पड़े थे।…

मैं डरा भी और मेरा कौतूहल भी जागा। कुछ और पास जाकर मैंने उसे गौर से देखा। उसका मुँह खुला हुआ था। और उसके बदन का कपड़ा अस्त-व्यस्त हो रहा था। मेरे इतने पास पहुँचने पर कोई चेतना उसमें जागनी चाहिए थी. लेकिन इस सर्द खामोशी में साँस का स्वर तक मैं नहीं सुन पाया। वह चेतनाहीन थी, मात्र एक लाश।…

मैं काँप कर यकायक पीछे हट गया। और आँखें फाड़-फाड़ कर अपने आस-पास देखने लगा। मैं जानना चाहता था कि वह लाश वहाँ कैसे आ पड़ी थी। मैं मान लूँगा कि मैं कई क्षण तक स्तब्ध खड़ा रहा था। फिर मैंने वहाँ से भाग जाना चाहा था। उसके बाद निश्चय किया मुझे इसकी सूचना पुलिस को देनी चाहिए।…

लेकिन क्या स्वयं मेरा जाना ठीक होगा ?

नहीं-नहीं, मुझे नहीं जाना चाहिए। कोई और व्यक्ति इधर आएगा तो उसे ही भेजूँगा।

यह निश्चय करके मैं बहुत खुश हुआ। और फिर सहज भाव से उस स्थान का निरीक्षण करने लगा। आसपास ईंटें बिखरी हुई थीं। कूड़ा-कचरा भी था। ध्यान से देखने पर मैं यह जान सका कि इस लाश को खींचकर लाया गया है। और वह भी जंगल की ओर से। क्योंकि उस ओर के कूड़े-कचरे पर रौंदे जाने के निशान थे। मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि इस स्त्री को यहाँ नहीं मारा गया। क्योंकि वैसे संघर्ष के कोई निशान मैं वहाँ नहीं देख सका।

अभी भी पूर्व दिशा में सूर्य की किरणें नहीं फूटी थीं। केवल लालिमा उभर रही थी। सहसा मैंने दो व्यक्तियों की पदचाप सुनी। लहरों की तरह क्षण भर में अनेक लोग इस सड़क पर आने शुरू हो जाएँगे। चाहा कि इन्हें

मैं पुकार लूँ। लेकिन एक अनजान, अकथ डर ने मुझे जकड़ लिया। और मैंने उन्हें नहीं पुकारा।

लेकिन वे तो उसी ओर आ रहे थे। इसलिए इससे पहले कि वे वहाँ पहुँचें मैं दौड़ कर सड़क के उस ओर जा खड़ा हुआ। पास पहुँच कर वे दोनों व्यक्ति ठिठके। मेरी तरह उन्होंने एक वार आसपास देखा, फिर धीरे-धीरे लाश के पास पहुँचे। वे जोर-जोर से बोल रहे थे और मैं उनकी आवाज़ सुन सकता था। एक ने कहा, 'यह तो किसी स्त्री की लाश है।'

दूसरा बोला, 'हे भगवान, इसे तो किसी ने बिलकुल मार डाला है।'

पहले व्यक्ति ने कहा, 'कैसे भयानक कुकर्म होने लगे हैं। कहीं इसने आत्म हत्या तो नहीं की।'

दूसरा व्यक्ति बोला, 'मुझे तो ऐसा नहीं लगता। आसपास कोई ऐसा सामान भी तो नहीं दिखाई देता। और आत्म-हत्या करने का यह कोई स्थान भी तो नहीं है।

पहले व्यक्ति ने कहा, हाँ, कुछ भी तो नहीं दिखाई देता। पर ठहरा, मैं टौर्च से देखता हूँ।'

उसने टौर्च जलाई। दो-तीन क्षण गहन मौन छाया रहा। फिर वह चिल्ला उठा, 'देखो देखो, उसकी जाँघों पर कैसे निशान हैं ?'

दूसरे व्यक्ति ने जुगुप्सा से कहा, 'नहीं-नहीं, मैं उधर नहीं देख सकता।'

कोई भी नहीं देख सकता। ओह बड़ा वीभत्स दृश्य है। ऐसा लगता है कि इस स्त्री के साथ बदमाशों ने···।

टौर्च का प्रकाश देखकर कई और व्यक्ति वहाँ पहुँच गए थे। मैं भी कुछ पास आ गया। मुझे इस बात में तनिक भी रुचि नहीं थी कि मैं उनसे कहूँ कि मैंने उसे सबसे पहले देखा है। मैंने इतना जरूर कहा, 'आपने पुलिस को सूचना दी है।'

वे सब मेरी ओर देखने लगे। एक ने कहा, 'हाँ, पुलिस को सूचना देनी चाहिए। खुली सड़क पर लाश का इस तरह पाया जाना एक असाधारण घटना है।'

सहसा एक व्यक्ति ने पीछे से कहा, 'इसमें ऐसी असाधारण बात क्या ? आदमी क्या मरता नहीं, और आज के युग में जब आबादी इतनी बढ़ रही है तो यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि आदमी कैसे और कहाँ मरता। मुझे तो लगता है कि हर नई मौत पर हमें खुश होना चाहिए। विशेषकर औरत की मौत पर।'

यकायक सबकी दृष्टि उसकी ओर उठ गई। जैसे वही हत्यारा हो। और

वे सब उसे और जानने को उत्सुक हों।

एक व्यक्ति ने कहा, 'मैं इस आदमी को रोज काफ़ी हाउसों में झाक झाकते देखता हूँ।'

दूसरा बोला, 'तभी इसका ज्ञान बढ़ गया है और बुद्धि ठहर गई है।'

लेकिन वह तनिक भी नहीं झिझका। मुस्कराता हुआ आगे बढ़ गया। जाते-जाते उसने इतना और कहा, 'जो भी पुलिस में जाकर इसकी सूचना देगा उसके हत्यारा बनने की या कम से कम हत्या में शामिल होने की सम्भावना बहुत अधिक है।'

वे सब जो अब तक घृणा से भर आ रहे थे, सतर्क हो गये और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उनकी यह व्याकुलता स्वाभाविक थी। कोई क्यों हत्यारा बने। लेकिन उनमें से एक व्यक्ति अब भी डर से लाश का निरीक्षण किए जा रहा था और बोले जा रहा था। उसकी वाणी में गहरी वेदना थी। उसने कहा, 'इन जालिमों ने इसकी आँखों और छातियों को कैसे झिंझोड़ा है, खून से चिपचिपाते उसके चेहरे पर कितने दाग हैं। नहीं, नहीं; इस लाश को इस तरह खुले नहीं रहने देना चाहिए। यह वीभत्स है, एक दम वीभत्स। क्या किसी के पास चादर नहीं है जो इसे ढक दिया जाय?'

दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'पुलिस के आने तक हम कुछ नहीं कर सकते। हमें इसके पास नहीं जाना चाहिए। हत्या का पता लगाने वाले निशान मिट सकते हैं।'

तीसरा व्यक्ति बोला, 'हाँ, यह ठीक है। हमको पीछे हट जाना चाहिए।'

और उनमें से कई व्यक्ति पीछे हट गये। इसी बीच में कुछ नये व्यक्ति और आ गए। तभी सहसा मैंने एक जाने वाली कार को रुकने का इशारा किया। तेजी से जाती हुई कार किच किच करती हुई एक झटके के साथ रुक गई और अधिकारी वर्ग के एक व्यक्ति ने खिड़की से सिर बाहर निकाल कर क्रुद्ध स्वर में पूछा, 'क्या है?'

मैंने उत्तर दिया, 'एक औरत की लाश है। न जाने कब कौन इसे यहाँ डाल गया है।'

कार वाले व्यक्ति ने निहायत नम्रता से कहा, 'तो मैं क्या करूँ? न मैंने इसे यहाँ डाला है और न मेरा पुलिस से कोई सम्बन्ध है।'

'जी नहीं, आपका कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन आप पुलिस को सूचना तो दे सकते हैं। पुलिस स्टेशन आपके मार्ग पर ही है।'

बिना कोई जवाब दिये वह चले गये। इस राक्षसी उपेक्षा से गुमसुम मैं वहीं खड़ा रह गया। फिर बहुत देर तक किसी को रोकने का साहस नहीं हुआ। जो लोग वहाँ थे अब वे सब एक घेरा बना कर खड़े हो गये थे। किसी को पता भी न लगा था और सूरज काफी ऊँचा उठ आया था। उसकी गर्म रोशनी में हम सब एक दूसरे को पहचान सकते थे। कई व्यक्ति एक दूसरे को गौर से देख रहे थे कि कहीं खूनी उन्हीं में से तो कोई नहीं है। और फिर उस लाश की ओर देखकर बातें करने लगते थे।

'यह औरत जवान जान पड़ती है।'

'हाँ, अधिक से अधिक बीस वर्ष की होगी।'

'तभी तो इसका यह हाल है।'

'भूखे भेड़ियों ने उसे झकझोर डाला है।'

एक व्यक्ति जो उसके सबसे पास खड़ा था और उसे गौर से देख रहा था, उसने मानो कोई नई खोज की हो। यकायक बोला, 'मैं विश्वास के साथ यह कह सकता हूँ कि बहुत दिनों से इस औरत को पौष्टिक भोजन नहीं मिला है। इसी कारण इसकी मृत्यु हुई है। न इसने आत्महत्या की है और न इसे किसी ने मारा है। इसके शरीर पर न छुरे का जख्म है, न लाठी की चोट है, न इसके गले पर उँगलियों के निशान हैं। इसकी जीभ भी बाहर नहीं निकली है। अवश्य यह गाँव से यहाँ आई और लौटते समय शरीर में शक्ति न होने के कारण गिर पड़ी।'

उसकी यह बात सुनकर कई व्यक्ति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। एक ने कहा, 'इसके शरीर को नोच-नोच कर जो लहूलुहान किया हुआ है वह शायद तुमने किया है? तुमने ही इसे खींच कर यहाँ डाला है। देखते नहीं जंगल की ओर से किसी व्यक्ति के खींचने के निशान बने हुए हैं। उन झाड़ियों के पीछे से ये निशान चले आ रहे हैं।'

वह व्यक्ति तनिक भी अप्रतिभ नहीं हुआ। कहा, 'मैं सब कुछ जानता हूँ। पर यदि उसे पौष्टिक भोजन मिला होता तो क्या यह इस तरह मरती? इसके विपरीत...।'

यकायक भीड़ में से कोई बोला, 'मैं समझ गया। यह युवती गाँव से आई होगी और लौटते समय कुछ गुण्डे इसे लुभा कर यहाँ ले आए। इसके साथ सबने बलात्कार किया और भूख की उस क्रूरता को न सह सकने के कारण इस कमजोर औरत की मृत्यु हो गई। तब वे इसे खींच कर सड़क के किनारे डाल गये जिससे किसी ट्रक के नीचे आकर कुचली जाय।

उसी समय उन लोगों ने पुलिस को आते हुए देखा। और वे पीछे हट

लाश को देखा था। यह उसी स्थान पर पड़ी थी जहाँ अब है।'

इन्स्पेक्टर ने फिर मुझे गौर से देखा और भुनभुनाते हुए कहा, 'हमारे पास कोई कार वाला नहीं आया। आप लोग यहाँ से चले जाइए।'

मुझे अच्छा नहीं लगा। और मान लूँगा कि मुझे क्रोध भी आया था। लेकिन मैं पीछे हट गया। तभी मेरी दृष्टि मेरे एक निहायत बेतकल्लुफ और मुँह फट दोस्त पर गई। वह धीरे-धीरे स्थिर चाल से चलता हुआ उधर ही बढ़ा चला आ रहा था। आगे बढ़कर मैंने उससे कहा, 'दोस्त, आज यहाँ एक लाश मिली है।'

उसने मुस्करा कर कहा, 'तो इसमें क्या बात है? अक्सर मिलती है और मिलती रहेंगी?'

मैं बोला, 'वह एक स्त्री की लाश है।'

यकायक उसने कहा, 'और मैं जब स्त्री का नाम सुनता हूँ तो मेरा मन जुगुप्सा से भर उठता है। और लाश के पास जाने पर तो ऐसा लगता है कि कहीं मैं कुत्ते की तरह टांग उठाकर पेशाब न कर दूँ इसलिए डर के मारे मैं कहीं नहीं जाता।'

मैं गुस्से से तिलमिला उठा। लेकिन ऊपर से वितृष्णा का भाव बना कर मैंने केवल इतना ही कहा, 'तुम बड़े असंयत आदमी हो। क्या अंटसंट बोलने लगते हो?'

उसने मुस्कराकर मेरी ओर देखा और सहज भाव से कहा, 'मैं खुद नहीं समझता कि क्या बात है, लेकिन लगता ऐसा ही है। और मन की बात कहने में मुझे कोई झिझक नहीं होती। आखिर उस लाश को तुम इतना महत्व क्यों देते हो?'

मैंने तलखी से कहा, 'इसलिए कि यह इस बात का प्रमाण है कि किस सीमा तक हमारा अधःपतन हो चुका है। हमारे अन्दर सड़ांध भरी हुई है।'

वह ठहाका मार कर हँस पड़ा, इतना कि दोहरा हो गया। बोला, 'सड़ांध का अस्तित्व स्वीकार करते हो तो उसे निकल जाने दो। लेकिन तुम नैतिक लोग, नैतिकता का मुलम्मा चढ़ाकर सड़ांध में जीने के आदी हो। तुम कुछ नहीं कर सकते।'

और वह यकायक क्रुद्ध हो उठा। और फिर तुरन्त ही वापिस लौट गया। मैं कुछ सोच पाऊँ कि कान्स्टेबल ने पुकार कर कहा, 'एम्बुलेंस आने में अभी कुछ देर है, जो व्यक्ति इन औरत को पहचानता हो या इनके सम्बन्ध में कुछ सूचना दे सकता हो वह रह जाय, बाकी सब चले जाएँ।'

कुछ लोग बातें करते हुए चले गए। केवल एक व्यक्ति आगे बढ़ा। उसकी आँखों में हिंसा का भाव था और चाल में एक अजीब-सी अक्खड़ता थी। उसने कहा, 'हुजूर मैं नहीं जानता कि यह स्त्री कौन है और कहाँ की है ? मुझे इतना मालूम है कि इसे कुछ लोगों ने खरीदा था और शायद वहाँ से खरीदा था जहाँ आजकल अकाल पड़ा हुआ है। अपने शासकों के शब्दों में कह सकते हैं कि जहाँ के लोगों को पौष्टिक भोजन नहीं मिलता।'

यह बात सुनकर आसपास खड़े व्यक्ति जोर से हँस पड़े। लेकिन उसने इसकी चिन्ता किए बिना कहना जारी रखा, 'मैंने इसे उनके साथ एक ट्रक में बैठे देखा था। कुछ देर मैं भी उस ट्रक में सवार होकर गया था। वे लोग इससे हँसी ठठ्ठा कर रहे थे। और यह बुरी तरह घबरा रही थी। लगता था कि इसे कई दिन से खाना नहीं मिला है। हालाँकि उस समय उसके सामने खाने का ढेर लगा हुआ था। और कभी-कभी वह सहमी-सी खा भी लेती थी। मुँह भर कर बड़ी तेजी से खाती थी।

'इसके बाद मैं उतर कर चला गया। अब मैं समझा हूँ कि बाद में क्या हुआ होगा। मरने पर भी उसकी जलती हुई आँखें, उसकी घायल छाती और जाँघे उस कहानी को कह रही हैं।'

इतना कह कर वह चुप हो गया। उस समय हम भी चुप थे। कई क्षण बाद फुसफुसाहट की आवाज हुई। और उस कान्स्टेबल ने कहा, 'कौन कह सकता है कि तुम भी उन व्यक्तियों में से नहीं हो जिसने अपनी वासना पूरी की।'

उस व्यक्ति ने तीव्र स्वर में प्रतिरोध करते हुए कहा, 'नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम्हें यह लाँछन लगाने का कोई अधिकार नहीं।'

कान्स्टेबल की आँखों में हिंसा भरी शरारत चमकी। बोला, 'कोई कुछ नहीं कह सकता। लेकिन तुम्हें पुलिस स्टेशन तक चलना होगा। तुम इस ट्रक ड्राइवर के साथ बैठ सकते हो। क्या तुम इसे पहचानते हो।'

उस व्यक्ति ने कहा, 'शायद पहचानता हूँ। शायद यह उस ट्रक का ड्राइ-वर है। लेकिन यह उस गिरोह में नहीं था।'

ड्राइवर ने दाँत भींच कर कहा, 'कमीने बदजात, तुम झूठे हो। मैंने तुम को कभी, कहीं नहीं देखा।'

कान्स्टेबल ने एक बार उनकी ओर घूर कर दे । वे दोनों चुप हो गए। उसने फिर हम लोगों की ओर देख कर कहा, 'कोई और है। नहीं है तो आप लोग जाइए। वरना मजबूर होकर मुझे ताकत का इस्तेमाल करना होगा।'

न चाहकर भी हम लोग जाने के लिए मुड़े कि तभी दो व्यक्ति जंगल की ओर से आने वाली पगडंडी पर नज़र आए। उनमें से एक व्यक्ति जिसे बूढ़ा भी कहा जा सकता है एक गठरी सिर पर रखे हुआ था और उसकी लाल-लाल आँखें बाहर निकल रही थीं। उसके चेहरे पर एक लार भरी ललचौंही मुस्कान थी। उसका नाटा साथी काफी फुर्तीला और जवान था। उसने कान्स्टेबल की बात सुनी, और कहा, 'आओ बाबा, कोई बेचारी औरत है। किसी ने उसे मार कर यहाँ फेंक दिया है। देखें शायद पहचान सकें।'

बिना बोले ही वे दोनों लाश के पास आए। कान्स्टेबल ने चादर उतार दी। और वे दोनों उसे झुककर देखने लगे। यकायक बूढ़ा बड़े जोर से काँपा और उसने हाथ जोड़ दिए। फिर उन जुड़े हुए हाथों को माथे से लगाते हुए बुदबुदाया। क्या बुदबुदाया मैं ठीक से नहीं सुन सका। केवल ये ही शब्द कानों में पड़े, 'मैंने इसे देखा तो है, लेकिन पहचान नहीं सकता।'

साथी ने कहा, 'देखा है ? कहाँ कब। याद करो।'

उस वृद्ध ने, मानो वह एक-एक शब्द को तोल कर बोल रहा हो, कहा, 'अब पहचान गया।'

'यह कौन है ?'

'यह, यह भारत माता है।'

साथी हँस पड़ा, 'बाबा ऐसा लगता है आज तुम बहुत पी गए हो। आओ, हम चलें। कहीं किसी को शक हो गया तो…'

फिर कान्स्टेबल की ओर मुड़ कर बोला, 'नहीं हुजूर हम इस बदकिस्मत औरत को नहीं पहचानते।'

और वे दोनों अपने रास्ते पर चल पड़े। बाबा के पैर लड़खड़ा रहे थे। वह मेरे पास से गुजरा। मैंने सुना वह कह रहा था, 'मैं इसे पहचानता हूँ। इसे मरना ही था। लेकिन मरने से पहले यह कई को जिला गई।'

साथी ने अचकचा कर पूछा, 'क्या कहते हो, ठीक-ठीक बताओ।'

सहसा वृद्धको कण्ठावरोध हो आया। कहा, 'ठीक कहता हूँ। यह मेरी लड़की है। परसों इसे मैंने भूख से बिलबिलाते अपने परिवार की रक्षा के लिए एक ट्रक ड्राइवर के हाथ बेच दिया था। उन्हीं रुपयों से तो यह सामान ले जा रहा हूँ। कितना उपकार कर गई बेचारी। मरना तो इसे था ही। हम सबको मरना था। पर मरकर भी बेचारी हमें बचा गई। अगले जन्म में जरूर यह राजा के घर जन्म लेगी। ऐसा ही करना हे भगवान…'

अब्दुल्ला
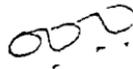
बूढ़ा अब्दुल्ला आमियाँ इकट्ठी करता जाता था और बीच-बीच में गाँव की दिशा में देखता जाता था। उसने पेड़ के नीचे एक छोटी झोंपड़ी डाल रखी थी। उसमें वह रहता भी था और पाल भी लगाता था। उसी झोंपड़ी के सामने दो-तीन टोकरियाँ रखी थीं जिनमें वह आमियाँ डाल रहा था। उसके चारों ओर पत्ते, आमियों के छिलके और गुठलियाँ बिखरी पड़ी थीं और पानी में सड़ जाने के कारण उनसे दुर्गन्ध उठने लगी थी। बीच-बीच में कभी पेड़ से आमी टपकने पर टक् से आवाज होती, कभी कोयल कूकने लगती, कभी सामने की कच्ची सड़क पर तेज़ी से दौड़ती हुई बैलगाड़ी के बैलों की घण्टी बज उठती। उस सड़क पर उन दिनों जहाँ एक ओर गड्ढों में, मेंह के कारण, कीचड़ भर जाता था, वहाँ किनारे के पेड़ों से टपक-टपक कर जामनों ने उसे जामनी बना दिया था। राह चलते राहगीर अक्सर वहाँ जामन खाने को रुकते और चलते-चलते दो-चार आमियाँ भी उठा ले जाते। अब्दुल्ला अक्सर उन पर नाराज़ हो जाया करता था पर कभी-कभी आँखें भी बन्द कर लेता था। ऐसा तब होता था जब प्राइमरी स्कूल के विद्यार्थी टोली बनाकर उसके बाग पर हमला बोलते थे।

वह हमला कब होता था इसका समय लगभग निश्चित था। उसके बाग में अधिकतर आम, जामन और अमरूद के पेड़ थे। जब ये फल पकने को होते तो इस मानवी टिड्डी दल का आक्रमण शुरू हो जाता। अब्दुल्ला भी तब पूरी तरह किलेबन्दी करके उनसे लोहा लेने को तैयार रहता। यह दूसरी बात है कि उसकी किलेबन्दी हमेशा बालू की दीवार साबित होती।

अब्दुल्ला कच्ची सड़क के किनारे वाले इसी बाग में जवान हुआ, इसी में अब बुढ़ापा उसे दबोचता आ रहा है। उसका काला तहमद, बिना बटनों

थी, जल्लाद की तरह कठोर हो गया था।

ऐसा सदा होता था। सदा वह चीखता-कोसता था पर इस बार उसकी चीख में सचमुच दर्द था। ग्राम की फसल वैसे ही हर साल अच्छी नहीं होती, फिर इस बार आँधियाँ इतनी आईं कि उन्होंने लगभग सारा मौल झाड़ दिया। फिर कच्ची आमियाँ इतनी झड़ीं कि उसे रुपये में चवन्नी की भी आशा नहीं रही। इस पर अब कोढ़ में खाज की तरह ये स्कूल के लड़के उन्हें विल्कुल ही खत्म किये दे रहे थे। वह सोचने लगा, पहले भी लड़के हमला करते थे पर इतने ढीठ नहीं थे, इतना नुकसान नहीं करते थे।

हर साल वह इसी तरह सोचता था। हर साल उसकी राय में लड़के पिछले साल से ज्यादा शैतानी करते थे। उनकी टोली मजवूत होती जा रही थी और वह बूढ़ा होता जा रहा था। आजकल उस टोली का सरदार पंजावियों का लौंडा था। वह आठ साल का भी ऐसा लगता था जैसे पन्द्रह का हो, उसका रंग चिट्टा था, नक्श तीखे थे, उसके सुनहरे लट्टूरे वाल माथे पर छाये रहते थे और वह वड़ी-वड़ी आँखों में शरारत भरी मस्ती लिए घूमा करता था। वह न पंजावी वोलता था, न पंजावी कपड़े पहनता था। न जाने कव किस साल में उसके पुरखा रोजी की तलाश में पंजाव से उत्तर प्रदेश के इस कस्वे में आ वसे थे, पर फिर भी वह घराना पंजावियों का कहलाता था और इन्हीं पंजावियों का आठ वर्ष का लौंडा दीपू बूढ़े अब्दुल्का के लिए आतंक वन गया था।

काफी देर वाद अब्दुल्ला के मस्तिष्क में एक विचार पैदा हुआ कि मैं कल स्कूल के हैडमास्टर के पास जाऊँगा और उसकी शिकायत करूँगा, लेकिन दूसरे ही क्षण झिझक गया। उसे याद आया कि सारी उमर में वह सिर्फ दो वार स्कूल में शिकायत लेकर गया है। एक वार जव लड़कों ने उस का घड़ा फोड़ दिया था, दूसरी वार जव उन्होंने उसकी वीवी के पत्थर फेंक मारा था। उसे यह भी याद आया कि कभी स्कूल के लड़के उसके नजदीक घिर आते थे और वह उनमें फसल के फल वाँटा करता था। तो क्या वह इस वार हैडमास्टर के पास जाये। क्या कहेगा कि लड़के आमियाँ तोड़ते हैं। वे तो आँधी ने ही तोड़ दी थीं। आँधी की शिकायत वह किससे करे। लड़के आमियाँ तोड़ लें, चुग लें, वह शिकायत नहीं करेगा; पर वे तो आँखों में धूल झोंक कर चुगी-चुगाई उठा कर ले जाते हैं, यह वह कैसे सह सकता है। पहले वे कभी ऐसा नहीं करते थे। इस पंजावियों के लौंडे ने यह सव सिखाया है। वाकी सव तो भेड़ों की तरह हैं, वह उसी की शिकायत करेगा, जरूर करेगा।

और अगले दिन सचमुच उसने शिकायत कर दी। उसने मुँह से कुछ नहीं कहा बल्कि डाकखाने के सामने बैठने वाले मुंशी को दो पैसे देकर सब बातें लिखवा दीं।

हैडमास्टर न जानता हो सो बात नहीं, फिर भी उसने लड़कों को बुलाया और बहुत जल्दी उसे पता लग गया कि शिकायत बिल्कुल सच्ची है। उसने चिल्ला कर आज्ञा दी कि सबके सामने दीपू और उसके साथियों के बेंत लगाई जाएँ।

अब्दुल्ला ने सुना कि बेंत खाकर पंजाबियों का लौंडा रोया नहीं। हाँ, उसकी आँखें, चेहरा और हथेलियाँ सब आग की तरह दहकने लगे। वह भुनभुनाया—अच्छा हुआ, बच्चू भी क्या याद रक्खेगा। बड़ा तंग करै था। अब देखूंगा कैसे आत्ता है।

दूसरे दिन उसने किलेबन्दी में कोई कमी नहीं की। ठीक समय पर उसकी आँखें आप ही आप निश्चित दिशा की ओर उठती चली गईं। दूर कुछ लड़के वैसे ही एक ओर चले जा रहे थे, चलते चले गए और वह देखता चला गया। उसके हाथ में कंकर थे। वह सोच रहा था—क्या आज कुछ नई चाल है? सहसा एक ओर कुछ आहट हुई। वह मुड़ा, देखा—पंजाबियों का लौंडा उसकी ओर आ रहा है।

अब्दुल्ला ने आँखें मलीं। वह ठगा-सा खड़ा-खड़ा उसे देखता रहा, देखता रहा, और दीपू, निर्भीक, शान्त, दृढ़ पास आता गया, आता गया—दीपू जो शैतानों का सरदार था, जिसे कल बेंतों की सजा मिली थी और जो बेंत खाकर लाल अंगार की तरह दहक उठा था। अब्दुल्ला से कुछ दूरी पर वह रुका और कड़ककर बोला, 'पकड़ो!'

अब्दुल्ला उसी तरह हाथ में कंकर लिये देखता रहा, न हिला न डुला। दीपू फिर बोला, 'नहीं पकड़ते, पकड़ो! ले चलो हैड मास्टर के पास।'

अब्दुल्ला फिर भी खड़ा रहा पत्थर की मूरत की तरह। और विद्रोही दीपू फिर उसी कड़क से बोला, "नहीं पकड़ते। पकड़ो, बेंत लगवाओ!'

अब्दुल्ला सहसा हँस पड़ा, जोर से हँस पड़ा। हँसते-हँसते बोला, 'आओ, यहाँ आओ!'

और वह आगे बढ़ा, दीपू पीछे हटा। और आगे बढ़ा, दीपू और पीछे हटा और मुड़कर तेजी से भाग चला पर उससे पूर्व हाथ में जो पत्थर था उसे जोर से अब्दुल्ला पर फेंका। अब्दुल्ला उसकी मंशा नहीं भाँप सका था। इसलिये बचते-बचते भी वह पत्थर जोर से उसके घुटने में लगा। उसकी चीख निकल गई। वह वहीं बैठ गया और ज़ोर-ज़ोर से गालियाँ देने लगा।

अगले दिन स्कूल में छुट्टी थी। फिर दो दिन बादल गरजे और मूसलाधार पानी पड़ा। चौथे दिन कहीं आसमान साफ हुआ। टपके की आमियों से सारा बाग भर गया। इतना आम था कि अब्दुल्ला सबको उठा भी नहीं सका और जब कुछ लड़के सड़क के किनारे-किनारे से उसे बटोर ले गए तो उसने उन्हें कुछ भी नहीं कहा। कहने का अवकाश भी नहीं मिला, पर उसने यह अवश्य देख लिया था कि उनमें पंजाबियों का वह लौंडा दीपू और उसकी टोली नहीं है। अगले दिन बाजार जाते हुए वह स्कूल के आगे से निकला। उधर गया जिधर नीम के नीचे दीपू का बाबा तेज-तेज बोलकर आटा-दाल और चावल बेचा करता था और उसके बाप की ऊँचे तख्तों वाली कपड़े की दूकान थी, पर कहीं भी उसने दीपू को नहीं देखा। उसने सोचा—कहीं चला गया होगा। अच्छा है, नहीं तो इन दिनों जितना आम गिरा उसका चौथाई भी पल्ले न पड़ता।

लेकिन जब तीन-चार दिन और बीत गये तो अब्दुल्ला को एक अजीब-सी उदासी ने जकड़ लिया। उसने अपनी बीवी से कहा, 'आजकल बाग में काम कम है।'

बीवी बोली, 'हाँ, फसल बस खतम समझो।'

अगले दिन जब कल्लू बैलवान बैलों को राजबहाये पर ले जा रहा था तब अब्दुल्ला बाग के बाहर ही खड़ा था। कल्लू ने रामरमी करके पूछा, 'कैसे खड़े हो, चाच्चा!'

'काम बड़ा हल्का है, कल्लू। पहले तो दिके आँधी ने मौल गिरा दिया था। अब्जा पानी ने रही-सही आमियाँ झाड़ दीं।'

'हाँ चाच्चा। सच कहो हो, इस साल आम कम हुआ है।'

'बहोत कम। खाली बैठा रहूँ हूँ।'

कल्लू के बैल आगे निकल गए थे। वह उन्हें पुकारता हुआ आगे बढ़ गया, पर अब्दुल्ला अँधेरा पड़ने तक वहीं घूमता रहा। उसका मन बेचैन था। उदासी की पकड़ गहरी हो रही थी। वह कहता कुछ नहीं था पर जैसे वह बिल्कुल थक गया हो। जैसा कि वह पहले किया करता था एक दिन उसने कंकरों का ढेर इकट्ठा किया और फिर ठीक समय उन्हें चारों ओर फेंकने लगा। तब न कहीं कोयल कूक रही थी, न बैलों की घण्टी बज रही थी। न कहीं उसे किलकारी सुनाई दी पर वह कंकरियाँ फेंकता गया, फेंकता गया जैसे उन्हीं की आवाज में वह अपने दिल की आवाज डुबो देना चाहता हो।

जब उसकी बीवी रोटी लेकर आई तो, वह तब भी कंकरियाँ फेंक रहा

था। उसने पूछा, 'सका वे दौड़े फिर आगये ?'

वह तेजी से चौंका, 'आ गये, किन्हें ?'

'मैं तो पूछती थी, आ गये क्या ?'

वह हताश होकर गुनगुनाया, 'अब क्या आवेंगे। मार क्या कम पड़ी थी।'

तीसरे दिन उसने चुपचाप एक बड़ी खोज की। उसने टोली के एक लड़के को ढूँढ़ निकाला और उससे दोस्ती करने को खूब आम दिये। उससे पता लगा कि दीपू कई दिन से बुखार के कारण स्कूल नहीं आता। इस खोज पर उसे हर्ष भी हुआ और दर्द भी। वह एक नई चिन्ता में घुलने लगा। आखिर एक शाम उसके पैर उधर मुड़ गये जिधर दीपू का घर था। वह एक पक्की हवेली थी जिसका दरवाजा हमेशा नहीं खुलता था। वह बेचैन-सा बहुत देर तक इधर-उधर मंडराता रहा। आखिर जब दीपू के पिता को दरवाजा खोल कर बाहर आते देखा तो, वह चौकन्ना हो गया लेकिन जब उनके गंभीर शोकाच्छन्न चेहरे को देखा तो उसका दिल तेजी से धड़कने लगा। उसने जल्दी-जल्दी आगे बढ़ कर कुछ पूछना चाहा पर स्कूल की घटना के कारण वह सामने आने का साहस न कर सका। वह बेचैनी से तिलमिला ही रहा था कि एक सज्जन उधर आ निकले। उन्होंने सामना होते ही दीपू के पिता से पूछा, 'क्यों भइया ! दीपू कैसा है ?'

'अभी तो वैसा ही है।' दीपू के पिता ने जवाब दिया और तेजी से आगे बढ़ गए। अब्दुल्ला के दिल की धड़कन जैसे रुक गई हो। कई क्षण भौंचक-सा वहीं खड़ा रहा, फिर लड़खड़ाता हुआ अपनी झोंपड़ी में लौटा और देर तक सिजदे में झुका रहा। कई बार उसकी आँखों में बड़ी-बड़ी बूँदें टपकीं।

वह कई दिन तक लगातार वहाँ आता रहा और उस बन्द मकान से निकलने वाले प्रत्येक प्राणी के चेहरे का अध्ययन करता रहा। वह जानबूझ कर किसी के सामने नहीं पड़ा पर एक दिन वह भाँप गया कि दीपू अब अच्छा हो रहा है। तब उसका दिल रोशनी से भर उठा। अगले दिन उसने चुन-चुन कर बढ़ियाँ आमियाँ टोकरी में भरीं और सीधे उस बन्द दरवाजे पर जाकर दस्तक दी। दीपू के एक बाबा, जो अब्दुल्ला को अच्छी तरह जानते थे, वहाँ मौजूद थे। इसलिए उसे दीपू के पास तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पर जब उसने दीपू को देखा तो उसके हृदय को बड़ी चोट पहुँची। देखा वह गले तक चादर से ढका पड़ा है, उसका अंगार-सा दहकता मुख पीला पड़ गया है। आँखें अन्दर धँस गई हैं और उसके सुनहरे

लटूरे बाल रूखे-सूखे हो रहे हैं। दीपू ने देखा, देखता ही रहा। सहसा उसकी मानसिक प्रतिक्रिया का किसी को पता नहीं लगा पर अब्दुल्ला भाँप गया और बड़ी कठिनता से वह आँसुओं को रोक पाया। उसने हँसते हुए कहा, 'हैं, हैं, लल्लू, अब ठीक हो। जल्दी ठीक हो जाओ, मैं तुम्हारे लिए आम लाया हूँ, तुम टपके के आम खाते थे न ? ठीक होकर जल्दी आना ! हैं, हैं, जल्दी आना !'

डर के मारे उसने उसे छुआ तक नहीं। पर जब वह मुड़ा तो उसके आँसू नहीं रुके। रुंधे हुए कण्ठ से उसने दीपू के बाबा से कहा, 'कई दिन से नहीं देखा। सोच्चूं था क्या हुआ लल्लू को। मालिक बड़ा मेहरबान है, बड़ा रहीम है। बस, ठीक हुआ समझो।'

इतना कह कर उसी चिर दिन के साथी काले तहमद से आँखें पोंछ डालीं। वह वहाँ कुछ क्षण ही रुका। उन क्षणों में उसका दिल बराबर एक तेज रोशनी से रोशन होता रहा और जब घर लौटा तो उसके चेहरे पर पुरानी मानवी-भावना पूरे उभार के साथ फैल गई।

उसे लगा वह फिर जवान हो चला है।

1953

16—

तूफान और तूफान

सचमुच उस दिन बादल के लिए शान प्रदेश की हरी-भरी पहाड़ियों और तरंगति जलवाली झीलों से विदा लेना कठिन हो गया। इसलिए नहीं कि प्रकृति उसे मोह लेती है, बल्कि इसलिए कि काजल उसके साथ है। कल अचानक ही वह यहाँ आ पहुँची है और उसके साथ बादल का प्रिय मित्र कमल भी है। बादल जितना अन्तर्मुखी है, कमल उतना ही बहिर्मुखी। काजल घण्टों मुक्त भाव से कमल से बातें कर सकती है, लेकिन बादल की पत्नी होते हुए भी वह अपने को उसके इतना पास नहीं पाती। बादल कलाकार है और काजल राजनीति की कुशल खिलाड़ी। और कमल है कि जिसके मार्ग में बाधा जैसी कोई चीज ही नहीं है। वह कहीं भी, किसी भी स्थिति में, किसी भी समय सहज भाव से व्यवहार कर सकता है। काजल अचरज से उसकी ओर देखती रह जाती है। सभा-सोसायटी उसको प्रिय हैं, इसलिए अनजाने ही वह कमल के प्रति अनुरक्त होती चली गयी है। जिस दिन सहसा जान पायी, उस दिन तक मेघ सघन हो चुके थे।

बादल ने इस स्थिति को सहज भाव से स्वीकार कर लिया हो, ऐसा तो नहीं था। उसका भारत से पलायन ही उसकी पीड़ा का प्रतीक था। परन्तु काफी दिन तक इधर-उधर भटकने के बाद जब वह बर्मा पहुँचा, तब तक उसने काजल से अलहदगी को स्वीकार कर लिया था। इसीलिए जब एक दिन उसने सुना कि वह टौंजी आ पहुँची है, तो सहसा उसे विश्वास नहीं आया। लेकिन सामने जिसको पाया, वह सचमुच काजल थी। एकान्त पाते ही बोली, 'लड़ने आयी हूँ!'

बादल मुस्कराया। बोला, 'अकेली हो?'

'तुम लोगों ने नारी को अकेले आने-जाने का अधिकार कहाँ दिया है, सो कमल को लेकर आयी हूँ।'

'काजल !'

'हूँ।'

'सच बताओ, तुम क्यों आयी हो ?'

'कहा तो।'

'नहीं, वह ठीक नहीं है।'

'बादल,' कमल कुछ काँपी, क्रुद्ध भी हुई, फिर उन क्षणों में युगों जितनी छलाँग लगाकर बोली, 'मैं तुम्हें वापस ले जान के लिए आयी हूँ।'

× × ×

बादल ने सहसा काजल की ओर देखा। दृष्टि मिल गयी। वही 'अमिय हलाहल मद भरे नयन'। जरा भी तो अन्तर नहीं है। लेकिन वह जानता है कि काजल राजनीति की खिलाड़ी है और राजनीति में सत्य का अर्थ यथार्थ नहीं होता। जब वह यह कहती है कि तुम्हें वापस लेने आयी हूँ, तो उसका अर्थ यही है कि अब मुझे मुक्ति दो। मुक्ति देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो देश तक छोड़ आया हूँ। लेकिन वह स्वयं चलकर क्यों आयी ? और क्यों कमल उसके साथ आया ? शायद मुझे यह बताने के लिए कि इस पलायन का अर्थ यही है कि मैं उसे मुक्ति देते हिचकिचाता हूँ। मैं नहीं चाहता कि वह कमल से मिले।...

यही सोच-सोचकर उसका उदासीन मन बार-बार किसी आशंका से काँपने लगा। कल मार्ग में मिलनेवाले रंग-दीप्त सर्प नयनों में उभरने लगे। सर्प और काजल, काजल और सर्प, क्या इन में कहीं समानता है ?...

अपने इस विचार पर अत्यन्त पीड़ित होकर भी वह अपने को काजल के समीप नहीं पा सका। क्षण-क्षण में उसे धूप में चमकते उन साँपों की याद आने लगी। वह शायद नागिन थी। वह दीप्त वर्ण, वह वक्राकार गति, जहाँ मृत्यु है वहां इतना सौन्दर्य ! काजल भी तो ऐसी ही सुन्दर है।...

अन्धविश्वास ! हम सब अन्धविश्वासों में ग्रस्त हैं। पति-पत्नी का एक दूसरे को खोना-पाना यह भी तो अन्धविश्वास ही है।

लेकिन ये विचार उसकी सहायता न कर सके। काजल और कमल, दोनों ने मिलकर ऐसा प्रबन्ध किया कि उन्हें अगले दिन ही हवाई जहाज में जगह मिल गयी। कमल सीधा जिलाधीश के पास पहुँचा। और फिर टिकट मिलने में असुविधा का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि काजल लोक सभा

की सदस्या थी। बादल इस सफलता पर मुस्करा उठा, लेकिन उसके अन्तर में एक टीस-सी उठी। वह चाहकर भी टिकट प्राप्त नहीं कर सकता था। उसे लगा जैसे वह टिकट उसे दान में मिला है। वह काँप-काँप उठा, लेकिन उसी क्षण काजल उसे खींचकर रेस्तराँ में ले गयी। बोली, 'तुमने कल से कुछ भी तो नहीं खाया। सच कहो, क्या तुम मेरे आने से बहुत अप्रसन्न हो ?'

बादल ने बहुत धीरे से कहा, 'तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिए।'

काजल मुस्करायी, 'सोचना पड़ता है। यह सच है कि मैं तुम्हें लेने आयी हूँ, लेकिन यह भी सच है कि मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध बाँधे नहीं रख सकूँगी। तुम चाहोगे तो मुक्ति स्थायी हो सकती है।'

बादल उसकी ओर देखता रह गया। विस्मित—विमूढ़ ! उसके मनमें यही तो शंका थी और वह इसके लिए तैयार भी था। उसने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि कला और राजनीति की राशि एक नहीं होती। वह काजल के योग्य नहीं है। उसके योग्य तो कमल है। इसीलिए वह देश से इतनी दूर, प्रकृति के प्राँगण में शान्ति पाने चला आया था। लेकिन फिर काजल स्वयं कमल को लेकर क्यों आयी ? पत्र भी लिख सकती थी।...

एकाएक काजल बोली, 'अच्छा, तुम नाश्ता करो। मैं तब तक कमल के साथ यात्रा की व्यवस्था देखती हूँ, क्योंकि मैंने सुना है कि कहीं कोई दुर्घटना हो गयी है और इस जहाज में कुछ सीटें उस जहाज के यात्रियों को देनी होंगी।'

काजल सच कह रही थी। इसीलिए सब यात्रियों के मुख पर चिन्ता उभर आयी थी और वे व्यस्त होकर इधर-उधर आ जा रहे थे। इस रहस्य को जानकर बादल मुस्करा उठा। मन में सोचा, 'ठीक है, मैं रुक सकता हूँ। मैं भारत लौटना नहीं चाहता। जितने दिन रह सकूँ, उतना ही अच्छा है। सदा के लिए रह सकूँ, तो और भी अच्छा है। काजल कमल को लेकर इसीलिए तो आयी है कि वह मुझ पर कमल की शक्ति प्रकट कर सके। बता सके कि कमल उसके कितना पास है।'

सहसा उसने दृष्टि उठाकर देखा कि काजल और कमल, दोनों व्यस्त भाव से अन्दर-बाहर आ-जा रहे हैं। यों वहाँ अद्भुत शान्ति है। पर्वतों से घिरा वह हवाई अड्डा बहुत छोटा है। लम्बे बरामदे वाला एक विशाल भवन, दो-तीन दूकानें, सामने फैला हुआ प्रशस्त मैदान और उससे परे पहाड़ियाँ। सहसा एक विचार कौंध जाता है—ये हवाई जहाज इन पहाड़ियों से टकरा नहीं जाते ?...

बादल काँप-काँप आया—मुझे आज विनाश ही विनाश क्यों याद आ रहा है ? हवाई अड्डा छोटा है, तो हवाई जहाज भी तो छोटे ही हैं।

यहीं रहना चाहते हो ?'

वादल एक क्षण गम्भीरता से काजल के मुख की ओर देखता है। मन में उठता है कि कहे, 'तुम यह प्रश्न पूछने वाली कौन होती हो ? मैं चाहूँगा आज लौटूंगा और चाहूँगा, नहीं लौटूंगा। चाहूँगा तो तुम्हें भी इस्तीफा देना होगा !' लेकिन वह शान्त भाव से उत्तर देता है, 'नहीं, तुम चाहो तो तुम्हारे साथ जा सकता हूँ। तुम्हारा पति होने के नाते जो आदर-अभ्यर्थना मिलेगी, उसे भी अस्वीकार नहीं करूँगा। पर मैं किसी का हो नहीं सकूंगा।'

"अच्छा, एक वात पूछूं, तुम जो इतने कठोर वने रहते हो, सो क्या मुझे चिढ़ाने को ?"

"जानता हूँ कि जिस गुण पर नारी रीझती है, वह मुझ में नहीं है। पर कठोर होने का अभियोग लगा कर तुम अन्याय कर रही हो, यह वात तुम भी जानती हो।"

"जानती हूँ, पर हम स्त्रियाँ जिस गुण पर रीझती हैं, वह क्या है ?"

"देखो काजल, मैं न तो लोक सभा का सदस्य हूँ और न यह लोकसभा है। न-न, क्रोध मत करो। वताये देता हूँ, नारी त्रिकाल में एक ही वात से खुश हुई है; वह है वक्तृत्व कला। न, न, प्रतिवाद मत करो। और यह भी सुन लो कि मैं इस कला में कोरा हूँ। नारी की उपेक्षा-उदासीनता का ही मैं अधिकारी रहा हूँ, प्यार-प्रतीक्षा का नहीं।"

काजल के अन्तर में प्रतिवाद का ववण्डर उठा, पर वैसे ही दव भी गया। उसके आवेग से पसीना-पसीना होकर काजल वोली, 'तुम्हारे ये क्षुद्र विचार इसीलिए हैं कि तुम मुझसे ईर्ष्या करते हो !'

वादल ने हठात् सहमकर काजल की ओर देखना चाहा, पर दृष्टि वाहर के वातावरण पर जा अटकी। पाया—न है वस्ती, न हैं खेत-खलिहान। सूर्य का प्रकाश भी जैसे उनसे दूर हो गया है। क्षण भर पहले के मेघ शावक यौवन से उन्मत्त हो हुँकार कर उठे हैं। सुरमई घटाएँ घिर-घिर आती हैं और दृष्टि-पथ में केवल कुहर ही शेष रह जाता है। फिर वह पारदर्शी अन्धकार भी कुछ ही क्षणों में और गहन होता है और नन्हा-सा वायुयान, जो डकोटा से भी छोटा है, हिल-हिल उठता है। एक और क्षण वीतता है। घटाएँ पिघलती हैं और सव कुछ को ग्रस लेती हैं। वादल के मन की स्थिति ऐसे ही तो है। लेकिन न जाने कैसे वह काजल का हाथ अपने हाथ में लेकर कहता है, 'शायद तुम ठीक कहती हो, यह ईर्ष्या ही है। पर मैंने तुमसे एक

दिन कहा था कि तुम सदा मुक्त रहोगी। आज भी मुक्त हो। मैं तुम्हारे माग की बाधा नहीं बनूँगा।'

× × ×

और वह उसके हाथ को धीरे से दबाकर वापस उसकी जाँघ पर रख देता है। तब तक वायुयान में एक अशुभ-सा सन्नाटा छा चुका है। यात्री स्तब्ध, मौन और हतप्रभ हो आये हैं और दूसरे क्षण वर्षा की बूँदें बड़े-बड़े ओलों में परिणत हो जाती हैं। उनके आघात से वायुयान जैसे धरती और आकाश की आकर्षण-शक्ति से छिटक गया है। हर आघात जैसे प्रति क्षण पास आने वाली मृत्यु के पदचापों में परिवर्तित हो रहा है। विद्युत काँपती है। यान काँपता है। काजल काँपती है। ऊदी-ऊदी घटाएँ तरल अन्धकार का रूप लेकर उन्हें निगलने को द्रुत वेग से दौड़ती हैं। वायुयान कभी सहसा धरती की ओर वेग से गिरता है, कभी आकाश की ओर उठता है। गहन घोर अन्धकार में बाहर का कुछ नहीं दिखायी देता। ओलों का अनवरत अनहद नाद, मेघों का घनघोर गर्जन और चंचलता का ताण्डव नृत्य, बादल और काजल दोनों के वक्ष पर जैसे वह प्रतिबिम्बित हो आया हो। सहसा काजल बादल की ओर देखती है, फिर पीछे मुड़कर कमल की ओर देखती है। सामने पायलट के द्वार पर देखती है—वहाँ लाल रोशनी चमक आयी है। उस पर लिखा है—पेटियाँ बाँध लीजिए। कमल के मुख पर वह पढ़ती है, जैसे वहाँ लिखा हो—मृत्यु बहुत पास है। वह इसी क्षण हमको लील जायेगी। वह स्वस्थ और सुन्दर है। उसके व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण है। लेकिन इस क्षण जैसे वह स्तब्ध हो रहा है। धीरे से कह उठता है, 'अब क्या होगा काजल! क्या इसी क्षण के लिए हमने सीटों के लिए प्रयत्न किया था। क्या हम सबके शरीर सुन्दर पहाड़ियों पर बिखर जाएँगे...'

घनघोर स्वर और भी घनघोर हो उठता है। कमल के ये शब्द काजल की छाती में बजते हैं। वह उसकी आँखों में मृत्यु की छाया देखती है। लेकिन यह जो उसके पास बादल बैठा है, वह उसी तरह शान्त मूर्तिवत कहीं खोया हुआ है। कमल बराबर कुछ कहे जा रहा है। लेकिन इसके पास जैसे वाणी है ही नहीं। शायद इसे यह सोचकर खुशी हो रही है कि अब हम सब नष्ट हो जाएँगे और वह एकाएक अपने को चौंकाती हुई पूछ बैठती है, 'बादल, कैसा लग रहा है, अब क्या होगा ?'

बादल उसकी ओर मुड़ता है। अपना हाथ उसके कन्धे पर रख कर दबा देता है, 'आगे क्या होगा, इसकी चिन्ता क्यों ? हमें इस क्षण के सौभाग्य

पर गर्व होना चाहिए कि हम प्रकृति के इस रूप को देख रहे हैं। यह शिव का ही तो एक रूप है।'

और वह उसी निर्द्वन्द्व भाव से उसकी पेटी कस देता है, फिर चुपचाप कन्धे को दबा देता है। काजल मुस्कराने की चेष्टा करती है। अनजाने ही जितना झुक सकती है, झुक आती है। शरीर शिथिल हो आता है। बादल उसके अन्तर के तूफान को अनुभव करता है। उसे अपने पास खींच लेता है। काजल अनुभव करती है जैसे वे गिर रहे हैं। घनघोर अनहद नाद में उनकी सत्ता लोप हो गयी है। वह चीखना चाहती है पर चीख नहीं पाती। आँखें बन्द कर लेती है...

'डर लगता है, काजल ?'

'लगा था, पर तुमने दूर कर दिया।'

बादल हँस पड़ता है और उसी के साथ काजल अनुभव करती है कि वह अनहद नाद सहसा समाप्त हो गया है। समाप्त हो गयी है पास आती मृत्यु की पदचाप। बादल की गोद में कैसी शान्ति है, जो उसे जीवन से भरती आ रही है। वह उसमें समा जाना चाहती है। लेकिन बादल उसके बालों में उंगली उलझाता हुआ सहलाता है और फिर उसी चिर परिचित वाणी में कहता है, 'उठो काजल।'

काजल जैसे स्वप्न से जागती है। हतप्रभ-सी देखती है। कहीं भी तो कुछ नहीं है। है केवल विस्तृत नीला आकाश, सद्य-स्नाता प्रकृति, जिसकी दीर्घ केशराशि पीठ पर बिखरी हुई है और जिसकी अभिराम साड़ी युग-युगान्त तक फैल रही है।

फिर वह बादल की ओर देखती है। यह शरद का सुन्दर बादल नहीं है जो केवल उड़ता ही है। केवल प्यास जगाता ही है। यह तो वर्षा का बादल है, जिसमें कीच भी है, उमस भी है और प्यास जगाने की अनन्त शक्ति भी है। जिसके उत्तरदायित्व का अन्त ही नहीं। बादल मुस्कराकर कहता है, 'यह तुम्हारा ही तो रूप है। क्षण भर पहले का भी और इस क्षण का भी। पायलट की कुशलता ने हमें दोनों के दर्शन करा दिये।'

काजल चित्र लिखित-सी तूफान के उस चित्र को देखती है—कृष्णवर्णी घनघोर घटाएँ, तुमुल जल वर्षा, चंचला का वह मोहक रुद्र रूप, सब चित्र-कार की तूलिका से अंकित-सा दिखायी देता है, जो किसी जादूगर के स्पर्श से कुछ क्षण के लिए जी उठा था, जैसे दादी की कहानी में राजकुमार के स्पर्श से पत्थर का नगर, नर-नारी, राजकुमारी सभी जी उठते हैं। वह सोचती है कि क्या वह भी नहीं जी उठी है ? क्या वह उस बोझ से मुक्त

नहीं हो गयी है, जिसके नीचे वह कुछ क्षण पहले तड़फड़ा रही थी। वह पीछे की ओर मुड़कर फिर कमल की ओर देखती है। उसका चेहरा अभी भी किसी मर्मान्तिक पीड़ा से राख-सा हो रहा है। और वह मुस्कराने की चेष्टा में बड़ा दयनीय दिखायी देता है और जहाज रंगून के हवाई अड्डे पर उतरने लगता है। वह उन्मुक्त होकर जैसे उछल पड़ती है। पेटी खोल देती है और बादल को खींचती हुई बाहर ले जाती है। कमल पीछे-पीछे है, वह अब भी उद्विग्न है। धरती पर पैर रखते ही वह साष्टाँग लेट जाता है। बार-बार कहता है, 'सुनो काजल, आज तो बस ईश्वर ने बचाया। शायद हम ने पूर्व जन्म में कोई पुण्य किया था।'

कृतज्ञ काजल भी है। पर उसकी कृतज्ञता ईश्वर के प्रति नहीं, बादल के प्रति है। बादल अनुभव करता है कि काजल की जकड़ निरन्तर तीव्र हो रही है। वह उसे मानो कमल से दूर खींच ले जाना चाहती है। वह उसे घसीटती हुई हवाई अड्डे के विशाल प्रकोष्ठ में सोफे पर ले जाती है और फिर जैसे अपने को उसके हाथों में फिर से सौंपती हुई फुसफुसा उठती है, 'नहीं-नहीं, मैं तुमसे दूर नहीं हो सकती। तुम यहाँ रहोगे तो मैं भी यहीं रहूँगी। तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ? क्यों सदा अपने में खोये रहते हो, क्यों मुझे अपना नहीं समझते ?'

बादल जैसे हतप्रभ-सा होता है। दूसरे ही क्षण उसे लगता है कि कहीं कुछ हुआ ही नहीं है। वह धीरे से स्नेह-सिक्त स्वर में कहता है, 'आओ, चलें, मेरे मित्र ने गाड़ी भेज दी है।'

और इस बार वह उसे घसीटता हुआ ले चलता है। अचरज, वह तनिक भी विरोध नहीं करती। बालक की तरह घिसटती चली जाती है। मुड़कर यह भी नहीं देखती कि कमल पीछे आ रहा है या नहीं। बादल ही मुड़कर सहज भाव से पुकारता है, "कमल, जल्दी आओ, भाई !"

इन्द्रधनुष

आश्चर्य ! यह वही इति है जिसे ययाति तीन वर्ष पूर्व जानता था। आज अचानक दो विरोधी मार्गों पर जाते हुए उनकी भेंट इस अतिथिगृह में हो गयी। तपोवन की तरह परम शान्त इस भवन के पास दूर-दूर तक वस्ती नहीं है। आते-जाते यात्री ही यहाँ टकरा जाते हैं। दोनों एक दूसरे से सटे दो कमरों में ठहरे हैं। उधर इति है, उसके पति हैं। दो वर्ष का श्वेतांग भी है। पति मजिस्ट्रेट हैं। स्वस्थ और रोवीले। पहले ही क्षण ययाति ने देख लिया है कि उनकी वाहों की गुंजलक माँसल है। और इति की दृष्टि में तृप्ति ही तृप्ति है।

सन्ध्या को ययाति को देख कर वह सहज भाव से मुस्कराई थी। फिर चेहरे पर आश्चर्य का भाव लाकर कहा था, 'तुम यहाँ।'

'हाँ, आबू से लौट रहा हूँ।'

'और हम जा रहे हैं।'

'अच्छी तो हो इति।'

'हाँ अच्छी हूँ। तुम अच्छे हो ?'

उत्तर की प्रतीक्षा किए विना इति मुड़ी। मजिस्ट्रेट साहब की ओर इंगित करके वोली, 'इनसे मिलो। ये हैं मेरे पति प्रशान्त। यह है हमारा श्वेतांग।'

कहते-कहते इति गर्विता हुई। मानो तृप्ति ने रूप धारण किया हो। आश्चर्य, कोई इतना भी केन्द्रित हो सकता है।

इति प्रशान्त से वोली, 'और ये हैं ययाति। लेखक हैं, नाम सुना होगा। धूमकेतु की तरह प्रसिद्ध हैं।'

'ओह'—कहकर प्रशान्त ने ठीक अधिकारी की सी शिष्टता से हाथ आगे बढ़ाया। कहा, 'अच्छे हैं आप ? इति ने आपके बारे में बहुत कुछ बताया है। यही पढ़ती रहती है। हम तो प्रशासन के पुर्जे मात्र हैं।'

फिर वह हँसे थे। इति भी हँसी थी। ययाति भी हँस आया था। लेकिन अन्तर में जैसे सब कुछ कड़वा-कड़वा। बस इतना भर ही, यह भी इतना औपचारिक मानो किसी नाटक का अंश हो जिसे उन्हें निभाना अनिवार्य था।

फिर इति श्वेतांग की उँगली पकड़ कर और प्रशान्त के हाथ में हाथ डालकर अपने कक्ष में चली गयी। मानो जताती हो कि मैं कितनी भरी-भरी हूँ। और ययाति कई क्षण स्तब्ध-सा वहीं खड़ा रहा। फिर उसने क्रुद्ध हो कर इति के ठीक बराबर वाला कमरा चुना। और जानबूझ कर दोनों कमरों के मिलने वाले द्वार की चटखनी खुली छोड़ दी।

इति आयेगी, इति को आना होगा।

ययाति इति से तीन वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश के एक पहाड़ी नगर में मिला था। एक प्रसिद्ध उद्योगपति के निजी सचिव की बेटी वह उसके मित्र की पूर्व परिचिता थी। उसी के साथ छुट्टियाँ बिताने वह वहाँ गया था। मित्र ने उसे चेतावनी दी थी—तुम्हें इति को जान लेना चाहिए।

क्यों !

बहुत सरल प्राण लड़की है पर कैशोर्य में उसके किसी रिश्तेदार ने लुभा लुभाकर उसका दिल तोड़ा है। तब से एक ग्रन्थि उसके मन में उभर आई है···तुम तो लेखक हो समझते हो।

ययाति ने सुन लिया। किसी न किसी मार्ग से आकर यह ग्रन्थि हर युवक युवती के भीतर उभर आती है। मानो वह हर किसी की नियति हो पर तब वह अकेला नहीं था। साथ में चार वर्ष की श्वेता थी। माँ स अलग रहने का उस का यह प्रथम अवसर था। उसी श्वेता को इति ने ऐसे सहज स्नेह से ग्रहण किया जैसे वह उसी की हो। और उसे ही क्यों, स्वयं ययाति को भी एक क्षण के लिए अपरिचय का एहसास नहीं होने दिया था। बोली थी, 'आपके मित्र अजित इस घर को अपना ही समझते हैं। आप भी ऐसा ही समझिये। अतिथि बन कर आप कुछ नहीं पा सकेंगे। स्वागत-सत्कार में हम कोरे हैं। अच्छा, बक्स की चाबी दीजिये तो।'

हत्प्रभ-सा ययाति बोला, 'कौन से बक्स की चाबी ?'

इति खिलखिला आई, 'बस डर गये। अपने बक्स की चाबी दीजिए' विश्वास रखिये कुछ खोयेगा नहीं।'

ययाति सकपकाया. 'नही-नही. मेरा यह मतलब नही था।'

इति सहज भाव से बोली, 'मैं जानती हूँ। न होने में ही भला है। दीजिये चाबी। दीजिये न।'

'लीजिये।' जैसे ययाति कुछ समझ नहीं पा रहा था। मात्र किसी के हाथ का यन्त्र था। चाबी निकाली और इति को दे दी।

इति उसी सहज भाव से बोली, 'बस अब आप निश्चिन्त रहिये। श्वेता यहीं नीचे मेरे पास रहेगी आपके सोने का प्रबन्ध ऊपर अजित के पास है। घबराइये नहीं। बिल्कुल एकान्त है। जानती हूँ, आप लेखक हैं। आपको मूड चाहिए। अजित ने मुझे आपके विषय में सब कुछ बता दिया है। आप की सारी आवश्यकताएँ मेरे मस्तिष्क पर अंकित हो चुकी हैं। ऐसे देख क्या रहे हैं ? ऊपर चलो। मैं सामान ठीक करके अभी आती हूँ।'

और खिलखिलाती इति वहाँ से तुरन्त गायब हो गई थी। और वह स्तम्भित चकित देखता वहीं खड़ा रहा। उसे विश्वास नहीं आ रहा था कि क्या इतना सुख सम्भव है। इति की खिलखिलाहट पास आने पर ही वह सचेत हुआ। और दौड़ता हुआ ऊपर चला गया। भयभीत होता हुआ कहीं इति उसे देख न ले।

लेकिन क्या वह इति की दृष्टि से बच सका। जेलर की तरह इति आती। चाय का प्याला रख जाती। कहती, 'अब दस बजे आऊँगी। तब तक घूम-घाम कर लौट आना। झील के किनारे ही न रम जाना। न बाबा, लेखकों से मुझे बड़ा डर लगता है। अपने को वे जितना प्यार करते हैं, उसका सहस्त्रवाँ भाग भी दूसरे को करने लगे तो संसार का उद्धार हो जाय। खैर, सन्ध्या को मैं साथ चलूँगी। और हाँ, अच्छे लड़के की तरह नहा धो लेना। सब कुछ तैयार है। फिर कुछ पढ़ोगे। एक बजे भोजन नीचे हम सबके साथ करना होगा। फिर थोड़ी देर पापा आराम करते हैं। हाँ, उनको ब्रिज खेलने का बहुत शौक है। दो बजे के बाद खेल शुरू होता है तो सन्ध्या के नाश्ते तक चलता रहता है। उसके बाद सान्ध्य-भ्रमण।'

इति सहसा चुप हो गई। ययाति जैसे काँपा हो। अनायास बोला, 'और ?'

इति ने कहा, 'और क्या खाक। तुम तो बोलते ही नहीं। बस देखते ही रहते हो। गूंगे हो क्या ? मैं इतनी सुन्दर तो नहीं हूँ।'

ययाति यकायक मुस्करा आया। बोला, 'न मैं गूँगा हूँ, न सौन्दर्य का पुजारी ही।'

इति एक दम बोल उठी, 'तो खाक लेखक हो ?'

ययाति का सारा बदन जैसे चिपचिपा आया हो। चेहरा विवर्ण हो उठा। सहसा इति से दृष्टि जा मिली तो सकपका कर बोला, 'हाँ, मैं लेखक कहाँ हूँ।'

इति फिर खिलखिलाई, 'समझी, तो स्वप्नदर्शी हो। लेकिन आज का लेखक स्वप्न नहीं देखता। अच्छा दिखाओ, क्या नया लिखा है इधर। दोनों उपन्यास पढ़ गई हूँ। खोजती रही, मैं उनमें कहाँ हूँ ?'

'आप।'

'आप नहीं, तुम।'

'जी, तुम।'

'तो जी, मैं अपने को ही खोजती थी। पर पा न सकी। अब लौट कर मुझ पर लिखेंगे न ?'

'मैं किसी व्यक्ति पर नहीं लिखता।'

'इतने स्वार्थी हो ! अपने को ही विस्तार देते रहते हो।'

ययाति फिर काँप-काँप आया।

इति हँस कर बोली, 'अच्छा-अच्छा, उठो। मैं स्वयं पढ़ लूँगी। इस बार जो भी लिखोगे इति उसमें होगी।'

और इति वहाँ से भाग खड़ी हुई। और ययाति यन्त्रवत् उसके इशारे पर नाचता रहा। श्वेता से बस खाने पर ही या सान्ध्य-भ्रमण के समय मिल पाता है। वह बहुत प्रसन्न है। मिलते ही बोलना शुरू कर देती है। "पापा, इति आन्टी ने यह किया, वह किया। यह खिलाया, वह खिलाया। यह फ्राक पहनाया, वह कपड़ा खरीदा। यह देखो, कुण्डल हैं। यह माला है। अच्छी है न पापा ?"

'हाय राम। इति तुम श्वेता को बिगाड़ दोगी।'

'यह तुम्हारे सोचने की नहीं, मेरे सोचने की बात है। तुम्हारे कुर्ते धुलकर आ गये हैं। तुरन्त बदल डालो। बड़े लापरवाह हो। दीदी क्या इतना भी ख्याल नहीं करतीं ? और वह तुम्हारी कहानी पढ़ गई हूँ। संसार की सर्वश्रेष्ठ गल्प होते-होते रह गई है। मैं तुम्हारे साथ रहती होती तो वह कहानी निश्चय ही 'भूतो न भविष्यति' होती।

इति सहज भाव से कहती रही। और ययाति हतप्रभ-सा सुनता रहा। प्रतिक्रिया तक न जता सका। इति ने कभी अवसर ही नहीं दिया। उसने चाहा भी नहीं पर सातवें दिन सवेरे इति आई तो अत्यन्त उदास थी।

ययाति चौंक उठा, "क्या हुआ इति ?"

'श्वेता रो रही है।"

'क्यों ?'

'यही तो मैं नहीं जानती। पूछती हूँ तो उत्तर देती ही नहीं। बस रोये जा रही है। कैसी है यह तुम्हारी बेटी। उसे नीचे आकर ले जाओ।'

कहकर इति चली गई। बड़ा अजीब-सा लगा ययाति को। दो क्षण बाद नीचे उतरा तो पाया कि श्वेता सचमुच रोये चली जा रही है। उसका सुन्दर मुख विवर्ण हो आया है। नेत्र रक्तवर्ण हैं। रक्ताभ गालों पर आँसुओं की रेखाएँ गहरी अंकित हो गई हैं। देखकर उसके हृदय को ठेस-सी लगी। प्यार से पुचकारा। नाना प्रकार से मनाया। सब व्यर्थ। फिर से पुचकारा। लालच दिया, लेकिन सब व्यर्थ गया। बार-बार प्रयत्न करने पर भी श्वेता के आँसू नहीं थमे तो वह झुँझला उठा। चुपचाप धमकाने लगा। उसका भी कोई असर नहीं हुआ तो क्रोध उमड़ आया। एकाएक अपने को धोखा देता हुआ चीख उठा और गाल पर एक तमाचा जड़ दिया। उसी क्षण तड़प कर पास के कमरे से इति दौड़ती हुई आई। श्वेता को उठा कर अपने वक्ष में भर लिया। कहा, 'इसीलिए बुलाया था तुम्हें। बेटी को नहीं समझ सके। कैसे पिता हो। अपनी इस असमर्थता को क्रोध के पीछे छिपाना चाहते हो। मैं तो समझ भी नहीं पाती, कैसे तुम हाथ उठा सके।'

जितनी देर इति बोलती रही अनबूझ अपराधी-सा ययाति उसकी ओर देखता ही रहा। उसे लगा जैसे इति विवर्ण होती जा रही है। जैसे वह लड़खड़ा रही है। जैसे वह संज्ञा खो देगी। सब कुछ भूल कर पुकार उठा, 'इति, इति'

'तुम यहाँ से चले जाओ।'

'इति।'

'मैंने कहा न, चले जाओ यहाँ से।'

इति श्वेता को लिये-लिये वहीं लेट गई। ययाति को वहाँ से चले जाना पड़ा। लेकिन श्वेता उसी तरह रोये जा रही है। पता नहीं उसे क्या हुआ है। पता नहीं कैसे इति ने उसे शान्त किया। सान्ध्य-भ्रमण से पहले वह उसे न देख सका। भोजन के समय भी नहीं। इति भी वहाँ नहीं थी। सन्ध्या के समय इति और श्वेता दोनों पूर्ववत: खिलखिला रहे थे। उसने श्वेता को अपने पास बुलाया। वह मन में बहुत दुखी था कि उसने माँ की गैर मौजू-दगी में श्वेता के गाल पर थप्पड़ मारा है। वह अपने को अपराधी महसूस

कर रहा था। वह चाहता था कि एकान्त में वह बेटी से क्षमा माँगे।

धीरे-धीरे वह सबसे पीछे रह गया। उसने अपना मार्ग बदल दिया। श्वेता से उन्मुक्त भाव से बातें करते-करते वह उधर निकल गया जहाँ झरनों को रूपायित करती नाना वर्ण की बत्तियाँ जल रहीं थीं। और फेनिल जल नाना इन्द्र धनुषों को जन्म दे रहा था। नाना वर्णों के फुव्वारे छूट रहे थे। मानों वह कोई परी लोक हो। वहीं एक बेंच पर वह जा बैठा। श्वेता को उसने अपने से बिल्कुल सटा लिया। लेकिन वह अकेला नहीं था। इति छाया की तरह उसके पीछे-पीछे आ रही थी। और बिल्कुल पास एक बेंच पर बैठ गई थी। ययाति ने उसे देख लिया। लेकिन फिर भी जैसे अनदेखा कर दिया हो। बातें करते-करते सहसा श्वेता ने पूछा, 'पापा, देखो तो पानी कैसे तेज बहा चला जा रहा है।'

'हाँ बेटा, पानी बहुत तेज चलता है।'

श्वेता ने पूछा, 'पानी से भी तेज चलने वाला क्या होता है पापा?'

ययाति ने कहा, "आवाज। वह पानी से भी बहुत तेज चलती है।'

'अच्छा, आवाज से भी कुछ तेज चलता है?'

'हाँ, प्रकाश आवाज से भी तेज चलता है।

'और प्रकाश से तेज क्या चलता है?'

ययाति ने सहसा अपनी बेटी की ओर देखा। फिर कह उठा, 'सबसे तेज़ तो मन चलता है। जैसे हम यहाँ सैकड़ों मील दूर बैठे हुए तुम्हारी मम्मी की याद कर तो हमारा मन उसी क्षण वहाँ पहुँच जाय।'

सहसा श्वेता के नेत्र चमक उठे। उत्फुल्ल होकर बोली, 'पापा, सवेरे मेरे साथ यही तो हुआ था। मुझे मम्मी की याद आ गई और मेरा मन वहाँ पहुँच गया, लेकिन मैं नहीं पहुँच सकी। इसीलिए रोना आ गया।'

स्तम्भित-चकित, अनबूझ-सा ययाति उसकी ओर देखता रह गया। फिर गद्गद होकर उसे वक्ष से चिपका लिया पर वह तो उसी सहज भाव से बोलती रही, 'पापा, इति आण्टी क्या यह बात नहीं जानती?'

अनायास ही ययाति ने इति की दिशा में देखा। यह क्या? उसके नेत्र मुँदे थे जैसे समाधिस्थ हो गई हो। निमिष मात्र में सब कुछ स्पष्ट हो गया। श्वेता की सब बातें उसने सुन ली हैं। स्वर को यथाशक्ति कोमल बनाकर ययाति ने पुकारा, 'इति।'

'……'

'इति, इति।'

इति जैसे अनेक प्रकाश वर्ष दूर चली गई हो। मुख विवर्ण हो आया। मुँदे नेत्रों से झरते हुए आँसुओं की धारा गालों पर चिन्ह अंकित कर गई। ययाति ने घबरा कर उसे झकझोरा, 'इति, सुनो इति, मुझे देखो।'

वह जैसे असहाय-सी एक ओर ढुलक गई। ययाति काँप-काँप उठा। चीख कर पुकारा, मुँह पर पानी के छींटे दिए। तब कहीं हड़बड़ा कर वह उठी। विस्मित भाव से चारों ओर देखा। श्वेता तब तक फुव्वारों के पास पहुँच गई थी। ययाति ने मुस्करा कर कहा, 'क्या हुआ इति ?'

'कुछ नहीं।'

'कुछ नहीं कैसे मैं तो डर गया था।'

'सच ?' इति मुस्कराई। कैसी थी मुस्कान जो अन्तर को काटती चली गई। फिर न जाने क्या हुआ, उसने दोनों बाँहें ययाति के गले में डाल दीं। और आवेश भरे स्वर में बोली, 'मुझे तुमसे ईर्ष्या है। तुम्हारी पत्नी से ईर्ष्या है। तुम सबके अस्तित्व से ईर्ष्या है। मुझे श्वेता से घृणा है …'

'इति, इति मुझे छोड़ो।'

लेकिन इति की जकड़ तीव्र से तीव्रतर हो रही थी। उसने ययाति को कस लिया। फिर उसके होठों पर अपने जलते होंठ रख दिये और फिर जब तक ययाति सँभले वह छिटक कर दूर जा चुकी थी। तेजी से सीढ़ियाँ उतर रही थी। लगा जैसे वह गिर पड़ेगी। क्योंकि उसकी गति में तूफान था। ययाति ने चीख कर कहा, 'इति, इति।'

लेकिन इति नहीं रुकी। फिर सवेरे ही ययाति उसे देख सका। उसी सहज भाव से वह आई और बोली, 'तुम्हारी श्वेता रात भर मम्मी की बातें करती रही।'

ययाति ने दृष्टि उठा कर कहा, 'यह 'तुम्हारी श्वेता' कब से हो गई।'

'हाँ, तुम्हारी तो है ही। तुम दोनों की ही बातें करती है।'

ययाति ने कहा, 'इति तुम जल्दी में तो नहीं हो ?'

'क्यों ?'

'कुछ बातें करनी हैं।'

'मुझसे ?'

'हाँ।'

'रोज ही करते हो।'

'नहीं, कुछ विशेष बातें करनी है

वह सहसा तन कर बैठ गई। कहा, 'कहो, क्या कहते हो ? कुछ उपदेश दो। पापा ने तुमसे कहा होगा, इति विवाह नहीं करती। इतनी बड़ी हो गई है। इसे समझाओ। यही न ? तो लेखक महाशय, अपना ललित भाषण शुरू करो। पर एक बात मैं कहे देती हूँ। तुम्हारा वह सारा प्रयास व्यर्थ होगा।'

ययाति को फिर हतप्रभ होना पड़ा। इस इति से कुछ भी तो गोपनीय नहीं है। लेकिन फिर भी कुछ तो कहना ही था। साहस बटोर कर जैसे अपने से बातें करता हो ययाति ने कहा, 'हाँ इति, कुछ भी समझो। मेरी एक प्रार्थना है, तुम अब विवाह कर लो।'

इति ने दृष्टि उठा कर ययाति को देखा, 'सभी यही कहते हैं। तुम भी यही कहोगे। समझाने की चेष्टा नहीं करोगे। मेरे साथ जो कुछ हुआ है...'

'वह मैं जानता हूँ।'

'मुझे मालूम है। तभी तो कहती हूँ कि तुम भी यही कहोगे, मुझ पर विश्वास नहीं करोगे। अगर मैं तुम से कहूँ...'

'मुझ से कुछ मत कहो इति। चुपचाप विवाह कर डालो।'

'कर ही डालूँ।'

'हाँ।'

एकाएक वह उठी। न ययाति से कुछ कहा, न उसकी ओर देखा। चुपचाप नीचे उतरती चली गई। कई घण्टे बाद ययाति नीचे गया तो सुना उसकी कोई सहेली आई थी। अचानक ही वे दोनों यहाँ से चली गई हैं। यह सब अनायास हुआ या कोई योजना थी पर ययाति के वहाँ रहने तक वह फिर वहाँ नहीं लौटी।

फिर दिन बीतते चले। पर ययाति के स्मृति पटल पर इति का जो चित्र अंकित हुआ था, वह धुल-पुछ न सका। श्वेता उसे भूल गई। शायद बढ़ती उम्र में भूलना अनिवार्य है। पर ययाति तो आयु के उस क्षेत्र में था जहाँ सब कुछ ठहर जाता है। इति का चित्र भी वहीं ठहरा रहा। आश्चर्य तीसरे महीने एक सुन्दर-सा निमन्त्रण पत्र उसे मिला। इति के विवाह का निमन्त्रण। साग्रह उसने ययाति को बुलाया था। उसे हर्ष होना चाहिए था। पर न जाने क्यों, एक अनचिन्हा-सा दर्द उसके वक्ष में उभर आया। वह जा न सका, एक सुन्दर-सी भेंट उसे भेज दी। उत्तर में इतना ही लिखा मिला, 'तुम्हारी भेंट मेरे प्राणों के जितने पास है उतनी और किसी की नहीं।'

फिर कोई पत्र नहीं आया। लिखा भी नहीं।

फिर कल यहीं अचानक उसी इति से भेंट हो गई। सच, क्या यह वही इति है। ययाति को अब भी विश्वास है कि वह इति मरी नहीं, कहीं न कहीं उसका अस्तित्व है। इसीलिए उसी की राह देखता लेटा है, कि आहट हो, वह आँखें मूंद ले और फिर वह चिरपरिचित गन्ध उसे आवृत कर ले।

इस मोहावस्था में वह न जाने कब तक डूबा रहा। तभी जागा जब द्वार पर आहट हुई। सकपका कर उठा, 'इतने जोर से द्वार कौन पीटता है ? आश्चर्य यह बैरा था और सवेरे की चाय के लिए पूछ रहा था।'

ययाति ने चीख कर कहा, 'यह भी पूछने की बात है। ले आओ।'

वह चला गया। ययाति ने बीच के द्वार को देखा। यह क्या, कुण्डी लगी हुई है। सकपका कर उठा। दृष्टि मेज पर गई। चश्मे के नीचे एक कागज मुड़ा रखा था। पागलों की तरह उसे खोल कर पढ़ने लगा। लिखा था, 'तुमने किवाड़ खुले छोड़ दिये थे। तुम्हारी इच्छा का तिरस्कार मैं न कर सकी। पर तुम तो मीठी नींद में सो रहे थे कई क्षण तुम्हें देखती रही। उतने के ही तुम अधिकारी थे। तुम्हारी बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ कि तुमने मुझ मोहाविष्ट को दृष्टि दी। मेरा जो प्राप्य था उसे मैंने पा लिया। उस दिन मेरी सहेली मुझे उसी प्राप्य के पास ले गई थी। आश्चर्य मैं मना न कर सकी। तुम्हारे ही कारण पर···

अब जाने दो उस पर को। मीठी नींद में डूबे रहो। इस क्षण मैं बहुत प्रसन्न हूँ। बहुत प्रसन्न। पर···

फिर वही पर। इस पर से कहीं मुक्ति नहीं है।

न न, अब नहीं। तुम सोओ। बरामदे में प्रशान्त की पदचाप स्पष्ट सुनाई दे रही है। क्या तुम जानते हो, उसी ने मुझसे कहा था कि हमारे कमरों के बीच का द्वार खुला हुआ है। उससे मैंने कुछ भी नहीं छिपाया था। उस दिन वाली बात तक कह दी। मुझसे पूर्व उसकी भी कई प्रेमिकाएँ रही थीं। विस्तार से नहीं कहूँगी, लेखक हो। हाँ, जागते होते तो बात होती। विश्वास रखो, वही इति हूँ। घर आने का निमन्त्रण देती हूँ···'

ययाति पागल की तरह किवाड़ खोल कर बाहर आया। बैरे से पूछा, 'बराबर के साहब लोग कहाँ हैं ?'

'जी, वे अभी कुछ देर पहले चले गए हैं। साहब और मेमसाहब दोनों आपको सलाम बोल गये हैं।'

'वे मेरे कमरे में आये थे।'

'जी मैं नहीं जानता। कुछ बात है क्या ? किवाड़ तो आप ही खुले छोड़ कर सोये थे।'

सहसा ययाति ने अपने को सम्भाला, 'हाँ, हाँ, रात कुछ गर्मी अधिक थी।'

'लेकिन साहब, आप बड़ी गहरी नींद सोते हैं। मेम साहब कई बार उठीं। बाबा लोगों के कारण उठना ही पड़ता है। लेकिन…

ययाति ने आगे कुछ नहीं सुना। जैसे वह था ही नहीं। उसे नहीं पता, कब उसने चाय पी और कब बैरा बर्तन उठा कर ले गया।

1966

18—

संग प्रतिरूप

हिमालय की ठिठुरती सन्ध्या बहुत धीरे-धीरे चुशूल की 14,000 फीट ऊँची पहाड़ियों पर उतरती आ रही थी। कालिदास की किन्नरियाँ मानो उसका आँचल थामे हों। लेकिन किलकारियों का स्वर मनुष्य के मस्तिष्क का स्पर्श पाकर बहुत कठोर हो उठा था। ये देव घाटियाँ बहुत देर तक तोपों, मोर्टारों और स्वचालित रायफलों के उद्घोष से गूँजती रहीं। फिर धीरे-धीरे शान्त होने लगीं। धीरे-धीरे चुशूल की वह विशाल उपत्यका श्वेत अन्धकार से भर उठी। नीलवर्णी स्पंगुर झील से आने वाली शीत वायु का स्पर्श पाकर दृष्टिपथ अन्तर्मुखी हो चला। कभी कहीं कुछ खटका होता। सैनिक शीतकालीन वस्त्रों में दैत्य-रूप धारण किए शत्रु की टोह लेते। इधर-उधर बिखरे शवों को उलटते-पलटते और फिर अन्त में श्रान्त वे मदोन्मत्त पड़ाव की ओर लौट जाते।

कुछ क्षण पहले ये गगनचुम्बी चोटियाँ दधीचि के वंशजों के शौर्य से कम्पायमान हो रही थीं। 20 अक्तूबर का सूर्य उगा भी नहीं था कि युगों बाद शापग्रस्त वृत्रासुर ने जैसे फिर इन्द्र पर अचानक आक्रमण कर दिया और जैसे इन्द्र इस विश्वासघात से स्तम्भित हो वज्र की तलाश में अपने दधीचि को पुकार उठा हो।

वे संख्या में कम थे पर शौर्य में अनुपम थे। मृत्यु को प्रेम करने वाले वे ही सैनिक इस समय वहाँ लेटे हुए थे, मानो थक कर आराम कर रहे हों। परन्तु जैसे-जैसे उस भूखण्ड की निःस्तब्धता मुखर होती गई और अन्धकार का दामन उसे आगोश में लेने लगा वैसे-वैसे ही एक युवा कप्तान की तन्द्रा टूटने लगी। गोली की चोट खाकर उसके मुख का बायाँ भाग रक्त से भर

गया था। आँख सूज आई थी और बायें हाथ के भीतर गोली अभी अपना अस्तित्व प्रमाणित कर रही थी। वस्तुत: उसका सारा वामाँग रक्त में सराबोर था लेकिन दाहिने हाथ की शक्ति अभी भी कुँठित नहीं हुई थी। सबसे पहले उसने चेहरे पर और बायीं भुजा पर हाथ फेरा। फिर रक्त भरे हाथ को दाहिनी आँख के सामने लाया। मुख का शेष भाग भी तब जैसे रक्तिम हो उठा। उसने मुस्कराने की चेष्टा की, मस्तिष्क में एक विचार कौंध आया कि आज ये शान्ति के प्रतीक शुभ्र श्वेत शिखर क्या इसीलिए रक्तिम नहीं हो उठे हैं, क्या आज जो कुछ हुआ है उसकी लज्जा ने उन्हें जकड़ नहीं लिया है ? उस क्षण उसे ईसा के अन्तिम भोज की याद हो आई। पूछा था —शराब का रंग लाल क्यों है ? किसी ने उत्तर दिया—जब जल ने प्रभु के मुख की ओर देखा तो वह लाज से लाल हो आया।

लेकिन वह लज्जा प्रेम की थी और यह लज्जा घृणा की है।

तब उस धुन्ध में जैसे ईसा की विशाल शान्त मूर्ति उसके मस्तिष्क में उभर आई। ईसा क्षमा के अवतार थे। भारत में उससे भी पहले क्षमा का एक महान् देवता पैदा हुआ था जिसकी छत्रछाया के नीचे आकर आधुनिक वृत्रासुर का बर्बर देश सभ्य हो उठा था। उसी देश के व्यक्तियों का यह अमानुषिक कृत्य देखकर हिमालय लज्जा से आरक्त हो आया है।

वातावरण धुँधला था। कप्तान का मस्तिष्क भी धुँधला था। लेकिन उसकी चेतना जैसे धुँध के ऊपर उड़ती आ रही थी। उसने अनुभव किया कि जैसे शत्रु के सैनिक फिर पास आ रहे हों और चट्टानों से उत्पन्न होती हुई पगध्वनि उसके मस्तिष्क पर सहस्र घन की तरह पड़ रही हो। उसने धीरे-धीरे सामने की ओर देखने का प्रयत्न किया! दो सैनिक उसी की ओर तो आ रहे हैं। उसने तुरन्त नेत्र मूँद लिए, श्वास रोक कर वह निश्चेष्ट और भी निश्चेष्ट हो उठा। दो क्षण बीतते-बीतते उसने अनुभव किया कि जैसे उसे निर्जीव वस्तु समझ कर उलटा-पलटा गया हो। उसने पैर का स्पर्श अनुभव किया। मर्मान्तिक पीड़ा से उसका रोम-रोम कराह उठा। शब्द तब उसके लिए जैसे अज्ञात था। लेकिन यह क्या! वह कसमसाया, जैसे पीड़ा ने उसे शक्ति दी हो, जैसे आपाद-मस्तक उसके शरीर में उसी शक्ति की ऊष्मा भर उठी हो। यन्त्रवत् उसने पिस्तौल निकाली, आँख को पूरा खोल दिया और दृढ़ हाथों से निशाना लिया। सहसा सोई हुई घाटी ने चीत्कार किया। एक कर्कश कराहट, चट्टान का आर्तनाद, और फिर शान्ति, दोनों सैनिक तुरन्त चिरनिद्रा में सो गए। कप्तान को याद नहीं कि कैसे उसने पिस्तौल अन्दर रखी और कब उस भयंकर पीड़ा से प्राणहीन-सा होकर वह अचेत हो

गया। धुँधलके में लिपटी इतनी ही स्मृति उभरती है कि कुछ क्षण बाद जैसे फिर वहाँ हलचल हुई, उसको उलटा-पलटा गया। लेकिन तब तक वह कराहट अनुभव करने योग्य भी नहीं रह गया था। जैसे वह मृत्यु के अंक में सिमटता जा रहा था···सिमटता जा रहा था···जैसे मानव की वह चिर-प्रेयसी उसे धीरे-धीरे सहला रही हो, उसके घायल त्रस्त जीवन को अपने अन्तर में समेट रही हो। लेकिन आश्चर्य, कि वह घायल जीवन जैसे-जैसे बाहर आता था वैसे-वैसे नवजीवन की स्फूर्ति उसकी धमनियों को उत्तेजित करती थी···।

उसने फिर दीर्घ निःश्वास ली, फिर अपने दाहिने हाथ से अपने अस्तित्व के बारे में आश्वस्त हुआ और अनुभव किया कि अन्धकार की चादर सारे वातावरण को लील गई है। वह कसमसाया, बहुत धीरे से दाहिने अंग पर जोर देकर खिसकने की कोशिश की। यह क्या! वह ऊपर उठ गया। उसने गति की, गति जो विश्व का प्राण है, जो स्वयं चेतना है। अविश्वास और आश्चर्य से वह गद्गद् हो आया और पूरी शक्ति लगाकर पुकार उठा ···मैं रेंग सकता हूँ, मुझ में जीवन है···।

घाटी सदा गूँजती है। उस क्षण भी गूँजी। अनुगूँज ने उत्तर दिया, हाँ, तुम में जीवन है, तुम रेंग सकते हो, ऊपर जा सकते हो। और ऊपर। प्रयत्न करो···और प्रयत्न करो। हाँ, आगे बढ़ो···जो एक कदम चलता है वह हजार कदम भी चलता है···तुम दस कदम चल चुके हो···तुमने बीस कदम पूरे कर लिए···पच्चीस···पचास···सौ। अब रुको, जरा साँस ले लो।

मैं सौ कदम चल चुका···सौ कदम···सौ कोस···सौ युग···

कप्तान जैसे अब था ही नहीं, जैसे उसने अपना संकल्प, अपना सारा अस्तित्व अपनी प्रेयसी के हाथों में सौंप दिया था। भारत का वह रंगीन सम्राट जहाँगीर जब विश्व की अनन्य सुन्दरी नूरजहाँ को पा गया था तब उसने यही कहा था—मुझे दो प्याला शराब चाहिए, सल्तनत नूरजहाँ की है। खूब हो कि खराब हो।

कप्तान मानो जहाँगीर था। मृत्यु की देवी नूरजहाँ थी और शराब थी वह संकल्प शक्ति। उसी को रखकर कप्तान ने अपना सब कुछ अपनी प्रेयसी को सौंप दिया था और वह प्रेयसी जैसे उसे ऊपर, और ऊपर उठाये लिए जा रही थी। पल बीत रहे थे, क्षण बीत रहे थे, पहर भी बीत चले थे। लगता था जैसे वह युग-युग से चलता आ रहा है। चरैवेति, चरैवेति, उसकी यात्रा अनन्त है। उसने अलंख्य मन्वन्तर पार कर लिए हैं।

इस भूखण्ड पर वह डेढ़ मील पार कर चुका था। गोली उसकी बाँह में थी। ग्रेनेड के टुकड़े आँख और नाक को चीर कर उसके चेहरे में छिपे हुए थे, लेकिन दधीचि का वह वंशज अब भी आगे बढ़ रहा था और उसे याद आ रहा था—वृत्रासुर की विपुल सेना का वह आक्रमण, टिड्डी दल का वह चीत्कार। उस दल में जब उनके गोले पड़ते थे तो वे सैनिक रूई की तरह हवा में उड़ने लगते थे। इन्द्रियाँ खण्ड-खण्ड होकर उस विशाल उपत्यका में बिखर जाती थीं।···

इस भीषण वेदना में भी उसे हँसी आने लगी। वह मुस्कराया। अपनी मुस्कराहट पर उसे स्वयं अचरज होने लगा। उसके मस्तिष्क में उठा—यही तो योग साधना है। योगी प्राणों से भी मुक्ति पा लेता है। उसके प्राण भी उसके पास कहाँ हैं, वे तो उसकी प्रेयसी के पास हैं।···

उसने फिर रेंगना शुरू किया। हिम उसके क्लान्त अवयवों का मानो प्रेम से प्रक्षालन कर रहा हो। दाहिने हाथ की उँगलियाँ, पैरों के पंजे जैसे शरीर से अलग हो गये हों। केवल मात्र मुख और वक्ष का कुछ भाग ही उसके अस्तित्व का साक्षी था। परन्तु वह तब भी जीवित था।

कुछ क्षण और बीते। शीत अन्धकार हिम पर तेजी से फिसलने लगा और असह्य वेदना उसे और भी तीव्रता से मथने लगी, जैसे प्रेयसी की झपकी लग गई हो, उसका प्रेमल स्पर्श शिथिल हो गया हो। तब उसका घायल अस्तित्व जैसे मुखर हो उठा। उसने मानो प्रेयसी से कहा, 'नहीं, नहीं, अब नहीं···मुझे मुक्ति दो। मैं रंचमात्र भी नहीं चल सकता, हिल नहीं सकता। यह पीड़ा अब असह्य है। हड्डियों को बजाने वाली यह तूफानी हवा आरी की तरह मुझे चीर रही है। मुझे अपने अंक में भर लो और वहाँ ले चलो जहाँ चिरकुमारी अनन्य सुन्दरियाँ मेरी राह देख रही हैं।'

उसने अपना हाथ हिलाया। वह पिस्तौल से टकरा गया। कुछ क्षण पहले उसने दो सैनिकों को मृत्यु के कक्ष में भेज दिया था। उसने निर्णय किया कि वह स्वयं को भी वहीं ले चलेगा। लेकिन यह क्या! कहीं कोई धीरे-धीरे हँस रहा है। कोई प्रेमल स्वर में बहुत धीरे-धीरे जैसे उसके वक्ष पर सिर रखे फुसफुसा रहा है, 'सुनो···सुनो, मैं दूर कहाँ हूँ। तुम्हारे पास हूँ। तुम्हारे अंग-अंग में व्याप्त हूँ। उतावले क्यों हो रहे हो? किसी भी क्षण अपने अंक में छिपा कर उड़ जाऊँगी। लेकिन नहीं, स्थिर मत होओ, गतिमान रहो। स्थिरता अकाल मृत्यु है। गति शाश्वत जीवन है। मैं जीवन से सट कर ही रहती हूँ। जीवन के साथ ही मेरा वरण करो।'

आश्चर्य, उसने अपनी एक आँख पूरी तेजी के साथ खोली। अन्धकार में जहाँ तक देख सकता था, देखा—सब शान्त, सब स्तब्ध। नगाधिराज हिमालय मानो उसके अन्तर में बोल उठे, 'हाँ, वह सत्य कहती है। उसके साथ रमण करने को उतावले मत बनो। उतावलापन ही व्यभिचार है और जो वीर है, जिन्होंने भय को जीत लिया है वे प्रेयसी के आलिंगन से मुक्त मन बँधते हैं प्रेम के राज्य में शक्ति बहिष्कृत है। आगे बढ़ चलो···बढ़े चलो। मृत्यु जिस क्षण चाहेगी, तुम्हें अपने में समेट लेगी।'

कप्तान का हाथ मानो काँपा। उसने यन्त्रवत पिस्तौल को यथा-स्थान रख दिया और रक्तहीन घायल शरीर में जितनी शक्ति शेष थी, उसे आमन्त्रित कर फिर गति की शरण ली। आगे बढ़ा···और आगे बढ़ा। युग बीतने लगे, मनवनन्तर पार हो चले। शरीर सुन्न, सब कुछ सुन्न, लेकिन मस्तिष्क चेतन है। वह स्वर्णिम आभा से जैसे भासमान हो उठा है, जैसे उसकी जीवन शक्ति वहीं केन्द्रित हो गई है, जैसे वह अव्यक्त अचेतन हो गया है। जैसे अन्ततः प्रेयसी ने उसे अपने अंक में भर ही लिया है और जैसे युगों की दूरी पर से कुछ स्वर उसके पास आ रहे हैं। यह देवों के स्वर हैं, अप्सराओं के स्वर हैं। हिमालय के वन प्रदेशों में रात के समय यक्ष, किन्नर और सिद्ध आते हैं, सुर-सुन्दरियाँ नृत्य करती हैं। यह मधुर संगीत उन्हीं का तो है।

जैसे अमित अपार आनन्द ने उसे जकड़ लिया। उसकी संज्ञा दूर होने लगी। कल्प-कल्प तक वह सुखद अस्तित्वहीन निद्रा उस पर छा गई। प्रगाढ़ अन्धकार, कहीं कोई दृश्य नहीं, पथ नहीं, शब्द नहीं। सब कुछ अस्तित्वहीन।

जब कप्तान की चेतना लौटी तो उसने अनुभव किया कि जैसे युग बीत चुके हैं और वह किसी अज्ञात मनोरम प्रदेश मे आराम कर रहा है। पलक उठी, ज्योति उसके पथ में आई। यह···यह तो अपना प्रदेश है, अपने लोग हैं। तो क्या मैं कैम्प में हूँ, अपने कैम्प में।···

उसने बार-बार पलकें झपकीं, हाथ से शरीर को, घायल अंगों को अनुभव किया। लेकिन उसका हाथ, उसके दोनों पैर जैसे थे ही नहीं। पर यह निश्चय था कि वह अपने लोगों में है। और वे उसके ऊपर घिर आये हैं, मुस्करा रहे हैं, कुछ कह रहे हैं, 'शाबाश ! तुम जीवित हो, अपने लोगों में हो। तुमने अद्भुत शौर्य दिखाया। इस अवस्था में तुम तीन मील रेंगते रहे।'

सहसा उसे विश्वास नहीं आया और जब कई क्षण बाद वह विश्वस्त

हुआ तो वह फिर 'अचेतन' हो गया। मृत्यु के पूर्व जैसे क्षणिक चेतना लौटती है, जीवन के पूर्व उसी तरह मूर्छना भी आती है। कप्तान की चेतना सचमुच लौट लाई थी···वह सचमुच जीवित था।···

चुशूल से लेह, लेह से दिल्ली कहानी का अन्त आ पहुँचा है। मैं एक लेखक, युद्ध को मानवता का शत्रु मानने वाला, सैनिक अस्पताल के उस प्रशस्त कमरे में कप्तान की ओर देख रहा हूँ। देख रहा हूँ उसकी गर्विता स्नेहमयी माँ को, सरल सौम्य बहनों को, शिशु से शिष्ट भाई को, मित्र-परिजनों को जो उसे घेरे खड़े हैं, उसके चेहरे का ग्रेफ्टिंग हो चुका है। परन्तु उसके दाहिने हाथ की उँगलियों और पैरों के पंजों की स्थिति बड़ नाजुक है।···

मैं तिलमिला उठता हूँ। किसने इस तेजस्वी युवक की यह दशा की, किसने मानवता को घायल किया···किसने ?···

मैं उत्तेजित हो उठता हूँ। लेकिन वह परम शान्त है। उसका मस्तिष्क पूर्ण चेतन है। न है कटुता, न है तिक्तता। अमित स्फूर्ति और उत्साह से वह अपनी कहानी सुना रहा है। उसका अन्तिम वाक्य है, 'मैंने कुछ नहीं किया सब उसने किया है।'

और वह अपना दाहिना हाथ जिसकी उँगलियाँ आबनूस बन चुकी हैं, आकाश की ओर उठा लेता है।

मैं काँप कर फिर एक क्षण उसकी ओर देखता हूँ। मैं जो युद्ध का विरोधी हूँ, कह उठता हूँ, 'कप्तान ने भय को जीत लिया है और जो भय को जीत लेता है वही मुक्त है, वही मनुष्य है।'

मैं अब गर्व से सिर उठा कर कप्तान को देखता हूँ, प्यार से उसका हाथ थपथपाता हूँ और आँसू छिपाने के लिए बाहर निकल आता हूँ। चीन ने मेरी लेखनी की नोंक पर से शान्ति का श्वेत कमल खरोंच कर युद्ध का रक्त कमल अंकित कर दिया है। फिर से श्वेतकमल अंकित करने के लिए मुझे युद्ध करना ही होगा, क्योंकि मैं दास नहीं हो सकता।

और तब मुझे लगता है कि वह कप्तान मेरा ही प्रतिरूप तो है।

1962

—19

दुराचारिणी

उस दिन कुछ सैनिक इकट्ठे होकर दुश्चरित्र नारियों की चर्चा कर रहे थे। जैसे कि स्वाभाविक था। वह चर्चा काफी रसीली थी। लेकिन उनमें एक युवक था जिसने इस चर्चा में कोई भाग नहीं लिया। वह किसी दुश्चरित्र नारी से न मिला हो, यह उसके साथियों की राय में, नामुमकिन बात थी. लेकिन वह न केवल मौन था बल्कि कुछ उदास भी था। यूँ वह सबमें हँस-मुख और सुन्दर था और अभी सेना में नया कप्तान बना था। उसे जब बहुत मजबूर किया गया तो उसने कहा, 'दोस्तो! अपने छोटे से जीवन में मैं कई नारियों के सम्पर्क में आया हूँ, पर मैं अभी तक किसी ऐसी नारी से नहीं मिला जिसे मैं विश्वासपूर्वक दुराचारिणी कह सकूँ। फिर भी मैं तुम्हें एक ऐसी नारी का किस्सा सुनाता हूँ जो अपने स्वच्छन्द चरित्र के कारण काफी बदनाम रही है।

वह क्षण भर के लिए रुका। उसके चेहरे पर भी मुस्कराहट आने को हुई. पर उससे पूर्व उसने कहना शुरू किया—

"वह बहुत सुन्दर तो नहीं थी पर मोहक अवश्य थी। कालेज की शिक्षा और मुक्त वातावरण ने उसमें एक ऐसा आकर्षण पैदा कर दिया था जो युवकों को अपनी ओर खींचने के लिए बहुत काफी था। फिर वह ऊँचे जीवन-स्तर और नवोदित फैशन के कारण उत्पन्न सभी मूर्खताओं से प्रेम भी करती थी। इसलिए उसके चारों ओर रसिक युवकों की भीड़ लगी रहती थी।

'एक बार ऐसा हुआ कि उसके घर के पास एक नया कुटुम्ब आकर ठहरा। उस कुटुम्ब में एक युवक था जिसका शरीर गठा हुआ था और उस-

की माँसल भुजाएँ सदा फड़कती रहती थीं। उसका रंग रक्तिम था और आँखें कुछ नीली थीं, इसलिये उसके रूप में एक नया आकर्षण था जो उसकी सौम्य मुस्कान के कारण उस युवती के लिए प्रबल हो उठा। वह युवक चरित्र में इतना विश्वास करता था कि उसने एक बार भी उस युवती की ओर कुदृष्टि नहीं डाली। इसके विपरीत उस युवती ने जब उसे पहली बार टैक्सी से उतरते देखा था तभी से वह उसकी आँखों में डूब गया था और वह बराबर उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा किया करती थी। मसलन, वह युवक जब कभी बालकनी में या ऊपर की छत पर जाता वह युवती भी पास की बालकनी में या छत पर पायी जाती। खिड़की में से वह अक्सर उसे देखा करती। एक-आध बार उसने उससे बात करने की असफल चेष्टा भी की, पर वह युवक ऐसा ढीठ और अशिष्ट (?) था कि उसने उस युवती से प्रेमालाप तो दूर उसकी प्रशंसा में एक शब्द तक नहीं कहा। यहाँ तक कि कुछ दिन बाद तो ऐसा लगा जैसे उस युवक ने युवती के अस्तित्व को भुला दिया है...।'

"लेकिन युवती थी कि उस उपेक्षा से खीजती और दुगने वेग से उसे पाने का प्रयत्न करती। उन मूर्खता भरे प्रयत्नों का अनुभव ऊँचे-जीवन-स्तर की स्त्रियों के सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को हुआ करता है और वे जानते हैं कि जब उनके स्त्री-सुलभ मान की रक्षा नहीं हो पाती तो उनका विवेकहीन-प्रतिशोध कभी-कभी भयंकर संकट पदा कर देता है।

एक रात जब वह युवक कमरे में अकेला था, न जाने युवती को इन बातों का कैसे पता लग गया, वह सीधी उनके घर जा पहुँची। उसने अच्छी तरह किलेबन्दी कर ली थी और ऊपर आते समय वह पूरी तरह सशस्त्र थी। युवक ने जब किवाड़ खोले तो वह क्षण के एक भाग के लिए घबरा गया। उतने समय वह मौन रहा। फिर बोला, 'आप किससे मिलना चाहती हैं।'

'आपसे।'—युवती ने मुस्करा कर कहा और अन्दर चली आई.

उस युवक ने फिर पूछा, 'आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।'

'कुछ देर बैठने की अनुमति चाहती हूँ।'

'लेकिन...।'

'घबराइये नहीं, मैं जल्दी लौट जाऊँगी।'

'युवक की घबराहट बढ़ रही थी। वह उस क्षण भाग जाने की बात सोच रहा था पर युवती ड्राइंग-रूम में आकर सोफे पर बैठ गई और बोली, 'बैठिये न, आप तकल्लुफ क्यों करते हैं।'

'युवक ने इतना ही कहा' 'किसी तरह भगवान के लिए तुम उसे यहां से ले जाग्रो।'

'वह जैसे गिड़गिड़ा रहा था। मित्र फिर मुस्कराया ग्रौर विना कुछ वोले ड्राइंग रूम में चला गया। युवती ने दृष्टि उठा कर उसे देखा, फिर मुँह मोड़ लिया जैसे कुछ हुग्रा ही न हो। उसने तनिक भी घबराहट नहीं प्रगट की ग्रौर पहले की तरह पुस्तक पढ़ने का नाट्य करती रही। दो क्षण वहाँ पूर्ण मौन छाया रहा, फिर सहसा युवक का नाम लेकर वह बोली, 'वह कहाँ है ?'

'ग्रागन्तुक ने कहा, 'यहीं है, कहिये।'

'मुझे उनसे कुछ काम है।'—ग्रौर वह उठने को हुई।

'ग्रागन्तुक ने मुस्कराकर कहा, 'क्या मैं ग्रापके काम नहीं ग्रा सकता ?'

'मुझे ग्राप से कुछ काम नहीं।' स्वर में तलखी थी।

'ग्रोह,' ग्रागन्तुक ने कहा, 'मुझे डर है मैंने ग्रापको नाराज़ कर दिया है। मैं क्षमा चाहता हूँ।'

'वह मौन रही। मित्र ने युवती की ग्रोर एकटक देखते हुए कहा, 'क्या ग्राप क्षमा नहीं कर देंगी।'

'वह फिर भी नहीं वोली। मित्र उठे ग्रौर उसके पास ग्रा वैठे, 'क्या ग्राप सचमुच नाराज हैं। नहीं, नहीं, मेरी ग्रोर देखिये···देखिये, मैं ग्राप का उपासक हूँ। मेरा मित्र तो···'

'न जाने क्या हुग्रा, वह युवती जो क्रोध से तिलमिला रही थी तेजी से उठी ग्रौर ग्राव न देखा न ताव, उस युवक के मित्र के गाल पर ज़ोर से एक तमाचा मारा, 'वदतमीज। क्या यह वेश्यालय है ? क्या तुमने मित्रों के घरों में इसी तरह व्यवहार करना सीखा है।'

'एक क्षण से भी छोटे भाग में यह घटना पूरी हो गई।' तमाचा मार कर युवती वाहर निकली चली गई। ग्रौर उसी ग्रावेश में उस युवक जाकर कहा, 'क्या तुम समझते हो कि मैं वेश्या हूँ जो तुमने ग्रपने मित्र को मेरे पास भेजा'

'वह तव तमतमा रही थी। उसका ग्राकर्षक सौन्दर्य लाल ग्रंगार की तरह दहक रहा था ग्रौर वह युवक जो सव कुछ जानता था, जैसे था ही नहीं। पर परिस्थितियों ने उसे जैसे झकझोर दिया हो। दूसरे ही क्षण उस ने दृष्टि उठा कर कहा, 'मुझे ग्रफसोस है। मैं माफी चाहता हूँ।'

युवती ने दहकते हुए व्यंग से कहा, 'ग्रापने समझा होगा कि वे मि' ग्रापको मुझसे मुक्ति दिला सकेंगे।'

युवक ने गिड़गिड़ाकर कहा, 'मैं प्रार्थना करता हूँ ग्राप चली जाइ'

'युवती बोली, 'मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम्हें पाये बिना नहीं जा सकती।'

'युवक ने उसे देखा। वह तब जवाब देने को शब्द न पा सका। वह अपने को समेटने की पूरी कोशिश कर रहा था। वह कभी दरवाजे की ओर देख लेता था, कभी खिड़की से नीचे सड़क पर, जो उसे स्पष्ट दिखाई दे रही थी और जहाँ रात के कारण सन्नाटा बढ़ता जा रहा था। उसने किसी तरह कहा, 'पर मैं आपको नहीं चाहता, आप जल्दी यहाँ से चली जाएँ।'

'इस बार वह नहीं बोली। केवल देखती रही।

'जाइये।' उस भयातुर युवक ने उतावली से कहा।

'नहीं, तुम्हारे बिना नहीं।' उसने कहा और उसकी वाणी में दृढ़ता थी पर दूसरे ही क्षण वह दृढ़ता जैसे पिघल गई हो। वह उसके पास आ गई। उसने कहा, 'तुम नहीं जानते मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ। मैं तुम्हारे बिना नहीं जी सकती।'

'युवक के जी में आया वह खिड़की से कूद पड़े। शायद वह उधर बढ़ा भी, पर तभी दूर कुछ शब्द सुनाई दिये, वे पास आ रहे थे। वह काँपा और उसकी दृष्टि द्वार पर जाकर अटक गई। फिर तो जैसे चीख उठा, 'वे आ गये।'

'वे ! वे कौन ?'

'मेरे पिताजी।'—उसने कहा और वह गिड़गिड़ाने लगा, 'भगवान के लिए तुम चली जाओ। जाओ···जाओ, वे मुझे तुम्हारे साथ देख लेंगे तो···'

'स्वर बहुत पास आ गये थे और अगले ही क्षण उनके द्वार से अन्दर आने की पूरी आशा थी। वे बाहर का द्वार पार कर चुके थे। आगे ड्राइंग रूम था और फिर···'

'वह थरथराया, उसने मूर्तिवत् स्थिर खड़ी हुई युवती को देखा। उसकी आँखों में जाने क्या था, वह बोल नहीं सका। असल में उसे बोलने की जरूरत ही नहीं पड़ी। बाहर से युवक के पिता की आवाज सुनाई दी और उस युवती ने एक बार आवाज की दिशा में देखा फिर युवक को देखा और फुर्ती से लपक कर खिड़की पर जा चढ़ी और देखते-देखते सड़क की ओर लटक गई···

युवक ने तेजी से चीखना चाहा पर जैसे किसी ने उसका गला भींच दिया हो। उसने युवती के तेजी से गायब होते शरीर को देखा और फिर देखा पिता को, जो तब दरवाजे में प्रवेश कर रहे थे···

'यहाँ कोई आया था ?' उन्होंने पूछा।

'नहीं,' युवक ने दृढ़ता से कहा, 'क्यों ?'

'ऐसे ही पूछता था, जीने के किवाड़ खुले पड़े थे !'

'इसी क्षण नीचे से एक शोर उठा। वह बहुत हल्का शोर था। क्योंकि तब सड़क पर बहुत कम लोग थे। पिता-पुत्र ने एक साथ झुक कर देखा, तीन चार आदमी एक युवती पर झुके थे। जो उठने के लिये हाथ-पैर मार रही थी। पुत्र ने बड़ी तेजी से खिड़की की चौखट को थाम लिया। वह पसीने में सराबोर था।...

यहाँ आकर सहसा कप्तान चुप हो गया। जैसे स्वप्न भंग हो गया हो, तन्मय आत्मविभोर सैनिक चौंक उठे। 'उसके बाद ?' एक बोला।

'फिर क्या हुआ ?, दूसरे ने पूछा।

कप्तान जिसका गला रुंध गया था और आँखें भर आई थीं एक क्षण मौन होकर बोला, 'उसके बाद उसके रिश्तेदार उसे तुरन्त अस्पताल ले गए। वह बराबर होश में रही पर चोट काफी तेज लगी थी। वह असल में परनाले के सहारे उतरना चाहती थी पर सहसा हाथ फिसल जाने के कारण बीच में से ही गिर पड़ी। तीन सप्ताह बाद पता लगा कि वह अब सदा के लिये लंगड़ी हो गई है।

'यह समाचार सुनकर वह युवक, जो बराबर अस्पताल के आसपास चक्कर काटा करता था, बहुत रोया। वह अब तक अन्दर जाने का साहस न कर सका था। क्योंकि वह युवती अपनी स्वच्छन्दता के लिए बदनाम थी और इसीलिए इस विपत्ति में भी किसी को उससे हार्दिक हमदर्दी नहीं थी। और इसी कारण पुलिस के आने तक डाक्टर ने उसे छूने से भी इन्कार कर दिया था लेकिन वह युवती तनिक भी नहीं झिझकी। उसने पुलिस से साफ कह दिया था, 'वह आत्म-हत्या करने के लिये छत से कूदी थी।'

'क्यों ?'

'क्योंकि मैं जिस युवक से विवाह करना चाहती थी। उसने इन्कार कर दिया था।'

'वह कौन है ?'

'उसके नाम से किसी को क्या मतलब।'

'फिर भी।'

'नहीं मैं उसका नाम नहीं बताऊँगी।'

'क्या उससे तुम्हारी लड़ाई हुई थी।'

'नहीं।'

'उसने तुम्हें धक्का दिया।'

'नहीं, नहीं, वह तब मुझसे बहुत दूर था।' उसने चीख कर कहा। वह दर्द से बेचैन होती जा रही थी फिर भी उसने होश नहीं खोया।

'और वह अन्त तक अपने इस बयान पर दृढ़ रही परन्तु जब उस युवक को इस बयान का पता लगा तो वह पागल हो उठा। वह कई दिन विक्षिप्त सा घूमता रहा और फिर सहसा उसने मजिस्ट्रेट के सामने जाकर सब बातें साफ़-साफ़ कह दीं और गवाह के रूप में मुझे पेश किया।

'आपको !'—सैनिक अचकचाये।

'हाँ मुझे। मैं ही तो वह मित्र था जिसके गाल पर उस युवती ने तमाचा मारा था।'

'ओह !'—सैनिक अचरज से कह उठे, 'तब तो कहानी बिल्कुल सच्ची है।'

'हाँ दोस्तो। कहानी सचमुच सच्ची है और अद्भुत भी। वह युवती भी बहुत देर तक उससे इन्कार न कर सकी। अन्त में उसने सब कुछ स्वीकार कर लिया। उस समय उसकी आँखें भर आई थीं। देखने वाले अचरज से भर उठे, 'यह युवती भी इतनी कोमल है।'

'जब सब कुछ समाप्त हो गया तो वह युवक उससे मिलने अस्पताल गया। उस दिन वह बिल्कुल अकेली थी और शांतचित्त लेटी थी। उसने जब युवक को देखा तो देखती रह गई। उसके नेत्र चमके, तरल हुए, वह बोली, 'मैं जानती थी तुम आओगे। बैठो।'

'युवक उसके पास कुरसी पर बैठ गया। कई क्षण दोनों एक दूसरे को देखते रहे, आखिर युवक ने अस्फुट स्वर में कहा, 'मैं...मैं तुमसे एक प्रार्थना करने आया हूँ।'

वह बोली, 'प्रार्थना।'

'हाँ।'

युवक ने दृढ़ स्वर में कहा, 'मैं तुमसे विवाह करना चाहता हूँ।'

सुनकर युवती की पुतलियाँ घूमीं। फिर अकस्मात् जैसे भूचाल आ गया है उसके मुख के भाव बदले और उसने तड़प कर कहा, 'यह कैसे हो सकता है। मैं तुम्हारा जीवन अपंग नहीं बना सकती।'

और वह सिसकियाँ भरने लगी।

युवक आज भी अविवाहित है।

1953

20—

बन्द खिड़की खुला दरवाजा
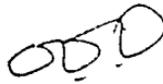
सुभद्र ने तुरन्त जोर से खिड़की बन्द कर दी। उसका मन कड़वाहट से भर आया था, जैसे उसके अंग-अंग में विष वह उठा हो। उस समय यदि सामने कोई होता तो वह उसका गला घोंट सकता था, मुक्कों से मार-मार कर वेहोश कर सकता था। हो सकता था कि नाखूनों और दाँतों से चीर-चीर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देता। लेकिन सौभाग्य से वहाँ कोई था ही नहीं इसलिए वह वार-वार फर्नीचर से टकराता हुआ खुले दरवाजे से वाहर चला गया। आँगन में घूम कर वह वहुत कुछ सोचना चाहता था। परन्तु उसके विचार मानो किसी विस्फोटक अग्नि-दाह के धूम्र से झुलस रहे थे। रह-रह कर उस कुण्डलाकार धुएँ में से जो आकृति उसके मस्तिष्क पर उभरती वह अत्यन्त घिनौना थी। एक जीर्ण-शीर्ण वृद्धा का कंकाल जिसकी त्वचा सूख कर चिकट गई थी। माथे के नीचे दो वड़े वड़े घिनौने गौलक उसके नेत्रों की याद दिला देते थे। जंगली घास की तरह सिर के रूखे वाल उसके नारी होने के एक मात्र साक्षी थे। उसके हाथ-पैर हिलते, मानो गहन अन्धकार में सर्प रेंगते। उसका वर्ण रात्रि का पर्याय था। उसके चारों ओर मक्खियाँ दल वाँध कर आक्रमण करतीं। उसकी स्थिति उस स्थितप्रज्ञ के समान थी जो घृणा और प्रेम के अन्तर को भूल चुका है। दुर्गन्ध उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती थी, लेकिन यह स्वयं दूसरों के लिए दुर्गन्ध वन गई थी।

सुभद्र ने तेजी से अपने नथुनों को दवाया, मानो दुर्गन्ध का एक झोंका उसके मस्तिष्क में घुस आया हो—छिः उसे क्या अधिकार है जीने का ! क्या अधिकार है कि वह किसी के जीवन को विपाक्त वनाये।

उसने एक क्षण उस दिशा की ओर देखा जिधर वह वन्द खिड़की थी। उसी खिड़की के नीचे सड़क जहाँ से मुड़ती है उसी कोने पर, वह पड़ी रहती

देह ही थी। वह चिनचिना उठा। लेकिन तभी उस बढ़ते हुए शोर ने उसे दूसरी ओर देखने के लिए विवश कर दिया। एक मोटर एक साइकिल सवार को गिराती हुई निकल गई थी और घायल सवार धीरे-धीरे उठने की चेष्टा कर रहा था। भीड़ उसके चारों ओर घिर आई थी। और लोग ज़ोर जोर से बोलकर अपना आक्रोश प्रकट कर रहे थे। एक व्यक्ति ने तेजी से आगे बढ़कर उस युवक को सहारा दिया। लेकिन उसके लिए खड़ा रहना लगभग असम्भव हो गया। उसका चेहरा वेदना से व्यथित हो आया था और वह बैठने के लिए छटपटा रहा था। वह व्यक्ति जैसे सहारा देकर सामने के रेस्टोरेन्ट में ले गया। भीड़ बिखरने लगी। बस दो-चार व्यक्ति साइकिल के पास खड़े रहकर उसे उठा ले जाने का इन्तजार करते रहे। उसके जी मैं आया कि वह चिल्ला कर कहे कि इस युवक के स्थान पर उस मोटर ने इस बुढ़िया को क्यों न कुचल दिया। लेकिन उसी क्षण दरवाजे पर आहट हुई। वह तीव्रता से मुड़ा और पाया कि जिस व्यक्ति ने वहाँ प्रवेश किया है वह सोनाली के अतिरिक्त और कोई नहीं है। उसकी खिची-खिची बड़ी-बड़ी आँखों में वही मादक मुस्कान है। और उसके अस्त-व्यस्त वेश से पता लगता है कि वह काफी देर से घर से बाहर है। सुभद्र ने उसे देखा और दूसरे ही क्षण अब तकके सब विचार उसके मस्तिष्क से बाष्प की तरह उड़ गये। वह प्रसन्न हो आया और हर्ष से लगभग चीख कर बोला, 'अरे सोनाली, तुम ! इस समय कहाँ से चली आ रही हो।'

सोनाली उत्तर देने के पूर्व ही सोफे पर बैठ चुकी थी। बोली, 'घर में कोई है ?'

'क्यों ?'

'मुझे बहुत ज़ोर की प्यास लगी है।'

वह तुरन्त अन्दर जाने को मुड़ा, 'बोला हम जो हैं।'

'अरे आप नहीं।...'

लेकिन तब तक वह जा चुका था। सोनाली कई क्षण खोई-खोई सी सोफे पर सिर रखे अन्दर से आती हुई आवाज को सुनती रही। फिर उठ कर खड़ी हो गई और जब सुभद्र अन्दर आया तो वह बन्द खिड़की को खोले हुए एकाग्र मन से बाहर झाँक रही थी। उसने दोनों हाथों से खिड़की के दोनों किवाड़ों को पकड़ा था और दृष्टि सड़क के उस पार, मोड़ पर के कोने की असहाया वृद्धा पर टिकी थी। आहट पाकर वह मुड़ी और एक निश्वास खींच कर बोली, 'हम में से बहुत-से व्यक्ति क्या सचमुच ही एबसर्ड नहीं।'

हाथ के जग और गिलास को सुभद्र बीच का टेबुल पर रख चुका था। सोनाली की बात उसकी समझ में नहीं आई। उसने धीरे से पूछा, 'तुम क्या कहना चाहती हो।'

सोनाली ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'तुम्हारी इस खिड़की के उस पार, इस वृद्धा को मैंने जितनी बार भी देखा है, यही सोचा है कि हम में से बहुत से व्यक्ति कितने व्यर्थ हैं।'

सुभद्र आश्वस्त हुआ और सदा की भाँति भाषण देने के लिए तैयार हो गया। लेकिन उसी समय सोनाली बोली, 'सोचती हूँ कि एक समय व्यर्थता भी अपने आप में सार्थक हो जाती है।'

सुनते ही सुभद्र ने प्रतिवाद करना चाहा लेकिन वह ठिठक गया और प्रतिवाद की घनी भूत होती हुई शक्ति ने व्यर्थ होकर उसके मन को त्रस्त कर दिया। वह समझ सकता इससे पूर्व ही सोनाली फिर बोली, 'किसी संवेदनशील कलाकार और कवि के लिए इस व्यर्थता से बढ़ कर और कुछ सार्थक नहीं होता।'

सुभद्र सहसा होठों में बुदबुदाया, 'यह संवेदनशीलता भी तो अभिशाप ही है, नहीं है क्या...'

लेकिन वह जोर से कुछ नहीं बोला। उसने सोनाली के पास जाकर उस की आँखों में झाँका। धीरे से कहा, 'आज तुम बहुत चिन्तित मालूम पड़ती हो।'

सोनाली तब तक मेज के पास आ चुकी थी। उसने बड़ी बेतकल्लुफी से गिलास भरा और फिर सोफे पर बैठकर घूंट-घूंट पीने लगी। सुभद्र उसके पास आ बैठा और मुस्कराने की चेष्टा करने लगा। जब तक उसने गिलास पूरा किया तब तक वह शान्त हो चुका था।सोनाली ने धीरे से कहा, 'अच्छा सुभद्र, तुम क्या सोच रहे हो कि मैं कहाँ जा सकती हूँ।'

सुभद्र ने कहा, 'कहीं भी जा सकती हो। यूनिवर्सिटी, किसी मित्र से मिलने, बाजार से खरीददारी करने भी जा सकती हो। हो सकता है तुम्हारा परेशान मन मुक्ति पाने को छटपटाया हो और तुम व्यर्थता की तलाश में निकल पड़ी हो।'

सोनाली बड़े जोर से हँस पड़ी। बोली, 'तुम तो सुभद्र बिलकुल पागल हो। सच्ची! नहीं हो...'

सुभद्र ने सोनाली की हथेली अपने दोनों हाथों में ले ली और फिर उस-की अँगुलियों में अपनी अँगुलियाँ फँसाता हुआ मोहाविष्ट-सा बोला, 'हाँ हम पागल हैं, पर तुम्हारे लिए।'

सोनाली ने अपने हाथ छुड़ाने की तनिक भी चेष्टा नहीं की। बल्कि पकड़ को और भी सघन होने दिया। पर बोली उसी मुक्त मन, 'न न, मेरे लिए नहीं, उस वृद्धा के लिये।'

सोनाली ने अनुभव किया जैसे सुभद्र की जकड़ ढीली पड़ी हो। उसने छटपटा कर किसी तरह कहा, 'वह भी तुम्हारे लिए।'

सोनाली ने जकड़ को फिर तेज किया और बोली, 'यहाँ भी तुम भूलते हो, मेरे लिए नहीं, अपने लिये। तुम्हारा अपना मन मेरे मन पर कुछ आरोपित करके यह समझता है कि वह आरोप मेरा स्वभाव है।'

सुभद्र धीरे-धीरे शिथिल होता आ रहा था। यहाँ आकर वह पूर्ण परास्त हो गया। लेकिन ऐसे ही क्षणों में आवेश जागता है। सुभद्र ने उत्तेजित हो कर कहा, 'कोई भी भला आदमी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि इस वृद्धा के जीवन का कोई उपयोग है। फिर उसे जीने का क्या अधिकार। नहीं, उसे जीने का अधिकार नहीं है। मैं इसे मुक्ति दूँगा। इसकी मुक्ति मृत्यु में है। संसार हृदयहीन है। निरंतर उसकी वेदना, उसकी व्यर्थता को दिव्यता का रूप देता रहता है। ममता, मोह, सहानुभूति, संवेदन ये उसी दिव्यता के व्यापारिक नाम हैं।'

और वह उठकर खड़ा हो गया। वह काँप रहा था। उसका आवेश उसे शक्ति से भर रहा था। उसने दृढ़ स्वर में कहा, 'सोनाली, तुम देखोगी मैं अपने इन हाथों से उसे मुक्ति दूँगा।'

सोनाली शान्त पर एकटक उसकी आँखों में झांक रही थी और दृष्टि मिलने के उन क्षणों में, सुभद्र की आँखों में तैर रहे थे—मुक्ति के नाना साधन—बन्दूक की गोली, छुरा, सेविंग ब्लेड, विष, अफीम, कुचला, मार्फिया···

वह सहसा मुस्कराया—हाँ, मार्फिया ठीक है। मुक्ति का इससे सहज और सुखप्रद साधन और क्या हो सकता है। स्वर्ग के सुमधुर स्वप्न देखता-देखता मनुष्य सो जाता है, फिर कभी न जागने के लिए। कितना द्रवणशील पदार्थ है यह। मनुष्य का सच्चा मित्र···

एक क्षण में वह इतना कुछ सोच गया और जब वह चौंका तो सोनाली कह रही थी, 'सुभद्र, मैं तो तुम्हारे ही पास आई थी।'

सुभद्र ने आश्चर्य से उसकी-ओर देखा, कहा, 'तो इसमें कहने की क्या बात है।'

सोनाली बोली, 'कहने के लिए ही तो कुछ है।'

सुभद्र सोफे पर बैठ गया और बोला, 'कोई विशेष बात है।'

सोनाली ने पहले ही क्षण सुभद्र को टटोलने की कोशिश की। जैसे शब्द उसे नहीं मिल रहे हैं। ठिठक कर बोली, 'बात यह है सुभद्र…'

सुभद्र ने उत्तर में कुछ कहा नहीं। उतावले होकर उसकी ओर देख भर लिया। मानो कहता हो, 'यही तो सुनना चाहता हूँ, कहो ना।'

सोनाली ने सहसा साहस बटोरा और एकाएक बोली—'सुभद्र बात यह है कि…कि हमारी शादी सम्भव नही है।'

हतप्रभ सुभद्र ने मानो सुना नहीं। बोला. 'क्या संभव नही है।'

सोनाली अब तक अपने को पूरी तरह पा चुकी थी। बोली, 'देखो सुभद्र. मैं यह कहने आई हूँ कि अब यह शादी संभव नहीं होगी।'

सुभद्र सकपकाया और अनायास ही खिसियाना-सा होकर बोला 'क्यों ?'

सोनाली ने कहा, 'मुझे बहुत दुख है। लेकिन अभिताभ लौट आया है और वह बजिद है। तुम तो जानते ही हो. हम दोनों एक-दूसरे को कितना चाहते हैं। वह अचानक इंगलैण्ड चला गया फिर बहुत दिन तक उसका पता नहीं चला। सुना उसने कोई शादी कर ली है। लेकिन यह सरासर झूठ था। वह मुझे लेने आया है।'

कहते-कहते सोनाली का मुख दीप्त हो आया और सुभद्र उसी परिमाण में ढ़ीला पड़ता चला गया। जैसे उसका जीवन रस सूख गया। कई क्षण वह बोल भी नहीं सका। बस फटी-फटी आँखों से शून्य में देखता रहा। फिर उसने सोनाली की आंखों में देखा। उनमें वही स्वीकृति के दिन वाली अग्नि दीप्त थी। पर उस दिन वह अग्नि उसके लिए जीवनदायिनी थी। आज उसका हृदय जैसे धक-धक किये जा रहा हो। जैसे वह डूबना चाहता हो। एकाएक उसने कहना चाहा—नहीं-नहीं यह नहीं हो सकता। कोई मजाक है. तुम कहीं नहीं जा सकती। तुम-तुम…तुम-तुम…

वह शब्दों के लिए तड़फड़ाया और फिर सहसा दुर्बल पड़ते हुए उसने अर्धजागृत अवस्था में कहा, 'तो तुम इंगलैण्ड जाओगी।'

'जाना ही होगा। सच सुभद्र, मुझे बहुत अफसोस है। तुम बहुत अच्छे हो और मुझे यकीन है हम दोनों में इसी प्रकार स्नेह बना रहेगा।'

सुभद्र एकाएक जोर से हँस पड़ा. 'विश्वास रखो, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो…तुम जा सकती हो। और यह विश्वास लेकर जा सकती हो…सोनाली. बात यह है कि जैसा तुमने अभी कहा था…क्या कहा था. वही एबसर्ड वाली बात। यानी…यानी…कि हम सब कहीं न कहीं

व्यर्थ हो रहते हैं और यह व्यर्थता कितनी सार्थक होती है। मैं इसे वहुत अच्छी तरह समझ गया हूँ। देखो ना…'

जब तक वह बोलता रहा, सोनाली बस उसकी ओर देखती रही। कसमसाती रही। फिर एकाएक बोली, 'मुझे शेफाली मिली थी। मैंने उसे सब कुछ बता दिया। ग़लतफहमी नहीं रहनी चाहिये। सुनकर वह बहुत खुश हुई। ठीक है न, तुम उसे मना मत करना। अच्छा, मैं अब चली। जाने से पहले हम दोनों मिलने आयगे। उससे भी मैंने कुछ नहीं छिपाया है। बात यह है कि हम लोग…अच्छा, मैं चलूँ।'

सोनाली ने सुभद्र के हाथ को जोर से भींचा और फिर सहसा अपने होठों को उसकी ठण्डी हथेली पर दबा कर वह तेजी से मानो अपने को किसी बन्धन से तोड़ती हो, खुले दरवाजे से बाहर निकली चली गई। सुभद्र कई क्षण हतप्रभ-सा खड़ा रहा। जैसे वह सुन्न हो गया है। जैसे जीवन से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो। न जाने कैसे इन क्षणों में, एक पेपरवेट उसके हाथों में आ गया। उस जड़ पदार्थ ने उसे एकाएक चेतन कर दिया। जैसे ही वह जागा और अनुभव किया कि सोनाली सचमुच चली गई है, उसने पूरी शक्ति के साथ उस पेपरवेट को बन्द खिड़की पर दे मारा।

और वह आवेग से भरने लगा वह कुछ और कर बैठता। लेकिन तभी सहसा सड़क पर से उठती हुई जोर-जोर की आवाजें उसके अन्तर में उतर गईं। उसने तेजी से बन्द खिड़की खोल दी और बाहर झाँका। सड़क के उस पार, उसी कोने पर जहाँ वह वृद्धा पड़ी रहती थी, उसने एक ट्रक को देखा, जिसके चारों ओर भीड़ घिरती आ रही थी और उसका ड्राइवर उतर कर भागने के प्रयत्न में था। निमिष मात्र में जैसे सब कुछ उस पर प्रकट हो गया। वह खिड़की से कूदा और ड्राइवर के पीछे दौड़ने लगा। उसके पैरों में वायु की गति प्रवेश कर गई थी। दूसरे ही क्षण उसने ड्राइवर को पकड़ लिया और हाँपता हुआ उस पर मुक्के बरसाने लगा। थक गया तो उसे नोच डाला। इस प्रक्रिया में वह धारा प्रवाह बोले जा रहा था, 'कम्बख्त देख कर नहीं चलते। इनकी दृष्टि में इन्सान की कोई कीमत नहीं है। चक्के पर हाथ रखते ही अपने आप को बाबा आदाम का बाप समझने लगते हैं। उस असहाया बुढ़िया को कुचल डाला। कोई तुमको कुचल डाले तो ? आओ मेरे साथ आओ। यहाँ लेटो और मैं तुम्हारे ऊपर से ट्रक लेकर जाता हूँ। तब तुम से पूछूंगा, कैसा लगता है…'

वह चीख-चीख कर बोल रहा था और उसे खींच रहा था। और भीड़ उसके चारों ओर घिरती आ रही थी। जैसे घोर अन्धकार में कोई प्रकाश

21—

मेरा वतन

उसने सदा की भाँति तहमद लगा लिया था और फैज ओढ़ ली थी। उसका मन कभी-कभी साईकिल के ब्रेक की तरह तेजी से झटका देता था परन्तु पैर यन्त्रवत् आगे बढ़ते चले जाते थे। यद्यपि इस शक्ति-प्रयोग के कारण वह बे-तरह काँप उठता था, पर उसकी गति पर अंकुश नहीं लगता था। देखने वालों के लिए वह एक अर्द्ध-विक्षिप्त से अधिक समझदार नहीं था। वे अक्सर उनका मजाक उड़ाना चाहते थे। वे कहकहे लगाते और ऊँचे स्वर में गालियाँ पुकारते; पर जैसे ही उसकी दृष्टि उठती—न जाने उन निरीह, भावहीन, फटी-फटी आँखों मे क्या होता था—वे सहम जाते, सोडावाटर के तूफान की तरह उठने वाले कहकहे मर जाते और वह नजर दिल की अन्दरूनी बस्ती को शोले की तरह सुलगाती हुई, फिर नीचे झुक जाती। वे फुसफुसाते, 'जरूर इसका सब-कुछ लुट गया है'....'इसके रिश्ते-दार मारे गये हैं'....'नहीं, नहीं, ऐसा लगता है कि काफिरों ने इसके बच्चों को इसी के सामने आग में भून दिया है या भालों की नोंक पर टिकाकर तब तक घुमाया है जब तक उनकी चीख-पुकार बिल्ली की मिमियाहट से चिड़िया के बच्चे की चीं-चीं में पलटती हुई खत्म नहीं हो गई है।'

'और यह सब देखता रहा है!'

'हाँ! यह देखता रहा है। वही खौफ इसकी आँखों में उतर आया है। उसी खौफ ने इसके रोम-रोम को जकड़ लिया है। वह खौफ इसके लहू में इतना घुल-मिल गया है कि इसे देखकर डर लगता है।'

'डर', किसी ने कहा था, 'इसकी आँखों में मौत की तस्वीर है, वह मौत जो कत्ल, खूँरेजी और फाँसी का निजाम सँभालती है।'

एक बार एक राह चलते दर्दमन्द ने एक दूकानदार से पूछा, 'यह कौन है ?'

दूकानदार ने जवाब दिया, 'मुसीबतज़दा है, जनाब। अमृतसर में रहता था। काफिरों ने सब कुछ लूटकर इसके बीवी-बच्चों को आग में भून दिया।'

'ज़िन्दा ?' राहगीर के मुँह से अचानक निकल गया।

दूकानदार हँसा, 'जनाब किस दुनिया में रहते हैं ! वे दिन बीत गये जब आग काफिरों के मुरदों को जलाती थी। अब तो वह ज़िन्दों को जलाती है।'

राहगीर ने तब कड़वी भाषा में काफिरों को वह सुनाई कि दूकानदार ने खुश होकर उसे बैठ जाने के लिए कहा। उसे जाने की जल्दी थी, फिर भी ज़रा-सा बैठ कर उसने कहा, 'कोई बड़ा आदमी जान पड़ता है।'

'जी हाँ ! वकील था, हाईकोर्ट का बड़ा वकील। लाखों रुपयों की जायदाद छोड़ आया है।'

'अच्छा जी !'

'जनाब ! क्या पूछते हैं ? आदमी आसानी से पागल नहीं होता। दिल पर चोट लगती है तभी वह टूटता है। पर जब एक बार टूट जाता है तो फिर नहीं जुड़ता। आजकल चारों तरफ यही कहानी है। मेरा घर का मकान नहीं था, लेकिन दूकान में सामान इतना था कि तीन मकान बन सकते थे।'

'जी हाँ', राहगीर ने सदय होकर कहा, 'आप ठीक कहते हैं। पर आप के बाल बच्चे तो ठीक आ गए हैं ?'

'जी हाँ ! खुदा का फज़ल है। मैंने उन्हें पहले ही भेज दिया था। जो पीछे रह गए थे उनकी न पूछिए। रोना आता है। खुदा गारत करे हिंदुस्तान को…।'

राहगीर उठा। उसने बात काटकर इतना ही कहा, 'देख लेना एक दिन वह गारत होकर रहेगा। खुदा के घर में देर है पर अन्धेर नहीं।'

और वह चला गया, परन्तु उस अर्द्ध-विक्षिप्त के क्रम में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वह उसी तरह धीरे-धीरे बाजारों में से गुजरता, शरणार्थियों की भीड़ में धक्के खाता, परन्तु उस ओर देखता नहीं। उसकी दृष्टि तो आस-पास की दूकानों और मकानों पर जा अटकती थी। अटकती ही नहीं, चिपक जाती थी। मिकनातीस लोहे को खींच लेती है; वैसे ही वे बेजबां इमारतें, जो जगह-जगह पर खण्डहर की शक्ल में पलट चुकी थीं, उसकी नजर और नजर के साथ उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी को

अपनी ओर खींच लेती थीं और फिर उसे जो कुछ याद आता, वह उसे, पैर के तलुए से होकर सिर में निकल जाने वाली सूली की तरह काटता हुआ, उसके दिल के कोने में जा बैठता था। इसी कारण वह आज तक मर नहीं सका था, केवल सिसकियाँ भरता रहता था—वे सिसकियाँ जिनमें न शब्द थे, न आँसू। वे सूखी हिचकियों की तरह उसे बे-जान किये हुए थीं।

सहसा उसने देखा—सामने उसका अपना मकान आ गया है। उसके असने दादा ने उसे बनाया था। उसके ऊपर के कमरे में उसके पिता का जन्म हुआ था उसी कमरे में उसने आँखें खोली थीं और उसी कमरे में उस के बच्चों ने पहली बार प्रकाश-किरण का स्पर्श पाया था। उस मकान के कण-कण में उसके जीवन का इतिहास अंकित था। उसे फिर बहुत-सी कहानियाँ याद आने लगीं। वह तब उन कहानियों में इतना डूब गया था कि उसे परिस्थिति का तनिक भी ध्यान नहीं रहा। वह जीने पर चढ़ने के लिए आगे बढ़ा और जैसा कि वह सदा करता था उसने घण्टी पर हाथ डाला। बे-जान घण्टी शोर मचाने लगी और तभी उसकी नींद टूट गई। उसने अपने चारों ओर देखा। वहाँ सब एक ही तरह के आदमी नहीं थे। वे सब एक ही जबान नहीं बोलते थे। फिर भी उनमें ऐसा कुछ था जो उन्हें एक कर रहा था और वह इस एक में अपने लिए कोई जगह नहीं पाता था। उसने तेजी से आगे बढ़ जाना चाहा, पर तभी ऊपर से एक व्यक्ति उतर आया। उसने ढीला पाजामा और कुरता पहना था; पूछा, 'कहिए जनाब ?'

वह अकचकाया, 'जी !'

'जनाब किसे पूछते थे ?'

'जी, मैं पूछता था कि मकान खाली है ?'

ढीले पाजामा वाले व्यक्ति ने उसे ऐसे देखा कि जैसे वह कोई चोर या उठाईगीरा हो। फिर मुँह बना कर तल्खी से जवाब दिया, 'जनाब ! तशरीफ ले जाइए वरना···' आगे उसने क्या कहा वह यह सुनने के लिए नहीं रुका, बढ़ा चला गया। उसकी गति में तूफान भर उठा, उसके मस्तिष्क में बवंडर उठ खड़ा हुआ और उसका चिन्तन गति की चट्टान पर टकरा कर पाश-पाश हो गया। उसे जब होश आया तो वह अनारकली से लेकर माल तक का समूचा बाजार लाँघ चुका था। वह बहुत दूर निकल गया था।

यहाँ आकर वह काँपा। एक टीस ने उसे कुरेद डाला जैसे बढ़ई ने पेच में पेचकस डालकर पूरी शक्ति के साथ उसे घुमाना शुरू कर दिया हो। हाई कोर्ट की शानदार इमारत उसके सामने थी। वह दृष्टि गड़ाकर उसके कंगूरों

को देखने लगा। उसके वरामदे की कल्पना की। उसे याद आया—वह कहाँ वैठता था, वह कौन-से कपड़े पहनता था कि उसका हाथ सिर पर गया, जैसे उसने साँप को छुआ। उसने उसी क्षण हाथ खींच लिया, पर मोहक स्वप्नों ने उसकी रंगीन दुनियाँ की रंगीनी को उसी तरह वनाये रखा। वह तव इस दुनिया में इतना डूव चुका था कि वाहर की जो वास्तविक दुनिया थी वह उसके लिए मृगतृष्णा वन गई थी। उसने अपने पैरों के नीचे की धरती को ध्यान से देखा, देखता रहा। सिनेमा की तस्वीरों की तरह अतीत की एक दुनिया, एक शानदार दुनिया उसके अन्तस्तल पर उभर आई। वह इसी धरती पर चला करता था। उसके आगे-पीछे उसे नमस्कार करते, सलाम झुकाते, वहुत-से आदमी आते और जाते थे। दूसरे वकील हाथ मिला-कर शिष्टाचार प्रदर्शित करते और···

विचारों के हनुमान ने समुद्र पार करने के लिए छलाँग लगाई—उसका ध्यान जज के कमरे में जा पहुँचा। जव वह अपने केसमें वहस शुरू करता था तो कमरे में सन्नाटा छा जाता था। केवल उसकी वाणी की प्रतिध्वनि गूँजा करती थी, केवल 'मी लार्ड' शब्द वार-वार उठता और 'मी लार्ड' कलम रखकर उसकी वात सुनते···

हनुमान फिरे कूदे और वह अव वार एसोसिएशन के कमरे में आ गया था। इसमें न जाने कितने कहकहे उसने लगाये थे, कितनी वार राजनीति पर उत्तेजित कर देने वाली वहसें की थीं, वहीं वैठकर उसने महापुरुषों को अनेक वार श्रद्धाँजलियाँ भेंट की थीं। विदा और स्वागत के खेल खेले थे।

वह अव उस कुर्सी के वारे में सोचने लगा जिस पर वह वैठा करता था। तव उस कमरे की दीवारों के साथ-साथ दरवाजे के पायदान की याद भी आ गई और वह पायदान को देखने के लिए आतुर हो उठा। वह सव-कुछ भूल कर सदा की तरह झूमता हुआ आगे वढ़ा, पर तभी जैसे किसी ने उसे कचोट लिया। उसने देखा कि लान की हरी घास मिट्टी में समा गई है। रास्ते वन्द हैं, केवल डरावनी आँखों वाले सैनिक मशीनगन संभाले, हैल्मैट पहने तैयार खड़े हैं कि कोई आगे वढ़े और वे शूट कर दें। उसने हरी वर्दी वाले होमगार्डों को भी देखा और देखा कि राइफल थामे पठान लोग जव मन में उठता है फायर कर देते हैं। वे मानो छड़ी के स्थान पर राइफल का प्रयोग करते हैं और उनके लिए जीवन की पवित्रता वन्दूक की गोली की सफलता पर निर्भर करती है। उसे स्वयं जीवन की पवित्रता से अधिक मोह

नहीं था। वह खंडहरों के लिए आँसू भी नहीं बहाता था। उसने अग्नि की प्रज्वलित लपटों को अपनी आँखों से उठते देखा था। उसे तब खाण्डव.वन की याद आ गई थी, जिसकी नींव पर इन्द्रप्रस्थ-सरीखे वैभवशाली और कलामय नगर का निर्माण हुआ था। तो क्या इस महानाश की नींव पर भी किसी गौरव-गरिमामय कलाकृति का निर्माण होगा ? इन्द्रप्रस्थ की उस कला के कारण महाभारत सम्भव हुआ, जिसने इस अभागे देश के मदोन्मत्त किन्तु जर्जरित शौर्य को सदा के लिए समाप्त कर दिया। क्या आज फिर वही कहानी दोहराई जाने वाली है !

एक दिन उसने अपने बड़े बेटे से कहा था, 'जिन्दगी न जाने क्या-क्या खेल खेलती है। वह तो बहुरुपिया है, पर दूसरी दुनिया बनाते हमें देर नहीं लगती। परमात्मा ने मिट्टी इसलिए बनाई है कि हम उसमें से सोना पैदा करें।'

बेटा बाप का सच्चा उत्तराधिकारी था। उसने परिवार को एक छोटे-से कस्बे में छोड़ा और आप आगे बढ़ गया। वह अपनी उजड़ी हुई दुनिया को फिर से बसा लेना चाहता था, पर तभी अचानक छोटे भाई का तार मिला। लिखा था, 'पिताजी ने जाने कहाँ चले गये।'

तार पढ़ कर बड़ा भाई अचरज से काँप उठा। वह घर लौटा और पिता की खोज करने लगा। उसने मित्रों को लिखा, रेडियो पर समाचार भेजे, अखबारों में विज्ञापन निकलवाये। सब-कुछ किया, पर वह यह नहीं समझ सका कि आखिर वे कहाँ गये और क्यों गये ? वह इसी उधेड़-बुन में था कि एक दिन सवेरे-सवेरे देखा—वे चले आ रहे हैं, शान्त,निर्द्वन्द्व और निर्मुक्त।

'आप कहाँ चले गये थे ?' प्रथम भावोद्रेक समाप्त होने पर पुत्र ने पूछा।

शान्त मन से पिता ने उत्तर दिया, 'लाहौर।'

'लाहौर !' पुत्र हठात् काँप उठा, 'आप लाहौर गये थे ?'

'हाँ !'

'कैसे ?'

पिता बोले, 'रेल में बैठकर गया था, रेल में बैठकर आया हूँ।'

'पर आप वहाँ क्यों गये थे ?'

'क्यों गया था !' जैसे उसकी नींद टूटी। उसने अपने आपको संभालते हुए कहा, 'वैसे ही, देखने के लिए चला गया था।'

और आगे की बहस से बचने के लिए वह उठकर चला गया। उसके

उनका अचरज ठीक था। तम्बुओं और कैम्पों के आस-पास, सड़कों के किनारे, राह से दूर भूत-प्रेतों के चिर-परिचित अड्डों में, उजड़े गाँवों में, खोले और खादर में, जहाँ भी मनुष्य की शक्ति कुण्ठित हो चुकी थी, वहीं ये लोग पहुँच जाते थे। और पादरी के नास्तिक मित्र की तरह नरक को स्वर्ग में बादल देते थे। उन लोगों ने जैसे कसम खाई थी कि धरती अनन्त है, शक्ति असीम है, फिर निराशा कहाँ रह सकती है?

ठीक उसी समय जब उसका बड़ा पुत्र अपनी नई दुकान का मुहूर्त करने वाला था, उसे एक बार फिर छोटे भाई का तार मिला, 'पिताजी पाँच दिन से ला-पता है।' पढ़ कर वह क्रुद्ध हो उठा और तार के टुकड़े-टुकड़े करके उसने दूर फेंक दिए। और चिनचिनाया, 'वे नहीं मानते तो उन्हें अपने किये का फल भोगना चाहिए। वे अवश्य लाहौर गये हैं।' उसका अनुमान सच था। जिस समय वे इस प्रकार चिन्तित हो रहे थे उसी समय लाहौर के एक दूकानदार ने एक अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति को, जो तहमद लगाये, फैज कैप ओढ़े, फटी-फटी आँखों से चारों ओर देखता हुआ घूम रहा था, पुकारा, 'शेख साहब! सुनिए तो। बहुत दिन में दिखाई दिए, कहाँ चले गये थे?'

उस अर्द्ध-विक्षिप्त पुरुष ने थकी हुई आवाज में जवाब दिया, 'मैं अमृतसर चला गया था।'

'क्या?' दूकानदार ने आँखें फाड़कर कहा, 'अमृतसर!'

'हाँ, अमृतसर गया था। अमृतसर मेरा वतन है।'

दूकानदार की आँखें क्रोध से चमक उठीं, बोला, 'मैं जानता हूँ। अमृतसर में साढ़े तीन लाख मुसलमान रहते थे पर आज एक भी नहीं है।'

'हाँ, उसने कहा, 'वहाँ आज एक भी मुसलमान नहीं है।'

'काफिरों ने सबको भगा दिया, पर हमने भी कसर नहीं छोड़ी। आज लाहौर में एक भी हिन्दू या सिख नहीं है और कभी होगा भी नहीं।'

वह हँसा, उसकी आँखें चमकने लगीं। उनमें एक ऐसा रंग भर उठा जो बे-रंग था। और वह हँसता चला गया, हँसता चला गया, 'वतन, धरती, मोहब्बत, सब कितनी छोटी-छोटी बातें हैं? सबसे बड़ा मजहब है, दीन है, खुदा का दीन। जिस धरती पर खुदा का बन्दा रहता है, जिस धरती पर खुदा का नाम लिया जाता है, वही मेरा वतन है, वही मेरी धरती है और वही मेरी मोहब्बत है।'

दूकानदार ने धीरे-से अपने दूसरे साथी से कहा, 'आदमी जब होश खो बैठता है, तो कितनी सच्ची बात कहता है!'

साथी ने जवाब दिया 'जवाब! तब उसकी जबान से खुदा बोलता है।'

'बेशक !' उसने कहा और मुड़कर उस अर्द्ध-विक्षिप्त से बोला, 'शेख साहब ! आपको घर मिला ?'

'सब मेरे ही घर हैं।'

दूकानदार मुस्कराया, 'लेकिन शेख साहब ! जरा बैठिए तो, अमृतसर में किसी ने आपको पहचाना नहीं।'

वह ठहाका मारकर हँसा, 'तीन महीने जेल में रहकर लौटा हूँ।'

'सच ?'

'हाँ, हाँ।' उसने आँखें मटकाकर कहा।

'तुम जीवट के आदमी हो।'

और तब दूकानदार ने खुश होकर उसे रोटी और कबाब मगाकर दिया। लापरवाही से उन्हें पल्ले में बाँधकर और एक टुकड़े को चबाता हुआ वह आगे बढ़ गया।

दूकानदार ने कहा. 'अजीब आदमी है। किसी-दिन लखपति था, आज फाकामस्त है।'

'खुदा अपने बन्दों का खूब इम्तहान लेता है।'

'जन्नत ऐसों को ही मिलती है।'

'जी हाँ। हिम्मत भी खूब है। जान-बूझकर आग में जा कूदा।'

'वतन की याद ऐसी ही होती है.' उनके साथी ने, जो दिल्ली का रहने वाला था कहा. 'अब भी जब मुझे दिल्ली की याद आती है तब दिल भर आता है।'

और वह आगे बढ़ रहा था। माल पर भीड़ बढ़ रही थी। कार भी कम नहीं थीं और अंग्रेज, एंग्लो-इंडियन तथा ईसाई नारियाँ पूर्ववत् बाजार कर रही थी। फिर भी उसे लगा कि वह माल जो उसने देखी थी यह नहीं है। शरीर कुछ वैसा ही था. पर उसकी आत्मा झुलस चुकी है। लेकिन यह भी उसकी दृष्टि का दोष था। कम-से-कम वे जो वहाँ घूम रहे थे उनका ध्यान आत्म की ओर नहीं था।

एकाएक वह पीछे मुड़ा। उसे रास्ता पूछने की जरूरत नहीं थी। बैल की तरह उसके पैर डगर को पहचानते थे। आँखें इधर-उधर देख रही थीं। पैर अपने रास्ते पर बिना डगमगाये बढ़ रहे थे। और विश्वविद्यालल की आलीशान इमारत एक बार फिर सामने आ रही थी। उसने नुमायश की ओर एक दृष्टि डाली, फिर बुलनर के बुत की तरफ से होकर वह अन्दर चला गया। उसे किसी ने नहीं रोका और वह लॉ कालेज के सामने निकल

आया। उस समय उनका दिल एक गहरी हूक से टीसने लगा था। कभी वह इस कालेज में पढ़ा करता था…वह कांपा, उसे याद आया, उसने इस कालेज में पढ़ाया भी है …वह फिर काँपा। हूक फिर उठी। उसकी आँखें भर आईं। उस मुँह फिरा लिया। उसके सामने वह रास्ता था जो उसे दयानन्द कालेज ले जा सकता था। एक दिन पंजाब विश्वविद्यालय, दयानन्द विश्वविद्यालय कहलाता था …।'

तब एक भीड़ उसके पास से निकल गई। वे प्रायः सभी शरणार्थी थे —वे घर और बे-जर, लेकिन उन्हें देखकर उसका दिल पिघला नहीं, कड़वा हो उठा। उसने चिल्लाकर उन्हें गालियाँ देनी चाहीं। तभी पास से जाने वाले दो व्यक्ति उसे देखकर ठिठक गये। एक ने रुककर उस ध्यान से देखा, दृष्टि मिली, वह सिहर उठा। सर्दी गहरी हो रही थी और कपड़े कम थे। वह तेजी से आगे बढ़ा। वह जल्दी-से-जल्दी कालेज-कैम्प में पहुँच जाना चाहता था। उन दो व्यक्तियों में से एक ने, जिसने उसे पहचाना था, दूसरे से कहा, 'मैं इसको जानता हूँ।'

'कौन है ?'

'हिन्दू।'

साथी अकचकाया, 'हिन्दू ?'

'हाँ, हिन्दू ! लाहौर का एक मशहूर वकील…'

और कहते-कहते उसने ओवरकोट की जेब में से पिस्तौल निकाल ली। वह आगे बढ़ा, उसने कहा, 'जरूर यह मुखबिरी करने आया है।'

उसके बाद गोली चली। एक हलचल, एक खटपट-सी मची। देखा एक व्यक्ति चलता-चलता लड़खड़ाया और गिर पड़ा। पुलिस ने उसे देखकर भी अनदेखा कर दिया, परन्तु अनेक व्यक्ति उस पर झुक गये थे उनमें से एक ने उसे पहचाना और काँपकर पुकारा, 'मिस्टर पुरी ! तुम ! तुम यहाँ. ऐसे …!'

मिस्टर पुरी ने आँखें खोलीं, उनका मुख श्वेत हो गया था और उस पर मौत की छाया पड़ रही थी। उन्होंने पुकारने वाले को देखा और धीरे से कहा, 'हसन…हसन…!'

आँखें फिर मिच गईं। हसन ने चिल्लाकर सैनिक से कहा, 'जल्दी करो ! टैक्सी लाओ। मेयो अस्पताल चलना है। अभी…!'

भीड़ बढ़ती आ रही थी · फौज, पुलिस और होमगार्ड. सबने उसे घेर लिया। हसन जो उसका साथी था, जिसके साथ वह पढ़ा था, जिसके साथ

उसने साथी और प्रतिद्वन्द्वी बनकर अनेक मुकदमे लड़े थे, वह अब उसे अचरज से देख रहा था। उसने एक बार झुककर कहा, 'तुम यहाँ इस तरह क्यों आये, मिस्टर पुरी ?'

मिस्टर पुरी ने एक बार फिर आँखें खोलीं। वे धीमे स्वर में फुसफुसाये, 'मैं यहाँ क्यों आया ? मैं यहाँ से जा ही कहाँ सकता हूँ ? यह मेरा वतन है, हसन ! मेरा वतन···!'

1948

22—
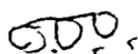
एक रात : एक शव

आधी रात बीत चुकी है। एक नृशंस स्तब्धता के बीच खोई हुई अपने कमरे में बठी हूँ। केवल अपनी घुटी हुई आवाजों की साँसें सुन रही हूँ, क्योंकि घर में अँधेरा है। सिर्फ बरामदे में हल्का बल्ब जल रहा है। सामने के मकान की रोशनी उस पर पड़ती ऐसे लगती है जैसे किसी काली औरत ने श्वेत सिल्क के वस्त्र पहने हों या शव पर कफन हो।···

मैं काँपती हूँ। मुझे शव की क्यों याद आती है, क्योंकि कुछ क्षण पहले मैं भी उसी कमरे में थी जहाँ ताऊ जी का शव रखा हुआ है। ताऊ जी जो सन्ध्या तक आनन्द और उल्लास की मूर्ति बने हुए थे। जैसे उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य पा लिया था। हर्ष-विभोर कई दिन से वह बार-बार सबसे यही कह रहे थे, 'मेरी अन्तिम साध भी पूरी हो गई। सुरेश का विवाह एक ऊँचे और कुलीन घराने में हो गया है। कैसी सुशील, सुशिक्षिता और सुन्दर है उसकी बहू प्रमिला। देखो तो, दहेज कितना लाई है।'

सुनने वाले उनकी हाँ में हाँ मिलाते। उन्हें बधाई देते। मन ही मन शायद उनके भाग्य से ईर्ष्या भी करते हों, लेकिन कहते, 'आपने सचमुच बहुत पुण्य किये थे।'

बात काट कर ताऊ जी उत्तर देते, 'हाँ, पुण्य तो किये थे। तभी तो मैंने जो चाहा वही पाया। भगवान की कृपा है।'

लेकिन इस सन्ध्या को सहसा उन्हें अपने छोटे भाई कमल किशोर की याद हो आई। दीर्घ निःश्वास खींचकर बोले, 'काश आज वह होता।'

मेरे ममेरे भाई वहीं बैठे थे। कहा, 'जी हाँ, भाग्य की बात है। पैर फिसला और वे तालाब में डूब गये। समय कितनी जल्दी बीतता है।

शर्त पर नहीं रुक सकते ?'

'जी नहीं।'

'सुरेश, क्या तुम्हें यह बताना पड़ेगा कि मैंने तुम्हें किस तरह पाला है ? क्या उस सबका यही परिणाम होगा कि मैं यहाँ अकेला तड़पता रहूँ ?'

सुरेश कई क्षण ताऊजी की ओर देखता रहा। फिर बोला, 'मैं आपको सब कुछ बता चुका हूँ। क्या आपमें यह कहने का साहस है कि बड़े भैया और मैं आपकी सन्तान हैं ?'

ताऊजी एकाएक सिहिर उठे। उनके मुँह से इतना ही निकला, 'सुरेश…'

सुरेश ने उसी दृढ़ता से कहा, 'मैं आपको पिताजी कहने का अधिकार चाहता हूँ। मैं सबको यह बता देना चाहता हूँ कि जिस व्यक्ति का मैं पुत्र कहलाता हूँ वह तालाब में अकस्मात नहीं डूब गया था, डूबने के लिए विवश कर दिया गया था। मैं उसका पुत्र नहीं हूँ। मैं उसे नहीं पहचानता। मैं आपका पुत्र हूँ।…'

सुरेश अबाध गति से बोले चला जा रहा था। मानो शब्द उसके होंठों से बह रहे हों और ताऊ जी पत्थर की श्वेत प्रतिमा की तरह उसकी ओर देखे जा रहे थे। उनके शरीर में जैसे रक्त नहीं था, ठण्डा लावा था। वह क्रोध से उबलना चाहते थे लेकिन धमनियाँ जैसे अब उनके वश में नहीं थीं। जैसे वह थे ही नहीं।…

सहसा वह रो पड़े। घिघियाते हुए बोले, 'सुरेश, इस बुढ़ापे में क्यों मेरी मिट्टी खराब करता है ? क्यों मेरे मुँह पर कालिख पोतता है। मुझे क्षमा कर दे।…'

सुरेश तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उसी ठण्डी दृढ़ता से उसने कहा, 'मैं अपना अधिकार माँगता हूँ। मैं जानता हूँ, आप में साहस नहीं है। इसीलिए आपको शान्ति से मरने देने के लिए मैं यह देश छोड़ कर जा रहा हूँ, कभी न लौटने के लिए।'

और वह उठ खड़ा हुआ। उसने ताऊजी की ओर देखा। कल इन्हीं ताऊजी ने उबल उफन कर उससे कहा था, 'बेईमान, बदतमीज, शर्म नहीं आती बकवास करते हुए। इतना भी नहीं जानता कि बड़ों से क्या कहा जाता है, क्या नहीं ?'

सुरेश बोला था 'आपका ही हूँ, आपने ही मुझे शिक्षा दी है। मैं सत्य जानना चाहता हूँ।'

'सत्य का बच्चा ! चुपचाप यहाँ से चला जा, नहीं तो…'

'मैं जानता हूँ, आप मेरी भी हत्या कर सकते हैं। मैं तैयार हूँ।'

वे हठात् नेत्र-विस्फारित किये उस ठण्डे लाशे को देखते ही रह गये थे। इतना ही कह सके, 'सुरेश···'

'जी, पिताजी।'

'चुप रहो।'

'जी।'

'तुम्हारे पास क्या प्रमाण है इस बात का ?'

'आप। आप मना कर दीजिये कि वह कहानी झूठी है।'

'......'

'कीजिये न। मैं भाई साहब को भी बुला लाऊँगा।'

वे चीख उठे, 'जा, तू भी चला जा। हट जा मेरी आँखों के सामने से। हट जा !'

तब वह चुपचाप चला गया था। आज भी चुपचाप चला गया। पर ताऊजी की दृष्टि तब कहीं खो गई थी। खोई रही। बहुत देर बाद उन्होंने उठने का प्रयत्न किया और इसी प्रयत्न में वह लड़खड़ा गए और फिर नाली के पास गिर पड़े। हर घर के भीतर एक नाली होती है जो सड़ांद को बाहर ले जाती है। कभी-कभी वह रुक भी जाती है। उस क्षण उन्हे लगा जैसे वह नाली कभी की रुकी हुई है, जैसे उसकी सड़ाँद उनके नासिका रन्ध्रों में बसने लगी है और वह डूब रहे हैं, उस सड़ांद का अंग बन रहे हैं।

न जाने वह कब तक वहाँ पड़े रहते कि माँ उधर आ निकली। एक चीत्कार उनके मुख से निकल गई और उसी को सुनकर परिजनों की भीड़ वहाँ इकट्ठी हो गई। जल्दी-जल्दी उन्हें चारपाई पर लिटाया गया। डाक्टर पर डाक्टर आये और चले गये। सिर हिला-हिला कर सबने अपनी असमर्थता प्रकट की। हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण ताऊजी की मृत्यु हो चुकी थी।

और अब वे ही ताऊजी उसी कमरे में धरती पर लेटे हैं। उनके सिर-हाने बैठी हुई ताईजी रह-रह कर चीत्कार कर उठती हैं। उनका करुण क्रन्दन हम सबको रोने के लिए विवश कर देता है, नहीं तो हमारे आँसू सूख चुके हैं। माँ पत्थर की प्रतिमा-सी आँखें फाड़े एक कोने में बैठी शून्य में ताक रही है। वह हिलती डुलती तक नहीं। किसी की बात का उत्तर तक नहीं देती। किसी के हिलाने डुलाने पर कोई प्रतिक्रिया उसमें पैदा नहीं होती। मैंने उसे बहुत झकझोरा, बहुत कुछ कहा पर उसकी पथराई हुई

आँखों ने जुम्बिश तक नह की। तभी मेरे कानों में पीछे से एक आवाज आई। वह दूर-दराज की मेरी एक चाची थी। धीमे-धीमे विद्रूप से कह रही थी, 'जेठजी के मरने का दुख तो इसे हुआ है।'

दूसरी बोली, 'जेठ जी इसी को तो मानते थे। जिठानी की तो उन्होंने कभी बाँदी जितनी भी कद्र नहीं की।'

तीसरी ने कहा, 'सच वहना, जेठ के साथ यही तो राज करती थी। हाय, कैसा कलजुग है। दोनों सगी वहनें हैं। बड़ी वहिन का हक छीन लिया कुलबोरन ने। वही कुकर्म देख कर तो इसके मालिक ने तालाव में डूबकर जान दे दी थी। उड़ा दिया कि पैर फिसल गया।'

जैसे किसी ने मेरे कानों में गर्म-गर्म पिघला शीशा भर दिया हो। मैंने चीखना चाहा, 'यह झूठ है, झूठ है...।'

लेकिन यह झूठ नहीं है। यही तो यथार्थ है। यह वात नहीं कि मैं इस तथ्य को जानती नहीं। घर में सभी जानते थे। लेकिन कभी किसी ने इसकी चर्चा नहीं की। ताईजी ने भी कभी जवान तक नहीं खोली। वह सब कुछ सहती रहीं, घुलती रहीं और माँ शासन करती रही। क्यों नहीं ताईजी ने विद्रोह किया? क्यों नहीं पिताजी ने सत्य का अनावरण किया? वह मुझे लेकर चले जाते। मैं तो उन्हीं की हूँ। ताई रात के समान जीवन भर सिसकती रहीं और पिताजी पलायन करके शव वन गये। क्यों? क्यों आखिर? ताऊजी ने भी तो पलायन किया। क्यों उन्होंने सव कुछ स्वीकार नहीं कर लिया...'

जैसे किसी ने मेरे कानों में कहा, 'क्योंकि समाज नहीं चाहता था।'

मैं चीख उठी, 'नहीं-नहीं, यह झूठ है। यह अपने अन्तर का भय है। इसी भय के कारण दिनेश लन्दन चला गया और आज तक लौट कर नहीं आया। आयेगा भी नहीं। और माँ है कि उसने कभी इस वात की चिन्ता नहीं की। उसने कभी किसी की चिन्ता नहीं की। सुनती हूँ, उसने उस दिन भी कोई चिन्ता नहीं की थी जिस दिन पिता जी की लाश घर पर लाई गई थी। उसने चुपचाप अपनी चूड़ियाँ फोड़ डाली थीं, चुपचाप माँग का सिन्दूर पोंछ दिया था और चुपचाप सफेद वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिये थे। लेकिन ताऊजी के प्रति उसकी भावना में कभी अन्तर नहीं आया। वह उसी तरह उनकी सेवा करती रही, उसी तरह सव पर शासन करती रही...

दो दिन पूर्व सुरेश ने माँ से भी यही कहा था, 'माँ, तुमने सदा शासन किया है। तुममें अमित साहस है। फिर तुम इस सत्य को क्यों नहीं स्वीकार

करतीं कि दिनेश भैया और मैं उस पिता की सन्तान नहीं हैं जिसका नाम म्युनिसिपल कमेटी के रजिस्टर में लिखा हुआ है। वह क्यों नहीं कहतीं कि तुम उसकी पत्नी नहीं हो। तुम...'

सुनकर माँ उद्धत हो आई थीं। दाँत भींच कर कहा था, 'तुझे शर्म नहीं आती माँ से इस तरह बातें करते ? तू कौन होता है यह कहने वाला कि तू किसका बेटा है ? यह मेरा अधिकार है।'

सुरेश हँसा था, 'माँ, तुम जानती हो कि तुम्हारी यह दृढ़ता बालू की भित्ती पर खड़ी है। तुम झूठ बोल रही हो। तुम अब इस स्थिति में नहीं हो कि मुझे रोक सको। मैं निश्चय ही चला जाऊँगा। हाँ यदि रोकना चाहती हो तो...'

'सुरेश, तुम जा सकते हो।'

सुरेश सहसा सकपका गया था। वह माँ को जानता था। लेकिन उसने यह कल्पना नहीं की थी कि वह इतनी क्रूर भी हो सकती है। उसने माँ की आँखों में आँसू देखे थे। उसने माँ का प्यार पाया था। बचपन में उसके तनिक-सी चोट लग जाने पर माँ तिलमिला उठती थी। परीक्षा में अव्वल आकर जब वह घर लौटता था तो हर्ष विभोर वह रो आती थी। उसने कई बार सुरेश से कहा था, 'सुरेश, क्या तू मुझे छोड़ कर तो नहीं चला जाएगा ?'

सुरेश सदा गर्व से भर कर उत्तर देता था, 'नहीं माँ, मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जाऊँगा। मैं जहाँ भी जाऊँगा, तुम्हें साथ लेकर जाऊँगा।

शायद दिनेश से भी माँ इसी तरह पूछती होगी। शायद वह भी ऐसा ही उत्तर देता होगा। लेकिन एक दिन वह उसे छोड़ कर चला गया। अब सुरेश भी वही निश्चय कर चुका है। दिनेश ने उसे सब कुछ बता दिया था और उसने माँ से कहा था, 'माँ, तुम एक बार यह कह दो कि यह सब झूठ है।'

लेकिन माँ ने और बहुत कुछ कहा था पर वह यह नहीं कह सकी थी कि यह झूठ है। मुझे ठीक याद है कि उसने एक-एक करके दो-तीन साँसें लीं। फिर एकाएक बोलने लगी। वह न सुरेश से कुछ कह रही थी न अपने आपसे। बस, वह बोले जा रही थी जैसे शब्द अपने आप उनके होंठों से फिसल रहे हों। जैसे शब्दों पर से उसका काबू हट गया हो। अन्त का एक वाक्य ही समझ में आ सका। उसने कहा, 'तुम मेरे बेटे हो, क्या इतना ही काफी नहीं है ?'

सुरेश बोला, 'काश कि इतना ही काफी होता! काश! मेरे प्रमाणपत्रों में पिता के स्थान पर माँ का नाम लिखा होता। पर माँ, मैं उस झूठे पिता को नहीं सह सकता जो कायर था। उसमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह अपनी पत्नी को अपनी बना सकता या फिर उसे छोड़ देता। नहीं तो कम-से-कम उसका गला घोंट कर मार देता। वह स्वयं क्यों मरा? नहीं, नहीं, मैं ऐसे पिता का पुत्र नहीं हो सकता। और जब कि यह सत्य है कि मैं उसका पुत्र नहीं हूँ, तो फिर मैं क्यों उस लाश को सदा सर्वदा अपने ऊपर लादे फिरूँ। मैं उससे मुक्ति पाना चाहता हूँ। और पाऊँगा। मैं लन्दन जा रहा हूँ। पम्मी भी जा रही। सब प्रबन्ध हो चुका है। हम फिर कभी लौटेंगे भी नहीं।...

सचमुच सुरेश जा रहा है। प्रमिला भी जा रही है। ताऊजी उनसे पहले ही चले गये। उनका शव बराबर के कमरे में रखा हुआ है। लेकिन सोचती हूँ कि लन्दन में रहकर भी क्या ये दोनों भाई इन शवों से मुक्ति पा सकेंगे। शायद नहीं।...

मेरी आँखों के आँसू और भी सूख गए। मेरे नासारन्ध्रों में शव की गन्ध भरने लगी है। भविष्य का ठण्डापन मुझे आ दबोचता है। मुझे लगता है, आकाश में शव ही शव मँडरा रहे हैं। मैं अपनी गर्दनको झटका देती हूँ। मैं अपने घर में अकेली ही पड़ गई हूँ। जैसे धीरे-धीरे सभी मर रहे हैं। रात भी मर रही है। कुछ ही क्षणों में दरारों से ऊषा की रश्मियाँ अन्दर आएँगी। ताईजी का चीत्कार सहस्र गुण होकर दीवारों को तोड़ देगा। समाज वाले आएँगे और फिर सुरेश चुपचाप ताऊजी का अन्तिम संस्कार करेगा। शायद कुछ लोग कानों ही कानों में कुछ बातें करगे। लेकिन ताईजी का क्या होगा? वह विष जो उन्होंने अब तक अपने कण्ठ में धारण किया था क्या वह अब नीचे उतर कर उन्हें भस्म नहीं कर देगा? लेकिन माँ को तो यह सौभाग्य भी नहीं मिलेगा। वह शायद इसं तरह बैठी रहेगी। वह किसी की बात का प्रत्युत्तर नहीं देगी। घुटनों में मुँह भी नहीं छिपाएगी। शायद इसी तरह शून्य को देखती रहेगी। बस, देखती रहेगी।

सहसा देखती हूँ कि सुरेश मेरी ओर आ रहा है। वह उसी तरह शान्त और दृढ़ रहने की चेष्टा कर रहा है। मेरे पास आकर वह कहता है, 'जीजी, उधर चलो।'

मैं एकाएक जैसे रंगे हाथों पकड़ी गई हूँ। हड़बड़ा कर उठती हूँ। मुड़ते-मुड़ते वह फिर कहता है, 'अच्छा है कि जीजी, तुम्हारी शादी हो चुकी

है। फिर भी तुम तो मुझे माफ कर देना। मैं रुक नहीं सकता।'

इससे पहले कि मैं उसकी बातों का अर्थ समझ सकती, वह चला जाता है। और मैं सन्तप्त विमूढ़ लड़खड़ाती हुई उधर ही चल पड़ती हूँ जिधर ताऊजी का शव रखा है और नाते-रिश्ते की औरतें अपने यान्त्रिक चीत्कारों में दर्द पैदा करने का विफल प्रयत्न कर रही हैं।

1965

—23
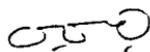
तिरछी पगडंडियाँ

शतरूपा ब्यूटी पालर से लौटी तो किशोर विस्मित विमूढ़ देखता रह गया, मानो पहचान नहीं पा रहा हो, मानो कोई राजकुमारी परिलोक से उतर आई हो। फिर आगे बढ़कर उसके कन्धे झकझोरते हुए बोला, 'वण्डर फुल ! क्या ब्यूटी पार्लर में कायाकल्प भी होता है ? या तुम किसी जादुई ताल में स्नान करके आई हो ? यह रूप, यह व्यक्तित्व ! शतरूपा तुम सचमुच जादूगरनी हो। मैं कितना खुश किस्मत हूँ। एक के बाद एक सफलता मेरे चरण चूम रही है। क्या तुम जानती हो कि प्रधान मन्त्री ने स्वीकृति दे दी है।'

शतरूपा मुग्ध भाव से निरन्तर किशोर की ओर देखे जा रही थी। वह जानती है कि किशोर अभिनय कला में कितना दक्ष है। यह भी जानती है कि प्रधान-मन्त्री की स्वीकृति अवश्यंभावी थी। लेकिन फिर भी सहज भाव से अचरज प्रकट करती हुई बोली, 'सच ! तब तो तुम बधाई के पात्र हो।'

'मैं नहीं, तुम, अभिनन्दन ग्रन्थ की सामग्री के लिए जो प्रयत्न तुमने किये वह मैं नहीं कर सकता था। मैं तो मात्र मस्तिष्क हूँ। तुम हो मेरी योजना की कार्य शक्ति। तुम न होती तो क्या यह सामग्री मुझे मिल पाती ? यह चित्र, यह रूप सज्जा, यह सौन्दर्य, इन सबका मैं स्वामी हूँ। केवल तुम्हारे बल पर। तुम शिव की शक्ति हो।'

यह कहते हुए पाँच पत्रों के मुख्य सम्पादक श्री मनु खन्ना से शतरूपा को अपनी ओर खींचा। लेकिन एकाएक अपने को छुड़ाते हुए शतरूपा द्वार की ओर बढ़ी, 'तो परसों का दिन निश्चित है ?'

'हाँ।'

तो प्रशंसा का कोई काम किया भी नहीं है। यह देखो, जिसे प्रधान मन्त्री ने तेजस्विनी कहा है, वही शतरूपा इस ग्रन्थ की आत्मा है। आप इसके सम्पर्क में आने का प्रयत्न कीजिए। अद्‌भुत साधना है इस लड़की की। देखते नहीं मुख मण्डल कैसा दीप्त है। बाल ब्रह्मचारिणी है। मैं कहूँगा, आपसे मिलेगी। ग्रन्थ देखने के बाद जैसा आपको अनुभव हो, दो-चार पंक्तियाँ इसको लिखा दीजिए। बहुत ही कुशल आशुलिपिक है। बेचारी पंजाब से अनाथा होकर आई थी। लेकिन अपने परिश्रम से इतना कुछ कर पाई है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का सम्पादन इसी ने किया है। आप अपनी पंक्तियों में इसकी कमियों की ओर अवश्य ध्यान दिलाइए, क्योंकि कमियों को लेखकर ही प्रगति की जा सकती है।...

जितनी देर बोलता रहा, सब तन्मय-विभोर सुनते रहे। प्रारम्भ में जो संघर्ष उमड़ा था ग्रन्थ का परस पाकर वह प्रशंसा में परिवर्तित हो गया। और जब उन्होंने शतरूपा की ओर देखा तो रहा-सहा कलुष भी धुल-पुछ गया। गद्‌गद् होकर बोले, 'किशोर जी, आप सचमुच साधक हैं और साधक ही कलाकार होता हैं। हम तो पैसे के कीड़े हैं। क्या जानें कला क्या होती है? कोट बेचकर भी हम कला की उपासना नहीं कर सकते। आपके शुक्रगुजार हैं कि आपने हमें खींच कर इस पंक्ति में ला खड़ा किया। हमें वह स्वर्ण अवसर दिया कि एक साथ प्रधान मन्त्री, उपराष्ट्रपति तथा अन्य मन्त्रियों के साथ फोटो खिचवा सके। और शतरूपा जी तो सचमुच देवीस्वरूपा हैं। साक्षात उमा।...

किशोर ने बीच में बात काटते हुए गम्भीर स्वर में कहा, 'माफ कीजिए, राष्ट्रपति अभिनन्दन ग्रन्थ भी तैयार हो रहा है।'

झिनझानियाँ जी, जो अब तक चुप थे, गद्‌गद् होकर बोले, 'क्या मूल्य रखेंगे उसका ?'

किशोर ने कहा, 'इस ग्रन्थ का मूल्य हमने बहुत कम रखा है। आर्ट पेपर पर एक हज़ार पृष्ठ हैं, सौ से अधिक चित्र हैं। लेकिन यह तो देश का कार्य है। और देश अभी गरीब है इसलिए पचास रुपये ही रखना पड़ा। काफी घाटा होगा। लेकिन सोचता हूँ, राष्ट्रपति के ग्रन्थ का मूल्य सौ रुपये होना चाहिए।'

झिनझानिया जी पहले तो खिसियाते से हुए, फिर यथाशक्ति मुस्कराते हुए कहा, 'तब सुनिये, बीस ग्रन्थ मेरी ओर से भेंट कर दीजिये।'

किशोर बोला, 'अजी अभी क्या है, तैयार होने दीजिए। आप कहीं भागे थोड़े ही जा रहे हैं। बीस नहीं, पचास ले लीजिए।'

झिनझानिया जी ने कहा, 'भाई, हम तो व्यापारी हैं, तुरन्त दान महा-कल्याण। दो हज़ार रुपये कल मंगवा लीजिए। शतरूपा जी ले जाएँगी।'

किशोर मन ही मन मुस्कराया। उसने शतरूपा को पुकारा। कहा, 'अरे शतरूपा, इनसे मिलो। ये हैं प्रसिद्ध उद्योगपति झिनझानिया जी। देश की समृद्धि में इनका बड़ा हाथ है। जब भी अवसर हो, इनके पास जाना। अपनी मिल की सैर कराने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं।'

झिनझानिया जी ने हँसते हुए कहा, 'अवश्य अवश्य।'

और एक ललचाई दृष्टि शतरूपा पर डालते हुए वे आगे बढ़ गये। उन-का युवक पुत्र बार-बार संकेत कर रहा था। किशोर बहुत देर तक दूसरे उद्योगपतियों और सेठों से मिलता रहा। महीने के अन्त में उसने पाया कि अलग-अलग मार्गों से बीस हजार रुपया उसने तुरन्त इकट्ठा कर लिया। तब तक गर्मी भी तेज हो आई थी। समारोह की थकान उतारने के लिए वह शतरूपा को लेकर कश्मीर चला गया। वहाँ के एक उच्च अधिकारी का लेख भी अभिनन्दन ग्रन्थ में था। इसलिए वह जितने दिन भी वहाँ रहा, राज्य के अतिथि जैसा ही बन कर रहा। प्रथम श्रेणी की नौका उसे मिली थी। प्रति क्षण पन्द्रह-बीस सेवक इधर-उधर घूमते रहते थे। साथ में न थी पत्नी, न थीं पुत्र-पुत्रियाँ। मात्र शतरूपा थी। जो रूप का आगार और आनन्द का मधुमय स्रोत थी। उन्हें लगा जैसे वे उस वैकुण्ठ में थे जहाँ अशरीरी आत्माएँ ब्रह्मानन्द सरोवर में डूबी रहती हैं।

लेकिन इस ऐश्वर्य में एक काँटा था और किशोर किसी भी तरह उसको नहीं निकाल पा रहा था। रह-रह कर वह उसके वक्ष में कसक उठता था। अतिशय आनन्द के क्षणों में जैसे नुकीली धार-सा वह मर्म स्थल पर चुभ उठता और वह शतरूपा से कह बैठता, 'कुछ भी हो शतरूपा, समारोह में हमें आशातीत सफलता नहीं मिली। यदि कहीं तुम सुशील से लिखवा सकतीं।...'

शतरूपा उत्तर देती, 'मैं सुशील के सम्बन्ध में बातें नहीं करना चाहती।'

किशोर हँस कर चुप हो जाता। और वह खिसियानी हँसी शतरूपा की महत्त्वाकाँक्षा को मानो चुनौती देती। उसके कर्ण रन्ध्र में कहीं से आकर ये शब्द टकरा जाते, 'सुशील से तुम नहीं लिखवा सकतीं। शायद तुमने चाहा ही नहीं। अपने अन्तरतम में तुम उससे पराजित होते रहना चाहती रही हो!'

शतरूपा तब अतिशय करुण हो आती। जैसे अपने से बातें करती हुई बोलती हो, 'मैं उससे पराजित होना चाहती हूँ। लेकिन वह कमबख्त तो जय-

पराजय में विश्वास ही नहीं करता। काश ! मुझ से वह यह खेल खेल सकता तो कृतार्थ न हो जाती। सुशील, तुम इतने निर्मम क्यों हो? जिसको पाने के लिए इतने लोग पागल हैं उसे तुम ऐसे अनासक्त भाव से क्यों ग्रहण करते हो पाकर गर्वित क्यों नहीं होते? किशोर किसी और कारण से कहता है, लेकिन चाहती मैं भी यही हूँ कि तुम मुझे सचमुच पा सको। मेरे देने पर नहीं अपने आग्रह से, अपनी क्षमता से।...

उस दिन अचानक क्या हुआ। नाव में बैठ कर दोनों किनारे की ओर जा रहे थे कि उनकी दृष्टि सुशील पर पड़ी। पास ही प्रथम श्रेणी के नौक़ा-घर के पोर्च में वह खड़ा था। किशोर ने उसे देखा और दृष्टि घुमा ली। शतरूपा ने भी देखा, लेकिन वह दृष्टि नहीं घुमा सकी। तब तक देखती रही जब तक वह मात्र शून्य बन कर नहीं रह गया। लेकिन वही शून्य उस सारे दिन बिम्ब बन कर उसको छलता रहा। वह जानती थी कि किशोर के रहते वह सुशील से नहीं मिल सकेगी। मिलना चाहेगी भी नहीं। इसलिए उसने एक बार भी सुशील का जिक्र नहीं किया, बल्कि उस जिक्र को बचाने के लिए वह और भी उत्फुल्ल होकर अपने को खोती रही। किशोर व्यापारी था। संशय और द्वन्द्व से बहुत दूर। इसलिए उनके बीच में जो पारदर्शी झीना आवरण था उसको भेदने की उसने जरा भी चेष्टा नहीं की। वह आनन्द के सागर में डूबता रहा और शतरूपा को सूचना मिलती रही कि सुशील टूरिस्ट विभाग का मेहमान होकर आया है और सभी स्थानों पर घूम रहा है।

कई दिन बाद गुलमर्ग में शतरूपा ने फिर सुशील को देखा। उस दिन किशोर अपने अधिकारी मित्र के साथ लोलाब वैली चला गया था। दो दिन उसके आने की आशा नहीं थी। चलते समय उसने शतरूपा से कहा था, 'सुशील यहीं पर है। हो सके तो प्रयत्न कर देखना। उसका नाम हमारे लिए बहुत अर्थ रखता है।'

दूसरे दिन शतरूपा ने पाया कि वह सुशील के सामने खड़ी है। वह उसकी इस अप्रत्याशित उपस्थिति से तनिक भी अभिभूत नहीं हुआ। मुस्करा कर बोला, 'आओ शतरूपा। मैं जानता हूँ, तुम कई दिन से यहाँ हो। मैंने स्वयं तुमसे मिलना चाहा था। तुम्हें बधाई देनी है। ग्रन्थ सचमुच सुन्दर है।'

शतरूपा मुस्कराई, 'और कुछ?'

सुशील ने कहा, 'सच्ची, मैं व्यंग्य नहीं कर रहा। यूँ मैं जानता हूँ कि ऐसे ग्रन्थों का निर्माण क्यों और कैसे होता है। तुम लाख बार भी कहती मैं उसके लिए नहीं लिखता। जानता हूँ कि तुम बहुत परेशान हुई हो। किशोर

ने दवाव डाला है। लेकिन तुम मेरे पास नहीं। आ ही नहीं सकती थी।'

सुशील जब तक बोलता रहा शतरूपा तन्मय विभोर सुनती रही। फिर एकाएक बोली, 'लेकिन आज आई हूँ।'

'नहीं, उसलिए नहीं।'

शतरूपा ने सहसा दृष्टि उठाई। फिर एक दीर्घ निःश्वास उसके मुख से निकल गया। बोली, 'सच्ची, मैं आज उसीलिए आई हूँ। किशोर का आग्रह है कि तुम्हारा नाम अमूल्य है। है न ?'

इस बार सुशील के स्वर में तलखी का पुट था। बोला, 'क्यों नहीं है ? लेकिन इस समय मैं तुम से उलझना नहीं चाहता। दुर्बल ठहरा। तुम्हें सामने देख कर शक्ति खो देता हूँ। अच्छा बोलो, क्या पीओगी ? सोचो नहीं। मैं भी सरकारी खर्च पर धरती के इस स्वर्ग का लुत्फ उठा रहा हूँ।'

शतरूपा संशय ग्रस्त कभी नहीं होती। पर सुशील को लेकर अक्सर उसके अन्तर में द्वन्द्व मच आता है। इस वक्त सुशील की बात सुनकर वह मुस्कराई और उनींदी आँखों से उसे देखा। फिर एक सेब उठाकर छीलती बोली, 'जो तुम पिलाओ।'

सुशील ने बेरे को बुलाकर समुचित आर्डर दे दिया। उसके साथी इधर-उधर चले गए थे। वह कुछ लिखने के लिए रुक गया था। शायद उसके अन्तरतम के किसी कोने में यह विश्वास अंकित था कि आज शतरूपा आयेगी। उसने यह भी निश्चय कर लिया था कि आने पर वह खूब लानत-मलामत करेगा। कहेगा कि वह उससे मिलना पसन्द नहीं करता, लेकिन हर बार चुपचाप उस निश्चय को फिर कभी पूरा करने के लिए उठा रखता था। इस बार भी यही हुआ। बहुत देर तक चाय पीता हुआ शतरूपा के साथ साहित्य की बातें करता रहा। अपनी नई कहानी की चर्चा करने से भी वह नहीं चूका और फिर अपने को चौंकाता हुआ बोल उठा, 'शतरूपा, अब तो तुम्हें शादी कर लेनी चाहिए।'

शतरूपा तनिक भी परेशान नहीं हुई। जैसे वह इस प्रश्न के लिए तैयार ही थी। मुग्ध भाव से उसकी ओर देखते हुए उसने कहा, 'परिवार नियोजन के इस युग में ट्रेड मार्क की क्या जरूरत है और फिर मैं तो...।'

जैसे सुशील को किसी ने झकझोर दिया हो। उसने अनुभव किया कि वह नौकाघर झील की गहराइयों में डूब गया है। कई क्षण तक वह उसकी ओर देखता बैठा रहा और तभी जोर-जोर से बोलता हुआ, किशोर वहां आ गया। शतरूपा को देखकर उसने चौंकने का नाट्य किया और बोला, 'बहुत सुन्दर ! तुम तो पहले ही यहां आ गई हो। मैं चाहता था कि आज

भाई साहब को मनाकर तुम्हें चकित कर दूँगा। लेकिन तुम मुझे जीतने ही नहीं दे सकतीं। क्या ही अच्छा हो कि राष्ट्रपति-अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन सुशील भाई साहब करें और तुम रहो इसकी सहायिका।'

किसी के उत्तर की चिन्ता किए बिना वह बोलता चला गया। सुशील मुस्कराता रहा। शकुन्तला सुशील को देखती रही और किशोर कहता रहा, 'सच भाई साहब, मैं यह बात गम्भीरता से कह रहा हूँ। दीदी भी आपकी चिन्ता नहीं करती है।'

सुशील ने उत्तर दिया, 'मुझे मालूम है, मेरा आपके लिए चिन्ता का विषय नहीं है। लेकिन मैं क्या करूँ, मेरी भी विवशताएँ हैं।'

किशोर ने कहा, 'आपकी जो विवशताएँ हैं उन्हें मैं जानता हूँ। सच तो यह है कि मेरा भी उत्साह नहीं है। जाने दीजिए। अब यह अभिनन्दन ग्रन्थ नहीं निकलेगा। देश की हालत आप देख रहे हैं। चारों ओर से मुसी-बतें घिरी आ रही हैं, लेकिन क्या करें समझ में नहीं आता। इनके विचारों में तर्क नहीं, इनके रहन-सहन में फर्क नहीं, इनके झगड़ों में कमी नहीं। आखिर ये देश को कहाँ ले जा रहे हैं। साहब, हमें तो लगता है कि इनके चोट लगनी चाहिए और लग रही है। अपनी हालत को छिपा रहे हैं, पर घर तो सब जल ही रहा है। और भाई साहब, एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि हमें विरासत में जो कुछ मिला है उसी का तो यह परिणाम है। पहले प्रधान मन्त्री ने जितनी गलतियाँ कीं उनका परिणाम वर्तमान प्रधान मन्त्री को भोगना पड़ रहा है। मुझे तो दया आती है। सच भाई साहब, यह अभिनन्दन ग्रन्थ इसीलिए निकाला है। अच्छा शकुन्तला, तुम्हें और कुछ बातें करनी हैं।'

किशोर के जाने के बाद शकुन्तला पहली बार बोली, 'हाँ, मुझे कुछ और बातें करनी हैं।'

किशोर ने कहा, 'तो मैं चलता हूँ। भाई साहब, यह ग्रन्थ न सही, काम बहुत है। आप मुझे सहयोग दीजिए। सच कहता हूँ, आप और शकुन्तला मिल जाएँ तो हम अभागे देश के लिए बहुत कर सकते हैं।'

और वह जैसे आया था वैसे ही लौट गया। शकुन्तला कई क्षण बाहर आकर झील की लहरों को देखती रही जो पानी के विस्तार पर ऐसे उठ कर गिर रही थीं जैसे नवोढ़ा के हृदय में प्रेम की लहरें। कमल-पत्रों के बीच जाते हुए शिकारे उसे आकाश की गहराइयों में उड़ते पक्षियों की याद दिला रहे थे। जब किशोर आँखों से ओझल हो गया तो उसने सुशील से कहा, 'तुम्हारा शिकारा कहाँ है?'

सुशील बोला, 'क्यों ?'

'उसके जाने से पहले कहीं चलो, कमल-वन के उस पार चिनारों के वृक्षों से परे, वहां जहाँ नीलापन क्षितिज में खो गया है।'

सुशील ने धीरे से कहा, 'तुम भी अब जाओ, शतरूपा।'

शतरूपा उसकी ओर देखने लगी। बोली नहीं। सुशील एकाएक चीख उठा, 'मैं कहता हूँ, तुम चली जाओ। जाओ।'

शतरूपा अपने स्थान से मुड़ी, लेकिन नौकाघर के अन्दर जाने के लिए। सुशील भी तेजी से उसके पीछे मुड़ा, लेकिन आश्चर्य, अन्दर जाकर वह कुछ न कह सका। वह चीखना चाहता था। लेकिन न जाने किसने उसके मुँह पर हाथ रख दिया। वह चुपचाप आकर कुर्सी पर बैठ गया और शतरूपा धीरे-धीरे उसके कन्धे को सहलाने लगी। फिर वहीं उसके पास बैठ गई और बोली, 'तुम चुप क्यों हो गये ? मुझे तुमने बाहर क्यों निकाल दिया। तुम मुझे झील में धक्का दे देते तो मैं बहुत खुश होती। सच सुशील, तुम नहीं जानते कि मैं कितनी दुखी हूँ। मैं एक क्षण के लिए भी वहाँ नहीं रहना चाहती। मैं क्या करूँ ? तुम मुझ पर अधिकार क्यों नहीं जताते। मुझे खींच क्यों नहीं लेते ? तुमने देखा, वह मुझे बुलाने आया था और दो मिनट बाद वह फिर लौटकर आयेगा। लेकिन मैं जाना नहीं चाहती।...'

उसका कण्ठ रुंध आया। उसने भीगी दृष्टि उठाकर सुशील की ओर ऐसे देखा जैसे चिरौरी करती हो। सुशील को लगा कि वह किसी भी क्षण दुर्बलता के सामने घुटने टेक सकता है। वह द्वन्द्व में उलझ गया। पहले क्षण उसके जी में आया कि उसे उठाकर वह अपनी बाहों में भर ले। दूसरे क्षण लगा कि धक्का देकर झील में गिरा दे। लेकिन वह दोनों ही बातें नहीं कर सका। कई क्षण चुनौती की मूक प्रतिध्वनियाँ उसके मस्तिष्क में टकराती रहीं और वे दोनों भीतर-ही-भीतर किसी अपराधी-भावना से कसमसाते रहे कि तभी किशोर ने फिर वहाँ प्रवेश किया और अधिकार भरे स्वर में कहा, 'चलो शतरूपा।'

शतरूपा उसी तरह अस्त-व्यस्त बैठी रही। दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा।

किशोर ने फिर कहा, 'मैं कहता हूँ चलो।'

शतरूपा सहज भाव से बोली. 'आप शिकारे पर चलिए. मैं आती हूँ।'

आश्चर्य, वह चला गया लेकिन सुशील वैसे ही मूर्तिवत् बैठा रहा। शतरूपा उसे देखती रही। फिर पास आकर धीरे से कहा, 'बोलो, क्या कहते हो ?'

सुशील बोला, 'कुछ नहीं।'

शतरूपा तिलमिला उठी और दूसरे ही क्षण वह तिलमिलाहट एक भयंकर चुनौती में परिवर्तित हो गई। उसने कठोर स्वर में कहा, 'सुशील, नारी प्रशंसा की भूखी है, निन्दा भी वह सह सकती है परन्तु उदासीनता और उपेक्षा उसे घृणामयी बना देते हैं। मैं तुमसे घृणा करती हूँ। सुना तुमने, मैं तुमसे घृणा करती हूँ।'

और वह बाहर जाने के लिए तीव्र गति से मुड़ी, लेकिन फिर न जाने क्या हुआ, जैसे वह काल से अपने को तोड़ती हुई सुशील के पास आकर बैठ गई। फिर मेज पर सिर रखकर रोने लगी। रोते-रोते बोली, 'मुझे क्षमा कर दो, सुशील। मैं तुमसे घृणा नहीं कर सकती। मैं तुमको नहीं समझ पाती। अपने को भी नहीं। तुम···तुम···।'

फिर वैसे ही एकाएक उठ बैठी। बोली, 'मैं तुमसे यही कहने आई थी कि तुम किसी भी शर्त पर किशोर के लिए मत लिखना। मैं जानती हूँ कि वह ग्रन्थ निकलेगा पर उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।'

और वह दृढ़ कदम रखती हुई बाहर चली गई। द्वार पर पहुँच कर फिर मुड़ी। सुशील को देखा। कुछ कहना चाहा लेकिन फिर तीव्र गति से शिकारे में उतरी चली गई।

कई क्षण किशोर और शतरूपा दोनों मौन शिकारे के सुकोमल धवल गद्दों पर बैठे रहे। फिर शतरूपा बोली, 'तुम क्यों बार-बार मुझे इस दम्भी के पास अपमानित होने के लिए भेज देते हो। सुन लो, मैं अब कभी इसके पास नहीं जाऊँगी।'

किशोर ने तत्क्षण कोई जवाब नहीं दिया। मुस्कराता रहा। उसकी आँखें चमकती रहीं। वैसे-ही-जैसे साँप की चमकती हैं। फिर उसने शतरूपा को अपने पास खींच लिया और उसकी आँखों में झाँकता हुआ बोला, 'इन लहरों को देखो शतरूपा। कैसी मादक हैं, पर तभी तक जब तक हवा और पानी में सम्पर्क है।'

और फिर धीरे-धीरे उसकी जकड़ तेज होती गई और सूरज की लाली झील के विस्तार पर सोना बिखेरती गई।

1965

सुशील बोला, 'क्यों ?'

'उसके जाने से पहले कहीं चलो, कमल-वन के उस पार चिनारों के वृक्षों से परे, वहां जहाँ नीलापन क्षितिज में खो गया है।'

सुशील ने धीरे से कहा, 'तुम भी अब जाओ, शतरूपा।'

शतरूपा उसकी ओर देखने लगी। बोली नहीं। सुशील एकाएक चीख उठा, 'मैं कहता हूँ, तुम चली जाओ। जाओ।'

शतरूपा अपने स्थान से मुड़ी, लेकिन नौकाघर के अन्दर जाने के लिए। सुशील भी तेजी से उसके पीछे मुड़ा, लेकिन आश्चर्य, अन्दर जाकर वह कुछ न कह सका। वह चीखना चाहता था। लेकिन न जाने किसने उसके मुँह पर हाथ रख दिया। वह चुपचाप आकर कुर्सी पर बैठ गया और शतरूपा धीरे-धीरे उसके कन्धे को सहलाने लगी। फिर वहीं उसके पास बैठ गई और बोली, 'तुम चुप क्यों हो गये ? मुझे तुमने बाहर क्यों निकाल दिया। तुम मुझ झील में धक्का दे देते तो मैं बहुत खुश होती। सच सुशील, तुम नहीं जानते कि मैं कितनी दुखी हूँ। मैं एक क्षण के लिए भी वहाँ नहीं रहना चाहती। मैं क्या करूँ ? तुम मुझ पर अधिकार क्यों नहीं जताते। मुझे खींच क्यों नहीं लेते ? तुमने देखा, वह मुझे बुलाने आया था और दो मिनट बाद वह फिर लौटकर आयेगा। लेकिन मैं जाना नहीं चाहती।...'

उसका कण्ठ रुंध आया। उसने भीगी दृष्टि उठाकर सुशील की ओर ऐसे देखा जैसे चिरौरी करती हो। सुशील को लगा कि वह किसी भी क्षण दुर्बलता के सामने घुटने टेक सकता है। वह द्वन्द्व में उलझ गया। पहले क्षण उसके जी में आया कि उसे उठाकर वह अपनी बाहों में भर ले। दूसरे क्षण लगा कि धक्का देकर झील में गिरा दे। लेकिन वह दोनों ही बातें नहीं कर सका। कई क्षण चुनौती की मूक प्रतिध्वनियाँ उसके मस्तिष्क से टकराती रहीं और वे दोनों भीतर-ही-भीतर किसी अपराधी-भावना से कसमसाते रहे कि तभी किशोर ने फिर वहाँ प्रवेश किया और अधिकार भरे स्वर में कहा, 'चलो शतरूपा।'

शतरूपा उसी तरह अस्त-व्यस्त बैठी रही। दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा।

किशोर ने फिर कहा, 'मैं कहता हूँ चलो।'

शतरूपा सहज भाव से बोली, 'आप शिकारे पर चलिए, मैं आती हूँ।'

आश्चर्य, वह चला गया लेकिन सुशील वैसे ही मूर्तिवत् बैठा रहा। शतरूपा उसे देखती रही। फिर पास आकर धीरे से कहा, 'बोलो, क्या कहते हो ?'

24—

चट्टान पर से देखा इन्द्रजाल

ऊँची-नीची सड़कों को पार करती हुई बस उस छोटे-से पहाड़ी नगर के बाहर पहुँची ही थी कि झगड़ा आरम्भ हो गया। सुबन्धु ठीक नहीं जानता कि यह सब कैसे हुआ क्योंकि तब उसकी दृष्टि ग्रासपास फैले हुए मकानों पर थी। रात चट्टान पर बने हुए अपने होटल से जब वह इस ढलान की ओर देखता तो इन्द्रजाल-सा दिखाई देता। अन्धकार में झिलमिलाती हुई बत्तियाँ आकाश के तारों के समान रोमाँचित कर देतीं। लेकिन तब वह दृश्य जितना आकर्षक था अब उतनी ही जुगुप्सा पैदा करने लगा था। एक दूसरे में उलझे, ऊँचे-नीचे, रंग-बदरंग मकान, चीखते-चिल्लाते लोग, ऊबड़-खाबड़ गन्दी सड़कें···।

इसी समय उस झगड़े का तीव्र स्वर उसके कानों में पड़ा। हठात् चौंक कर उसने अपनी पीछे वाली सीट पर बैठे हुए एक व्यक्ति को देखा। उसका चेहरा शक्ति और दृढ़ता का परिचायक था। रेखाकृति वक्र थी। गुस्से से काँपता हुआ वह तीव्र गति से बोले जा रहा था, 'मैं इसी बस से जाऊँगा। बस जनता की सुख-सुविधा के लिए होती है, तुम अपने को समझते क्या हो ? दिखाओ कहाँ लिखा है कि इस बस में रास्ते की सवारी नहीं जा सकी ? नहीं जा सकती तो हम कौन सी बस जाएँ। तुम जानते नहीं कि मैं सैनिक हूँ। छुट्टी पर आया हूँ, इसलिए वर्दी नहीं पहनी है। और फिर मुझे उस गाँव में बहुत जरूरी काम है।···

गोरे मुँह वाला ड्राइवर बीच-बीच में यात्रियों की ओर देख कर एकाध बात कह देता था, 'मैं इन्हें कैसे समझाऊँ, यह डाक गाड़ी है। स्टेशन पर समय पर डाक पहुँचानी होगी। शहर में ही देर हो गई थी। पहाड़ी इलाका

है, न जाने कब तूफान आ जाए। हर गाँव-कस्बे में कैसे ठहर सकता हूँ।...

लेकिन उस यात्री पर उसकी बात का कोई असर नहीं हुआ। जिद्दी लड़के की तरह वह और तेज हो उठा और उसने ऐलान कर दिया, 'मैं इसी बस से जाऊँगा। तुम्हारे जो जी में आए कर लो। मैं नहीं उतरूँगा।'

ये शब्द उसने इतनी दृढ़ता और इतने विश्वास से कहे कि सुबन्धु मन ही मन उसकी प्रशंसा किए बिना न रह सका। उसके मुँह से निकल गया, 'ड्राइवर, अब तुम चलो भी। इस तरह तो डाक समय पर नहीं पहुँचा सकोगे और हम लोग भी गाड़ी पकड़ सकने से रह जाएँगे।'

यह सुनकर उस व्यक्ति ने सुबन्धु की ओर देखा और अत्यन्त नम्रता के साथ कहा, 'जनाब, मैं बिल्कुल सड़क के किनारे ही उतर जाऊँगा। मैं जानता हूँ कि यह डाकगाड़ी है, लेकिन मेरी भी तो मजबूरी है। उस गाँव में मेरी पत्नी बहुत बीमार है। मैं उसकी दवा ले जा रहा हूँ। इतनी देर में तो हम काफी दूर पहुँच गये होते। मैंने तो आते ही इससे प्रार्थना की थी।...

तब सुबन्धु पहली बार उसके चेहरे पर की पीड़ा को देख सका। सघन, नीली गहराई वाली पीड़ा। दिल को पेंच की तरह कुरेद देने वाली। बस उसी क्षण वहां का वातावरण बदल गया। यात्रियों को ट्रेन पकड़ने की उतावली थी। इसलिए ड्राइवर को बस रवाना कर देनी पड़ी। फिर सारे रास्ते वह व्यक्ति कुछ नहीं बोला। कोई भी कुछ नहीं बोला। अपने गन्तव्य स्थान पर उतर कर वह चुपचाप चला गया! तब सुबन्धु के साथी ने उसका हाथ दबा कर कहा, 'कहो यार, तुम कानून का बहुत पक्ष लेते हो। यह सब क्या गलत हुआ? क्या तुमने स्वयं ही कानून तोड़ने की बात नहीं की?...'

सुबन्धु ने अब भी कोई जवाब नहीं दिया। उसके मस्तिष्क में परस्पर विरोधी विचार उमड़ आए थे। और वह स्वयं नहीं जान पा रहा था कि नियम और संवेदन इन दोनों में कौन ठीक है। सही और गलत में कहाँ अन्तर होता है। उस यात्री के चेहरे पर जो उदासी छायी हुई थी वह उसके अन्तर में कैसे उतर आई है, इत्यादि-इत्यादि...।

बस एक झटके के साथ रुक गई और उसका ध्यान टूट गया। देखा आकाश में बादल उमड़ घुमड़ आये हैं। और पहाड़ी प्रदेश का भय पैदा करने वाला, चमकीला तूफान तीव्र गति से पास आता जा रहा है। सहसा उसने सोचा, भय कितना सुन्दर होता है। मृत्यु भी तो सुन्दर ही होती है। तभी तो वह आकर्षित करती है। उसका सौन्दर्य ही स्वर्ग के ऐश्वर्य का निर्माण करता है...।

लेकिन वह कुछ और सोच पाता कि तभी एक युवक और एक युवती

बड़े सहज भाव से बस में चढ़ आये। जगह नहीं थी पर ड्राइवर या कण्डक्टर किसी ने भी उनको नहीं रोका। इसके विपरीत एक यात्री ने अपने स्थान से उठकर उस युवती से बैठने के लिए कहा। वह सहज भाव से उस स्थान पर बैठ गई, यद्यपि उसके पास बैठे हुए दूसरे दोनों व्यक्ति सैनिक थे।

प्रथम दृष्टि में उस युवती को सुन्दर नहीं कहा जा सकता पर उसके चेहरे पर एक मधुर-सी आकर्षक मुस्कान थी। और वह निरन्तर उन्मुक्त भाव से पास खड़े अपने साथी से बातें किये जा रही थी। उसके गोरे मुख से झरने-से झरते शब्द सुबन्धु के कानों तक नहीं पहुँच पा रहे थे। पर उनकी भंगिमा से अव्यक्त अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं हो रही थी। उनका साथी क्षण-क्षण में हँस पड़ता और झरने का संगीत और मादक हो आता।

उनकी उपस्थिति से बस का उदास वातावरण एकाएक रोमानी हो उठा। यात्री मुस्कराते हुए उच्छ्वसित स्वर में बातें करने लगे।···

लड़की सुन्दर है।

साथ में उसका पति है।

न, न, पति नहीं, प्रेमी है। देखते नहीं कैसे बोले जा रही है।

दुत्, पति से क्या ऐसे नहीं बोला जाता? आखिर दोनों जवान हैं और जवानी···।

और आगे के शब्द एक अर्थ गर्भित ठहाके में खो गये। वह ठहाका इतना प्रबल था मानो बाहर के तूफान से प्रतिस्पर्धा करना चाहता हो। सचमुच मोटी-मोटी बूंदें पड़ने लगीं थीं। उनकी तेज-तेज आवाज बस के शीशों पर मालूम पड़ रही थी। बिजली बार-बार चमक उठती और तूफान की भयानकता को उजागर कर देती। गोरे ड्राइवर ने चीख कर कहा, 'कण्डक्टर, ऊपर त्रिपाल डाल दो।'

और बस एक हल्के झटके के साथ रुक गयी। सुबन्धु ने खिड़की के शीशे से बाहर की ओर देखा। बूंदें और सघन हो आई थीं और दूर उदी-उदी पहाड़ियों की ढलानों पर फैली हरियाली ने सन्ध्या के आँचल में मुँह छिपा लिया था। इस तूफ़ानी मौसम ने उसके अन्तर की उदासी को और भी गहरा कर दिया। वह छत पर चलते हुए कण्डक्टर को त्रिपाल खोलते हुए अनुभव कर रहा था और यात्री अपने-अपने अनुभव सुनाने की प्रतिस्पर्धा में व्यस्त थे कि किस ने कैसे-कैसे तूफान देखे हैं।

कि कुछ व्यक्ति कैसे कानून की चिन्ता किये बिना बस में चढ़ आते हैं।

कि ड्राइवर-कण्डक्टर कैसे यात्रियों को परेशान करते हैं।

कि नवविवाहिताएँ कैसे शर्मा-शर्मा कर अपने पतियों से बातें करती हैं।

कि पहला स्पर्श…।

इन बातों में कोई संगति नहीं थी और ये बस के तंग दायरे में एक अजीब-सी उलझन पदा कर रही थीं। यदि बीसवीं सदी उनके बीच में बाधक न होती तो उस युवती के लिए युद्ध आरम्भ हो सकता था। लेकिन हुआ यह कि बाहर तूफ़ान घुमड़ता रहा और बस तीव्र गति से दौड़ती रही। जिन्दगी के पैमाने की तरह इस क्षण उठान नजर आते, उस क्षण ढलान लीलने को बढ़ आते। एकाएक सुबन्धु ने अपने साथी से कहा, 'आज का यह सफर कैसा रोमांचक है। लेकिन सच बताना कि क्या तुम अपने मन की बात साफ-साफ कह सकते हो? और यदि कह सकते हो तो क्या तुम्हें बस से नीचे नहीं धकेल दिया जाएगा?'

साथी एक अजीब-सी बेमानी हँसी-हँसा। फिर बोला, 'अभी तुमने क्या रोमाँस देखा है। जानते हो यह बस कहाँ जा रही है?'

सुबन्धु ने कहा, 'और कहाँ जाएगी, स्टेशन जा रही है।'

साथी बोला, 'जी नहीं, हम लोग बस के रास्ते से पाँच मील हट कर एक कस्बे में पहुँच गये हैं।'

सुबन्धु चौंक पाता कि बस एक बार फिर एक निश्चित झटके के साथ रुक जाती है। और दरवाजा खोलकर वह आकर्षक युवती सहज भाव से अपने गोरे साथी के साथ नीचे उतर जाती है। उसी क्षण अन्दर का रोमाँस जैसे किसी जादूगर के स्पर्श से टूट जाता है। सभी एक साथ चीख उठते हैं और झल्ला कर कहते हैं, 'ड्राइवर, तुम इधर कैसे आये?'

'जानते हो, तुम बस के मार्ग से पाँच मील हट आये हो? अब तुम्हें फिर पाँच मील लौटना होगा।'

'क्या दस मील चलने में समय नहीं लगता?'

'क्या अब देर नहीं होगी?'

'क्या यह डाकगाड़ी नहीं है?'

'उस मुसीबतजदा इन्सान को न बैठने देने के लिए तुम कितने तड़के-भड़के थे। अब यह युवती तुम्हारी क्या लगती थी?'

एकाएक सब कुछ अस्त व्यस्त हो जाता है परन्तु दूसरे ही क्षण उसका साथी जोर से हँस कर ऊँची आवाज में कहता है, 'जनाब, युवती-युवती थी, क्या इतना ही काफी नहीं है? भाई साहब, अगर आप में से कोई ड्राइवर होता तो मैं कहता हूँ, उस युवती के लिए बस को, रास्ते से, पच्चीस मील हटाकर ले जाता।'

इस यथार्थवादी मजाक पर युवकों ने ठहाका लगाया। वयोवृद्ध मुस्कराए,

ऐसे जैसे कहीं कुछ गुदगुदी हुई हो। लेकिन जिन्हें गाड़ी पकड़नी थी उन यात्रियों का क्रोध और भड़क उठा और वे ड्राइवर की ओर धमकी भरे इशारे करने लगे। ऐसा लगा जैसे बहुत सारे मुक्के एक दूसरे से टकरा कर बस को कुचल देंगे। सुबन्धु एकाएक सहम गया। कहीं ड्राइवर का हाथ न बहक जाए और बस किसी खड्ड में न जा गिरे। लेकिन वह गोरे मुँह वाला ड्राइवर तो जैसे तब था ही नहीं। उसके हाथ स्टियरिंग व्हील पर जमे थे। उनकी दृष्टि अन्धकार को चीरते बस के प्रकाश पर केन्द्रित थी। जब कुछ यात्री क्रोध से भर कर सचमुच ही उससे शिकायत की किताब माँगने लगे तब सुबन्धु ने कहा, 'ड्राइवर, तुम्हें अपनी गलती मान लेनी चाहिए। आखिर वह युवती कौन थी जिसके लिए तुमने इतना गलत काम किया ?'

उसका साथी उसकी ओर देखकर हँस पड़ा। लगा जैसे वह उसे अत्यन्त दयनीय समझ रहा हो। ड्राइवर ने सहसा कोई जवाब नहीं दिया। वह धीरे-धीरे सुबन्धु की ओर मुड़ा और बोला, 'जनाब, बात यह है कि यह युवती इस कस्बे के एक व्यापारी की बेटी है। वह व्यापारी शुद्ध वस्तुओं के व्यापार के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध है और···।

इस बार उसकी आवाज बड़ी कोमल थी। परन्तु वह अपनी बात पूरी कर पाता कि कई सैनिक तीव्र वेग से उबल पड़े, 'तो क्या तुम उस व्यापारी के खरीदे हुए गुलाम हो ? तुम एक सरकारी बस के ड्राइवर हो। बस जनता के लिए है, किसी व्यापारी की बेटी के लिए नहीं। तुम्हें शर्म आनी चाहिए। हम तुम्हें क्षमा नहीं कर सकते। तुम्हारी रिपोर्ट करनी ही पड़ेगी। स्टेशन पर पहुँचो तो सही तुम्हारा मार मार कर भुरकस न बना दिया तो सैनिक न कहना।'

न जाने क्यों सुबन्धु अब उनका साथ न दे सका। एकाएक ही उस ड्राइवर के प्रति उसके मन में एक करुणा-सी जाग आई। जैसे उसके गोरे चेहरे की निरीहता को उसने पहली बार देखा हो। उसने कहा, 'आप ठीक कहते हैं हम उसे दण्ड देंगे, उसके विरुद्ध रिपोर्ट करेंगे। पर इस समय आप शान्त रहें, व्यर्थ में प्राण देने की क्या ज़रूरत है ?'

अपने इस तर्क पर उसे स्वयं आश्चर्य हुआ। और उस करुणा पर भी जो उचित समय पर ऐसे पदा हो गई थी जैसे मृत्यु का क्षण निश्चित होता है। बात वास्तव में यह थी कि पिछले तीन-चार दिनों से इस शुद्धता ने सुबन्धु को परेशान कर दिया था। राजसी नगर दिल्ली का रहने वाला वह इस छोटे से पहाड़ी कस्बे में जहाँ भी देखता, लिखा पाता—'यहाँ शुद्ध घी का खाना मिलता है।' 'यहाँ शुद्ध केशर लीजिये।' 'शुद्ध शहद यहाँ मिलता

है,' इत्यादि इत्यादि। उसने अपने स्थानीय मित्र से पूछा, 'आखिर यह माजरा क्या है? अणु युग में क्या सचमुच शुद्धता कुछ अर्थ रखती है?'

साथी ने बताया, 'जी हाँ, इन पहाड़ों में अभी भी यह नायाब चीज आपको मिल सकती है।'

बाद में उसने स्वयं अनुभव किया कि बात सच है। इसीलिए शुद्ध वस्तुओं के व्यापारी का नाम सुनकर उसका मन तरल हो आया। और वह ड्राइवर की रिपोर्ट करने की बात को मूर्खता समझने लगा।

बस जब रुकी तो उसके साथी ने सहसा निर्णयात्मक स्वर में उससे कहा, 'सामान की चिन्ता किये बिना चुपचाप मेरे साथ चले आओ। मुझे शुद्ध घी की सख्त जरूरत है। वह व्यापारी निश्चय ही ड्राइवर का परिचित है।'

अपने को ही चकित करता हुआ सुबन्धु भी बोल उठा, 'मिल सके तो कुछ चीजें मुझे भी चाहिए।'

साथी बोला, 'तो सोच क्या रहे हो? चलो इन लोगों को रिपोर्ट लिखने दो। हम पुरानी पीढ़ी के लोग शुद्धता का महत्त्व जानते हैं।'

उन्हें बहुत दूर नहीं जाना था। एक चक्कर काट कर वे उस केबिन के पास पहुँच गए जहाँ कण्डक्टर और ड्राइवर बैठते हैं। पाया कि वे उनसे पहले वहाँ पहुँच गए हैं और यात्रियों से घिरे हुए हैं। ये वे ही यात्री हैं जो क्षण भर पहले उन्हें नाना प्रकार की धमकियाँ दे रहे थे। सुबन्धु ने घबरा कर अपने साथी से कहा, 'क्या ये सचमुच ड्राइवर को मारेंगे?'

उसका साथी बड़े जोर से हँसा बोला, 'यह दरबार क्या तुम्हें युद्धभूमि के समान दिखाई दे रहा है? देखो इन सबके चेहरों पर कैसी झेंप है। सुनो, ये क्या कह रहे हैं।'

और तब सुबन्धु ने सुना कि वे व्यक्ति ड्राइवर से बड़ी नम्रता के साथ निवेदन कर रहे हैं, 'देखो भाई, यदि तुम हमारे लिए पाँच सेर शुद्ध घी का प्रबन्ध करवा सको तो बड़ी कृपा होगी।'

'सुनो भाई, मुझे दो सेर शुद्ध शहद चाहिए।'

'और भाई, मेरे लिए तो केवल पाँच तोला शुद्ध केसर मँगवा दो।'

एक व्यक्ति ने जो बस में सबसे तेज हो रहा था और निश्चय ही राजधानी का व्यापारी जान पड़ता था, अत्यन्त विनम्र स्वर में कहा, 'अरे भाई भूल जाओ उन बातों को। सफर में तो ऐसे तूफान उठा ही करते हैं। लो, यह लो पच्चीस रुपये। जरा सेठ जी से कह कर जितना भी माल लानि सके, मंगवा दो। मेरी इच्छा है कि मैं उनका स्थायी ग्राहक हो जाऊँ।'

मुस्कराता हुआ ड्राइवर सबके आर्डर लिख रहा था और विश्वास दिला रहा था कि वह अभी सभी वस्तुओं का प्रबन्ध कर देगा। यात्रियों की सुख-सुविधा के लिए ही वह सब कुछ तैयार रखता है।

एकाएक अन्दर न जाने क्या घुटने लगा। सुबन्धु ने चाहा कि वह वहाँ से भाग चले और अपने को इस 'मानव समाज' से तोड़ ले। लेकिन न जाने किस अदृश्य शक्ति ने उसके पैरों में जंजीर डाल दी। वह अपनी बारी की राह देखने के अतिरिक्त और कुछ न कर सका।

1966

—25

राजकुमार और मछली

'भारती' के मुख्य सम्पादक डा० कैलाशनाथ राजनीति के गम्भीर विद्वान हैं, पर उनके पैर में चक्र है इसलिए बहुधा यात्रा पर रहते हैं। और सम्पादकीय लिखते हैं उनके सहकारी रतन बाबू। रतन बाबू युवक हैं। रक्त में उष्णता है इसलिए चाणक्य नीति में विश्वास नहीं कर पाते। इस बात को लेकर अक्सर 'भारती' के मालिक सेठ चुन्नीलाल कुछ व्यग्र हो उठते हैं। आज का अंक सवेरे छह बजे निकला था और उसी क्षण से सेठजी फोन अटैण्ड करते-करते परेशान हो उठे हैं। यों उत्तेजित वह कभी नहीं होते। बड़े शान्त भाव से उन्होंने उस दिन की टिप्पणी को पढ़ा···

···दूसरे महायुद्ध का कारण कहते हैं हिटलर और मुसोलिनी की साम्राज्य लिप्सा थी। शक्ति के वे महान उपासक फासिस्ट थे। जापान भी उनका साथी था। उसने हमारे देश पर बम गिराए थे। लेकिन क्या आप जानते हैं कि ये बम कहाँ से आए थे ? बात बहुत पुरानी नहीं है। जापान ने हमसे एक व्यापार-सन्धि की थी, इसके अनुसार हम जापान को कच्चा लोहा और ऐसी ही दूसरी चीजें देते थे। यही कच्चा लोहा हमारी मृत्यु का सन्देश लेकर लाया। सेठ कल्याणमल इस देश के प्रमुख व्यवसायी हैं। सुना है उन्होंने उस समय जब कि सारा भारत अंग्रेजों को निकालने के लिए आतुर हो उठा था, विदेशियों से मिलकर एक कम्पनी स्थापित करने की योजना बनाई थी। उस कम्पनी का उद्देश्य था—हवाई जहाज और युद्ध सामग्री तैयार करना। हम मानते हैं कि इन बातों का अब कोई अर्थ नहीं है। लेकिन इन के पीछे जो मनोवृति है, इस देश के व्यवसायी उससे आज भी मुक्त नहीं हैं। यह मनोवृति हमारी स्वतन्त्रता के लिए और भी खतरनाक हो सकती है। राजनैतिक स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं होती। वह होती है आर्थिक स्वतन्त्रता। और होती है मानसिक दासता से मुक्ति, स्वार्थ से मुक्ति।

क्या वे लोग स्वार्थ से मुक्त हो चुके हैं···।'

सहसा फोन की घण्टी बज उठी। पाया दूसरी ओर सेठ कल्याणमल क्रोध से काँप रहे हैं। उतने ही सयत मन से सेठ चुन्नीलाल ने उत्तर दिया, 'मुझे दुख है कि मेरे परचे मे आपके विरुद्ध लिखा गया। विश्वास रखिए, मैं सम्पादक को आज ही छुट्टी दे दूँगा। अब आप ही बताइए मैं क्या-क्या देखूँ। आजकल के ये छोकरे, क्या कहूँ। आप तो जानते ही हैं, क्रान्ति ने इन का दिमाग खराब कर दिया है।-न जाने किसने इनसे कह दिया कि क्रान्ति का अर्थ आग होता है। खैर आप निश्चिन्त रहिए।···क्या कहते हैं प्रतिवाद। क्या आप नहीं जानते कि उत्तेजित होना अपराध को स्वीकार करना है। प्रतिवाद से प्रतिरोध बढ़ता है। उपेक्षा सबसे बड़ी निन्दा है।···हाँ, हाँ. कल वह उस पद पर नहीं रहेगा। अच्छा, जयहिन्द।···हाँ सुनिए। कल शाम को आप खाना खाने के लिए मेरे गरीब खाने पर पधारेंगे।···धन्यवाद। जयहिन्द।

फोन रख कर सेठ जी मुस्कराए। फिर शान्त भाव से आगे पढ़ने लगे।

···सेठजी के छोटे भाई इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के चेयरमैन हैं। धारा सभा के सदस्य भी रह चुके हैं। बिना किसी भेद भाव के सभी राजनैतिक पार्टियों को पैसा देते हैं। सुना है कि उन्होंने भी कुछ ऐसे पड़ोसी देशों से साँठ-गाँठ की है जो भारत विरोधी नीति के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने पद का अनुचित लाभ उठाकर बहुत-सी जमीन सस्ते दामों पर अपने सम्बन्धियों को बेच दी है। उनमें प्रसिद्ध नेता श्री रामकिशोर भी हैं। स्थानीय कमेटी के चेयरमैन मियाँ अफजलबेग उनके अन्तरंग मित्र हैं। वह मिस्टर जिन्ना के सामने पक्के लीगी और मौलाना के सामने पक्के राष्ट्रवादी थे, लेकिन वे हैं क्या, यह कोई नहीं जानता। उनकी अय्याशी के बारे में असंख्य कहानियाँ प्रचलित हैं। बड़े बड़े घरानों की प्रतिष्ठा उनकी मुट्ठी में है। हमारा उद्देश्य नाबदान की कीचड़ कुरेदना नहीं है। लेकिन हम चेतावनी देते हैं कि ऐसे व्यक्ति किसी स्वतन्त्र देश में···।

तभी अचानक नौकर ने प्रवेश किया। उसके हाथ में मियाँ अफ़जलबेग का विजिटिंग कार्ड था। सेठजी ने तुरन्त कहा, 'उनको आने दो।'

एक क्षण बाद बड़ी शान से बेंत हिलाते हुए शेरवानी और चूड़ीदार पजामे में लकदक, पिचके मुँह वाले मियाँ अफजलबेग ने वहाँ प्रवेश किया। एकदम खड़े हो गए, 'आइए मियाँ साहब, आदाबर्ज, बल्लाह इधर आइए। कहिए मिजाज तो ठीक हैं न।'

'आपकी इनायत है। लेकिन आपने आज का पर्चा तो देखा ही होगा।'

'यह तो है । समझा । आप इसलिए तशरीफ लाए हैं । भला आपने क्यों तकलीफ की । आपकी इज्जत मेरी इज्जत है । एडीटर की बर्खास्तगी का हुक्म निकाल चुका हूँ ।'

सेठजी गर्व से हँसे और मियाँ साहब एकदम सकते में आ गए । भरे हुए आए थे लेकिन सेठजी ने एक वाक्य में रीता कर दिया । बोले, 'मैं जानता था सेठ साहब । पिछली बार भी आपने यही किया था । लेकिन...'

सेठजी एकाएक बोल उठे, 'आपकी बात समझता हूँ । क्या करूँ । अकेला आदमी हूँ किस-किस काम को देखूँ । आजकल के ये नए-नए छोकरे समझ बैठे हैं कि क्रान्ति आग को कहते हैं । साहब, आग सब कुछ जला देती है और क्रान्ति का अर्थ है निर्माण, यानी तामीर । मैं देश के सभी बड़े-बड़े नगरों में सब धर्म वालों की मिली-जुली इबादतगाह बनाने की स्कीम बना रहा हूँ । क्रान्ति यह है ।'

मियाँ साहब बरबस बोले, 'जी हाँ, जी हाँ । आप बजा फरमाते है ।'

'चाय पीजिएगा न ।'

'शुक्रिया । पीकर आया था ।'

'खैर ! लेकिन कल शाम गरीबखाने पर ही खाने की तकलीफ गवारा फरमाएँ ।'

'आपकी इनायत है सेठ साहब । वहाँ भी आपका ही है । खैर हाजिर हो जाऊँगा ! अब इजाजत दीजिए । लेकिन...'

'जी हाँ फरमाइए ।'

'मैं कहता था कि कल के पर्चे में इसकी तरदीद हो जाती तो...'

सेठजी हँसे, 'मियाँ साहब ! आप दूर की नहीं सोचते । तरदीद करना अपने सिर पर एक बलाए नागहानी मोल लेना है । आग पर पानी डाला जाता है ईंधन नहीं । समझे न ।'

मियाँ साहब 'हैं हैं हैं' करके हँसे और आदाब बजा कर रुखसत हुए । सेठजी ने फोन उठाया । कहा, 'रतन बाबू से मैं अभी मिलना चाहता हूँ ।'

रिसीवर रख दिया और डाक उठा ली । सहसा वह गम्भीर हो उठे । प्रत्येक चिट्ठी को पढ़ते । पढ़कर सोचते, फिर नोट लिखकर एक ओर रख देते । इसी प्रकार आधा घण्टा बीत गया । चपरासी ने आकर सूचना दी, 'रतन बाबू आए हैं ।'

'आने दो ।'

रतन बाबू युवक हैं । आँखों में विश्वास है और मुख पर दृढ़ता । मुस्करा कर एक ओर खड़े हो गए । सेठजी तुरन्त बोले, 'बैठो भाई खड़े क्यों हो ।

यहाँ वैठो मेरे पास।'

रतन वावू वैठ गए। सेठजी ने मुस्करा कर पूछा, 'काम ठीक चल रहा है न।'

'जी हाँ।'

'स्वास्थ्य कैसा है। अब तो अधिक काम नहीं करना पड़ता।'

रतन वावू सहज भाव से वोले, 'दैनिक पत्र में काम क्या कम, क्या अधिक।'

सेठजी की मुस्कराहट गहरी हो आई, 'दैनिक जो ठहरा। लेकिन इसीलिए उसका उत्तरदायित्व वहुत वड़ा है।'

'जी हाँ, दैनिक पत्र देश के प्राण हैं। जनता उन्हीं के द्वारा देखती सुनती है।'

'और विचारती भी है।'

'जी हाँ।'

'इसीलिए काम वहुत नाजुक है। तलवार की धार पर चलना है।'

रतन वावू सव कुछ समझते थे। वोले, 'हमारे हाथ में इतनी शक्ति है। हम इसका उपयोग जनता की भलाई के लिए करें तो कोई भय नहीं।'

'वेशक हम जनता के सेवक हैं।'

'जी हाँ। आपका यह मन्त्र मैं सदा याद रखता हूँ।'

सेठजी मुस्कराए, 'आपको पाकर मैं वहुत खुश हूँ। पत्र की विक्री वरावर वढ़ रही है।'

कहते-कहते सेठ जी ने पेपरवेट उठाया। दो-तीन वार हाथ में उछाला। फिर रतन वावू की ओर कनखियों देखा। कहा, 'आज सवेरे-सवेरे सेठ कल्याणमल और मियाँ अफजलवेग 'भारती' की चर्चा कर रहे थे।'

'जी।'

'वड़े तेज थे। कहते थे आपने हमारा अपमान किया है। कचहरी में जाएँगे। सचमुच वह वहुत दुखी थे। मानता हूँ आपने जो कुछ लिखा है जनसेवा की भावना से लिखा है। फिर भी रतन वावू भाषा काफी कड़वी है।'

रतन वावू ने दृढ़ता से कहा, 'सत्य की भाषा सदा कड़वी होती है।'

'इसीलिए तो हमारे शास्त्रकारों ने कहा है—अप्रियम् सत्यम् न वद।'

'जानता हूँ। लेकिन शास्त्रों की वात सदा के लिए नहीं होती। और एक ही दवा सव रोगों में लाभ नहीं करती। सत्य तभी तक सत्य है जव तक वह नग्न है। शेष सव छलना है।'

रतन बाबू की ओर से

मान्यवर,

मैंने आपकी बात पर रात भर विचार किया। लेकिन खेद है कि वर्तमान परिस्थितियों में मैं आपका प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकता।

विनीत,
रतनलाल

सेठजी की ओर से

प्रिय रतन,

खेद है कि आपने पुस्तक में बताया रास्ता स्वीकार किया। मैंने आपको पाया और खो दिया। यह मेरा दुर्भाग्य है। पर मैं अब भी आपका आदर करता हूँ; आपसे प्रेम करता हूँ। कहते हैं कि प्रेय फिर-फिर कर मिलता है। यही सत्य मेरी आशा है। कृपा कर आज सन्ध्या को मेरे घर जूठन गिराने आइए।

शुभेच्छु,
चुन्नीलाल

रतन बाबू की ओर से

सेठ जी,

कल आपने कहा था नग्न सत्य प्रिय नहीं है। मुझे डर है कि पहला पत्र लिखते समय मैं आपकी मोहिनी का शिकार हो गया था। पर सत्य वही है जो नग्न है।

आपने मेरी टिप्पणियों को पसन्द नहीं किया क्योंकि उनमें मैंने तथा-कथित देशभक्तों के आवरण को उतारने का प्रयत्न किया था। उस आवरण के नीचे निरी सड़ांध भरी हुई थी। उसकी दुर्गन्ध से देश परेशान है। आप जनता के सेवक हैं। मैंने आपके शब्दों का अर्थ कोश के अर्थों के अनुसार लगाया है। मैं नहीं जानता था कि व्यापारिक भाषा का अर्थ कोश में नहीं होता। अब जान पाया हूँ लेकिन दुख यह है कि मैं व्यापारी नहीं हूँ। आप

अर्थ के बल पर देश के जीवन के सभी साधनों पर कब्ज़ा करना चाहते हैं। बचपन में दादी की कहानी आपने भी सुनी होगी। उसके राजकुमार के प्राण मछली के पेट में छिपी अंगूठी में रहते थे। उसी प्रकार जिस प्रकार आज जनता के प्राण आपके हाथों में फँसे समाचार पत्रों में हैं। लेकिन सेठ जी, कहानी के अन्त में जिस प्रकार राजकुमार की जीत हुआ करती है उसी प्रकार एक दिन जनता की जीत होगी।

राजकुमार अर्थात् जनता अपने प्राणों अर्थात् समाचारपत्रों का स्वयं स्वामी बने, मैं निरन्तर यही प्रयत्न करता रहूँगा। इसलिए आपके लहू से सने ग्रासों को गले के नीचे न उतार सकूं तो आपको अचरज नहीं होना चाहिए।

आपका,
रतनलाल

पत्र पढ़कर सेठजी के उर्वर मस्तिष्क में सहसा एक लोकोक्ति उभर आई। बोल उठे, 'गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता समझता है कि गाड़ी का बोझ वही उठा रहा है।'

और फिर वह बड़े ज़ोर से हँसे। बहुत देर तक हँसते रहे।

1961

O

26—

एक मात्र रास्ता

प्रवोध ने वैठक में आकर पाया कि जो सज्जन आए हैं वह उसके पूर्व परिचित वड़े वावू हैं। अवसर प्राप्त हैं। जव तक वे रहे क्लर्क सदा उनसे विद्रोह करते रहे। लेकिन अव वे उन्हीं के अधिकारों के लिए लड़ने को सदा प्रस्तुत रहते हैं। नया अधिकारी उनकी दृष्टि में अत्याचारी है। दो वर्ष पूर्व ही अवकाश ग्रहण किया है। गौर वर्ण, वाल यौवन के ढलते-ढलते श्वेत हो गए थे, उसी तरह श्वेत हैं। शरीर इकहरा है, नाक सीधी, आँखों में चिरन्तन मुस्कान। वह प्रेम की प्रतीक हैं या घृणा की इस पर अक्सर लोगों में मत-भेद रहता है प्रवोध ने हँसकर कहा, 'आज आपने कैसे कृपा की ?'

वे मुस्कराए, 'छुट्टी थी सो मिलने चला आया।'

'जी हाँ। छुट्टी है। लेकिन मुझे तो दफ्तर जाना होगा।'

'क्या वाहियात वात है। तुम लोग विद्रोह क्यों नहीं करते। जमाना कितना वदल गया है। मैंने तीस वर्ष हैड क्लर्की की है। काम होने पर स्वयं दफ्तर जाता रहा लेकिन आज्ञा देकर किसी और को नही वुलाया। अव यह तुम लोगों का स्नेह था कि स्वयं ही आ जाते थे।

प्रवोध मन-ही-मन मुस्कराया। सोचा—जो जीवन भर क्लर्कों से लड़ता रहा वह क्या सचमुच उन वातों को भूल गया है या जानवूझ कर अपने को छिपाना चाहता है। लेकिन जाने दो। ये कड़वी वातें हैं। वोलना सदा मीठा ही चाहिए। सो मुस्करा कर कहा, 'आपकी वात और थी जी। आप दूसरों के दुख-दर्द को समझते थे।'

वावूजी गद्‌गद् हो उठे। पूरे एक क्षण दोनों मौन वैठे रहे। मानों किसी तूफान की प्रतीक्षा हो। कि एकाएक वावूजी ने कहना शुरु किया, 'मैंने तुम्हारे वहुत-से भाषण सुने हैं। कैसी प्यारी और मीठी भाषा है तुम्हारी।

विचार भी कितने पवित्र हैं। क्यों बेटा, तुम्हारी उम्र क्या होगी ?'

—जी, यही चौबीसवाँ चल रहा है।

—विवाह नहीं किया क्या ?

—जी अभी तो···

—न, न बेटा। तुम्हें अब विवाह कर लेना चाहिए। मैं इसीलिए आया हूँ।···

कहकर उन्होंने प्रबोध की ओर देखा। उसके मुख पर की मुस्कराहट कुछ और गहरा आई। उसने धीरे-धीरे कहना शुरू किया, 'जी, बात यह है···'

एकाएक बात काट कर बाबूजी बोल उठे, 'जानता हूँ। तुम जैसी लड़की चाहते हो वह ठीक वैसी ही है। सुशिक्षित, स्वस्थ, सदाचारिणी और गृह-कार्य में दक्ष। दो वर्ष पूर्व बेचारी की माँ मर गई थी। तब से घर का भार उसी पर है। पिता ने फिर विवाह कर लिया है इसलिए भाई-बहनों को भी वही देखती है, मानो वही उनकी माँ है।···

उन्होंने सहसा रुक कर एक बार प्रबोध की ओर देखा। फिर बोले, 'सुन्दर है, रंग तनिक सांवला है परन्तु लगती है जैसे लक्ष्मी हो। और बेटा नारी का सौन्दर्य तो लज्जा है।'

प्रबोध ने सब कुछ सुना। फिर सदा की तरह अभ्यस्त स्वर में कहा, 'बात यह है जो···'

—कहो।

—मैं अभी विवाह करना नहीं चाहता।

मृदु मधुर कण्ठ में वह बोले, 'मैं जानता हूँ। तुम पर भार है। तुम अपने भाई को पढ़ाना चाहते हो। परमात्मा तुम्हारी मनोकामना पूरी करे। परन्तु बेटा, यह भी देखना है कि आयु बीती जा रही है।'

प्रबोध ने प्रतिवाद किया, 'जी अभी आयु क्या है ? आजकल तो···'

बाबूजी की आँखों की मुस्कान जैसे एकाएक झुँझलाहट में परिवर्तित हो गई हो। वह कुछ कहते कि प्रबोध का छोटा भाई दो गिलासों में शिकंजवी ले आया।

बाबूजी जैसे इस कार्यक्रम के अभ्यस्त थे। गिलास हाथ में लेकर बोले, 'तुम आजकल की बात कहते हो। आजकल तो न जाने क्या हो गया है। लोग शिकंजवीन पीते हैं पर नजला नहीं होता। मेरा लड़का बरसात में दही पीता है और उसमें आम का रस मिला कर खाता है। हमारे बच्चों में जिस दिन घर में आम आते थे उस दिन दही जमता तक नहीं था।'

प्रबोध ने मुस्करा कर कहा, 'जहाँ आज हिमालय है किसी दिन वहाँ समुद्र था।'

वह बोले, 'उसकी माया है बेटा। जो वे चाहते हैं वही होता है। वे चाहेंगे तभी तुम्हारा विवाह होगा। स्वामी दयानन्द लिख गए हैं—प्रारम्भ से पुरुषार्थ बड़ा होता है। पुरुषार्थ करना मनुष्य का काम है, फल देना भगवान के हाथ में है। लड़की सुयोग्या है। सोचता था तुमसे अधिक योग्य लड़का और कहाँ मिलेगा।'

प्रशंसा से प्रबोध सदा पिघल जाता है इसीलिए नम्रता से कहा, 'जी मैं कृतज्ञ हूँ, पर मैं अभी विवाह नहीं करूँगा। यह निश्चित है।'

उनका मुँह सहसा पीत वर्ण हो आया। उठते हुए लड़खड़ाए फिर कहा, 'बड़ी आशा लेकर आया था। पर तुम्हारा विश्वास नहीं तोड़ना चाहता। लड़की का विवाह होना है, हो जाएगा।...'

उनकी वाणी में क्रोध था, करुणा थी। परन्तु दोनों का स्रोत एक ही था। इसीलिए उस असफलता के आवेश में वे तुरन्त चले गए।

फिर एक माह बीत गया। उस दिन वह बहुत देर से दफ्तर से लौटा था। खाने पीने का प्रबन्ध करने का उत्साह तनिक भी नहीं था। सोचा आज होटल में ही खा लेना ठीक रहेगा। उठा कि तभी किसी ने पुकारा। वे ही थे। अन्दर आकर बोले, 'देखता हूँ बहुत देर से आते हो। अत्याचार की एक सीमा होती है। हमारे जीवन का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य ही नहीं। तुम साहसी हो जो उस नरक में रहकर भी देश की सेवा करते हो।'

प्रबोध मुस्कराया, 'जी देश सेवा क्या, मन बहलाता हूँ।'

वे बोले, 'जिनका मन देश की सेवा में बहलता है वे महान हैं। नहीं तो अनेकों युवक हैं जो सारा जीवन शतरंज और ताश में बिता देते हैं। वे जीवन को सिगरेट के एक कश से अधिक महत्त्व नहीं देते। काम मैंने भी बहुत किया है लेकिन मैंने समय को सदा पहचाना है। वे क्षण कभी भी व्यर्थ नहीं खोए जिनमें जीवन का सुख सुरक्षित किया जाता है।'

प्रबोध बोला नहीं। सोचता रहा। व्यक्ति इतना छल क्यों करता है, क्यों आखिर? कि वे बोल उठे, 'बेटा तुमने उस बारे में सोचा। वही मेरे मित्र की सुन्दर लड़की...'

—ओह वह बात। जी मैंने आपसे कहा था न। मैं विवश हूँ। अभी विवाह नहीं कर सकता।

आज वे रंचमात्र भी नहीं झिझके। बोले, 'जानता हूँ और कहूँगा मुझे तुम पर गर्व है। मैं तुम्हारे पास कभी न आता यदि...'

वह क्षण भर रुके। दृष्टि उठा कर प्रबोध को देखा। प्रबोध एकाएक बोला, 'शिकंजबीन पीएँगे आप ?'

अनसुना करके वह बोले, 'एक विशेष प्रस्ताव लेकर आज मैं तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हारे जैसे साहसी और दृढ़ निश्चयी युवक ही उस प्रस्ताव को स्वीकार कर सकते हैं।'

'विवाह के अतिरिक्त…'

'सुनो तो। वह लड़की सुन्दर और सुशिक्षित होने के अतिरिक्त लेखिका भी है।'

'जी तब तो बहुत अच्छी बात है।'

'लेकिन उसकी माँ…'

'उसकी माँ ?…'

'उसकी माँ, उन्होंने बहुत धीरे से कहा, मानो अपने से बोलते हों, 'उस की माँ विवाहिता नहीं थी।'

प्रबोध आपाद मस्तक सिहर उठा। संभलने में कई क्षण लग गए। फिर बोला, 'उससे क्या होता है। विवाह लड़की से करना है माँ से नहीं। कमल कीचड़ से पैदा होता है। इसी कारण क्या कोई उसे हेय समझता है।'

उनकी दृष्टि सारे समय प्रबोध पर स्थित थी। यह सुनकर उनकी आँखों में एक कलुष रेखा उठी और फिर मिट गई। वह मुस्कराने लगे। बोले, 'निःसन्देह बेटा, तुमने मर्म की बात कही है। दूसरे लोग इतने उदार कहाँ। वे कुल को देखते हैं और देखते हैं कुलीनता। उसके पास कुछ भी नहीं है। इसीलिए मैं कहता हूँ…'

प्रबोध को सहसा जवाब न सूझा। वे और भी आशान्वित हो उठे। बोले, 'तो तुम उसे स्वीकार करोगे। वह अनाथ है परन्तु तुम्हारे ही शब्दों में रत्न सदा अनाथ होता है।'

प्रबोध के मन को जैसे झंझा ने झकझोर दिया। झुण्ड के झुण्ड असंख्य विचार उसके मन में घुस आए। उसने एकाएक सोचा,—तो क्या मैं…

और तब उसके सामने एक सुन्दर कन्या का चित्र उभर आया। उसके मुख पर दिव्य आभा थी। आँखों में करुणा का प्रकाश था। दृष्टि झुकाए जैसे नाखून से धरती को कुरेद रही हो। वह काँप उठा। इतनी करुणा, इतनी निरीहता, छीः छीः नारी इतन अवश क्यों, दया की पात्री क्यों ? नहीं, नहीं. वह दया नहीं करेगा।…

फिर सहसा उसकी दृष्टि बाबूजी से टकरा गई। वह मुस्करा रहे थे। उसे अच्छा नहीं लगा। दृढ़ होकर उसने कहा, 'मैं सोचना चाहूँगा। विवाह

के बारे में मेरी निश्चित धारणाएँ हैं। आवेश में आकर उनकी अवहेलना नहीं करूँगा।'

वे जैसे आकाश से गिरे हों। विवश से बोले, 'करनी भी नहीं चाहिए। परन्तु मैं कहता था। यह तो···'

प्रबोध ने तुरन्त उत्तर दिया, 'क्षमा कीजिए। मैं किसी पर दया नहीं करना चाहता। कम से कम विवाह में दया की तनिक भी गुंजाइश नहीं है।'

जैसे वज्र गिरा हो। वह स्तब्ध रह गए। मुख विवर्ण हो आया। कई क्षण अपलक प्रबोध को देखते रहे। फिर बोले, 'मुझे तुमसे बड़ी आशाएँ थीं। तुम क्रान्ति की बातें करते हो। परन्तु नहीं जानता था कि तुम भी औरों की तरह ही हो।'

उनकी वाणी में तलखवाहट उमड़ आई थी। वह लड़खड़ाते हुए उठे, दो क्षण किवाड़ थामे खड़े रहे। फिर एक झटके के साथ बाहर निकले चले गए। प्रबोध ने उन्हें जाते हुए देखा और तीव्र स्वर में बोल उठा, 'दया. ऊँहूँ। जो दया के पात्र हैं उन्हें मर जाना चाहिए।'

लेकिन उस रात स्वप्न में प्रबोध ने बाबूजी को देखा। वे उस लड़की को लेकर आए हैं। कह रहे हैं—तुम्हें इससे विवाह करना ही होगा। देखो तो यह कितनी सुन्दर है।···

'नहीं, नहीं। वह विवाह नहीं करेगा।' लेकिन जैसे किसी ने धीरे से कहा हो, 'लड़की सचमुच सुन्दर है।'···ओह, उसने गर्दन को झटका दिया। उसका दिल तूफान की गति से धक्-धक् कर रहा था। कुछ सोच नहीं पा रहा था कि सहसा उसकी आँखें खुल गईं। देखता है कि दिन निकल आया है और बाहर बाबूजी पुकार रहे हैं। क्रुद्ध कम्पित स्वर में वह चीख उठा—कमबख्त, मेरे पीछे ऐसे पड़ा है जैसे मैंने कोई पाप किया हो।

लेकिन जब वे अन्दर आए तो उसने पाया कि वे एक ही रात में वृद्ध हो उठे हैं। मुख की श्यामता गहरा आई है और आँखों में वेदना छलकी पड़ती है। अत्यन्त विनम्र स्वर में उन्होंने कहा, 'फिर आने के लिए क्षमा चाहता हूँ। क्या करूँ। कल मेरा लड़का बिना कुछ कहे कहीं चला गया है। मैं तुम से कुछ निजी बातें कहने आया हूँ।···

इस क्षण में प्रबोध ने बहुत कुछ पाया। और समझा। लेकिन वह सहसा कोई उत्तर नहीं दे सका। तब तक वह कुर्सी पर बैठ गए थे। दीर्घ निःश्वास लेकर बोले, 'चाह कर भी कल मैं तुमसे साफ-साफ बातें नहीं कर सका। तुम मेरे बेटे के समान हो। तुम्हारे पास सहानुभूति है . शायद मुझे समझ सकोगे।···

है आज तक के नेत्रों की तरलता छुए रही हुई, और लड़खड़ाए।
प्रबोध का सब कुछ न जाने कैसे हो गया। उसके अन्तर में एक धुकधुकी
उभर आई थी, इसलिए वह अभी नहीं बोला। उन्होंने ही कहा, 'कल जिस
लड़की के लिए मैं आया था, वह मेरी ही बेटी है।'

जैसे भूकम्प आया हो। प्रबोध चौंक उठा, 'आपकी बेटी है।...'

'हाँ, वह मेरी बेटी है। पहली पत्नी का देहान्त हो जाने पर, मेरे मित्र
दूसरी शादी के लिए बहुत आग्रही हो उठे। उनकी आयु काफी थी। तीन
बच्चे थे। आसानी से कोई भी उन्हें लड़की देने को तैयार नहीं था। तब
बीच में पड़कर मैंने ही उनका विवाह चन्द्रा की माँ से करवा दिया था।
वह विधवा थी।...

प्रबोध एकाएक बोल उठा, 'आपने तो कहा था कि वह अविवाहित थी।'

'मैंने झूठ कहा था। मैं तुम्हारे अन्तर में सहानुभूति जगाना चाहता
था। लेकिन पहले मैं अपनी बात कह दूँ। चन्द्रा की माँ इस विवाह से पूर्व
मेरी प्रेमिका रही है। वह मेरे गाँव की ही थी। परन्तु जाति एक न होने के
कारण हमारा विवाह नहीं हो सका था और जिस पति के साथ उसका
विवाह हुआ उसको वह कभी प्रेम नहीं कर सकी। हम दोनों मिलते रहे।
यौवन का तूफान था और विवेक यौवन का दुश्मन होता है। परिणाम यह
हुआ कि चन्द्रा ने जन्म लिया। विवाहिता थी इसलिए इस बात को हमारे
अतिरिक्त और कोई नहीं जान सका। फिर चन्द्रा के जन्म से पूर्व ही वह
सचमुच विधवा हो गई। पति कुल में कोई नहीं था इसलिए उसे फिर पिता
के घर आकर रहना पड़ा। लेकिन अब वह बदल चुकी थी। उसे मुझसे
नफरत तो नहीं हुई थी लेकिन वह फिर कभी मेरे पास आई भी नहीं।
उसने मुझ से स्पष्ट कहा था, 'मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। चन्द्रा उसी प्रेम की
प्रतीक है। बस अब और कुछ नहीं चाहती।'

मेरा भी विवाह हो चुका था। फिर नौकरी पर मुझे दूर चले जाना पड़ा।
सो हम एक दूसरे को भूलने लगे। उसने त्याग करके चन्द्रा का पालन-
पोषण किया। लेकिन एक बार भी वह मेरे द्वार पर हाथ फैलाने नहीं आई।
और यों ही साल पर साल बीत गए। अचानक जब मेरे उन मित्र को दूसरी पत्नी
की आवश्यकता हुई तब मुझे उसकी याद आई। उन दोनों का यह नया
परिणय सुखद ही हुआ। उसके चार बच्चे और हुए। और जब उसकी मृत्यु
हुई तो चन्द्रा पन्द्रह वर्ष की हो चुकी थी। मरने से पूर्व उसने मुझसे एक ही
बात कही थी, 'चन्द्रा का विवाह कहाँ होना चाहिए, इसकी चिन्ता तुम्हें करनी
होगी।...'

वे सहसा रुके। कण्ठ अवरुद्ध हो आया। जैसे अपने से कहते हों, 'जीवन में एक ही याचना मुझसे उसने की थी।...'

प्रबोध जड़वत् सब कुछ सुनता रहा। अन्दर में क्रोध, करुणा और घृणा सभी उमड़े। कहने को बहुत कुछ उठा। पर वह मौन ही बैठा रहा। अब भी वे ही बोले, 'लेकिन मेरी कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। यही बात होती तो मुझे यह रहस्य खोलने की कोई आवश्यकता नहीं थी।'

प्रबोध सहसा सिहर उठा, 'अभी और कुछ भी शेष है ?'

वे बोले, 'हाँ मेरा बड़ा लड़का चन्द्रा से विवाह करना चाहता है।'

कहकर वह सिहर उठे। प्रबोध यन्त्रवत् अस्फुट स्वर में इतना ही बोला, 'आपका लड़का।...आपने उसको ये बातें बता दी हैं ?'

'नहीं। इतना साहस मुझमें नहीं है।'

'तब।'

'तब यही, कि तुम उससे विवाह कर लो।'

प्रबोध संज्ञाहीन हठात् शून्य में ताकता रहा। कई क्षण इसी तरह बीत गए। फिर सहसा दृढ़ता से बोला, 'नहीं। मैं उससे विवाह नहीं करूँगा।'

उन्होंने उसको देखा। काँपने लगे। उसने बाँहें पकड़कर मानो समझाते हुए कहा, 'उससे विवाह कर सकता तो मुझे बड़ी खुशी होती लेकिन... लेकिन...वह आपके लड़के से प्रेम करती है। वह नहीं जानती कि उसके पिता आप हैं। तब क्या यह अच्छा नहीं होगा कि वह उस बात को कभी न जाने।'

सुनकर वे फिर तुरइन के पत्ते की तरह काँपे। नेत्र विस्फारित कर मूर्तिवत् प्रबोध की ओर देखने लगे। उसी समय किसी ने नीचे से पुकारा, 'बाबूजी।'

वे जैसे पागल हो उठे हों। उन्होंने कहा, 'कौन रमेश ? क्या है बेटा ?'

रमेश तब तक वहाँ आ गया था। एकदम बोला, 'बाबूजी, भैया का पता लग गया। वह दिल्ली में है। तार आया है।'

उन्होंने झपट कर तार ले लिया। पढ़ने के बाद वह उनके शिथिल हाथों से छूट कर धरती पर गिर पड़ा और साथ ही गिर पड़े बाबूजी। प्रबोध इतना ही सुन सका। उन्होंने अस्फुट स्वर में कहा, 'मैं मरना चाहता हूँ। मरना चाहता हूँ।'

रमेश घबरा कर उन पर झुकता हुआ बोला, 'समझ में नहीं आता कि

पिताजी इस विवाह का विरोध क्यों करते हैं ? आजकल जाँत पाँत को कौन पूछता है ?'

उस ओर ध्यान दिए बिना प्रबोध ने तार पढ़ा—सुरेश यहाँ आया है और उसने चन्द्रा से विवाह के लिए रजिस्ट्रेशन आफिस में प्रार्थनापत्र भेज दिया है। आशीर्वाद भेजिए।

1946

चितकबरी बिल्ली

सोते-सोते सहसा उसकी आँख खुल गई। अन्धकार में देख सका कि दो आँखें चमक रही हैं और 'म्याऊँ-म्याऊँ' का शब्द उस भयानक मौन को कंपा रहा है। उसे लगा जैसे उसके चारों ओर नाना रूपों में वही स्वर उठ रहा है। जैसे वह उसे अपने में समेट लेगा। और फिर वह स्वर और उसका अस्तित्व एक होकर रह जायेंगे…।

उसने व्यग्र होकर चादर फेंक दी और कमरे में जाकर बत्ती जला दी। क्या देखता है कि वह चितकबरी बिल्ली अपने तीन काले-सफेद बच्चों के साथ खिलन्दरी कर रही है। प्रकाश होते ही बच्चे इधर-उधर छिपने के लिए भागे और बिल्ली छलाँग लगा कर कोठे पर चढ़ गई और जोर-जोर से म्याऊ-म्याऊँ करने लगी। वह एकाएक क्रोध से काँप उठा। उसने एक लाठी उठाई और अलमारी के पीछे, तख्त के नीचे, डेस्क के आसपास उन बच्चों को तलाश करने लगा। उसने निश्चय किया कि आज वह इनको मार डालेगा।

वह इन बिल्लियों से बेहद परेशान था। वे उसकी चारपाई पर कूदती थी। उसकी सफेद चादर को खराब कर देती थीं। फर्श पर बिछी हुई जाजम को धोते धोते उसकी पत्नी परेशान हो गई थी। अवसर पाते ही वे, दूध, दही और खाने की दूसरी चीजी में भी मुँह डाल देती थी। उसकी पत्नी बारबार चीख कर कहती, 'इन बिल्लियों ने नाक में दम कर रखा है इस घर में इतनी बिल्लयाँ क्यों हैं?'

कभी-कभी वह मजाक करता। कह देता, 'घर में बिल्लियाँ ही तो रहती हैं। बिल्ली नारी का प्रतीक है।'

उसकी पत्नी क्रुद्ध होती, तुम्हें शर्म नहीं आती यह कहते। बिल्ली हरजाई

नारी का प्रतीक है। वह कभी किसी से प्रेम नहीं कर सकती। वह कभी किसी की नहीं हो सकती।'

वह और भी हँसता, 'और नारी भी तो किसी की नहीं होती। केवल शक्ति की होती है। दूसरी ओर कुत्ते को देखो, एक बार जिसका हो जाता है उसके लिए प्राण दे देता है।'

पत्नी और भी चिढ़ती, 'तुम सदा इसी तरह की बातें करते हो। किसी छिछली नारी से तुम्हारा वास्ता नहीं पड़ा है। और कुत्ता भी कोई जीव है। दुम हिला-हिलाकर मालिक के पैर चाटने वाला।'

खैर। यह तो मजाक की बात थी। लेकिन यह सच था कि वह बिल्ली से बहुत चिढ़ता था, उसकी पत्नी भी चिढ़ती थी। इसीलिए इन बच्चों को देखकर उसका क्रोध भभक उठा और उसने लाठी खड़खड़ा कर अपनी पत्नी को जगा दिया। वह घबरा कर उठ बैठी, 'कौन है ? क्या हुआ ?'

वह क्रोध से भुनभुना रहा था पर पत्नी को परेशान देखकर हँस पड़ा, बोला, 'बिल्ली के बच्चे हैं।'

'बिल्ली के बच्चे ? क्या सपना देख रहे थे ?'

'जी नहीं, जनाब के तख्त के नीचे की मोरी में तीनों विराजमान हैं।'

तब तक पत्नी जाग आई थी। उसने झुक कर टॉर्च की सहायता से उन बच्चों को देखा, तीनों एक दूसरे में समाये अत्यन्त करुण स्वर में म्याऊँ-म्याऊ कर रहे थे। एक क्षण एकटक उन्हें देखती रही। फिर धीरे से कहा, 'हाय, ये बच्चे कितने प्यारे लगते हैं।

उसने खीज कर कहा, 'बच्चे तो गधे के भी प्यारे होते हैं, साँप के भी प्यारे होते हैं, तुम उन्हें पालोगी ?'

पत्नी बोली, 'हटो भी, मैं यह थोड़े ही कहती हूँ। लेकिन यह भी सच है कि बच्चे प्यारे इसीलिए लगते हैं कि माँ-बाप उन्हें पालें। लेकिन इन बच्चों को तो यहाँ से भगाना होगा। नहीं तो मेरा दम घुट जायगा।'

उसने हँस कर कहा, 'दूसरे के बच्चे किसी को प्यारे नहीं हो सकते। खैर, मैं इनको अभी भगाता हूँ।'

'अब आधी रात के समय कहाँ भगाओगे ? चलो सोओ। सवेरे इनको पकड़ने का प्रयत्न करना।

सवेरे जो उस घर में तूफान उठा वह बस देखते ही बनता। पताजी माता जी और उनके तीनों बच्चे, सब लकड़ियाँ लिये, दरवाजे बन्द किये, बिल्ली के बच्चों को पकड़ने की महिम पर लगे हुए थे। मानों हाथी को

पकड़ने के लिए खेडा पड़ा रहा हो। लेकिन वच्चे भी विल्ली के थे, ऐसी करुण गुहार करते कि एक वार तो पत्थर भी पिघल जाय।···फिर किसी कोने में दुवक जाते। वच्चे लकड़ी से उन्हें मारते तो एक करुण निरीहता उनकी आँखों से वहती हुई उनके चेहरों को ढक देती और पकड़ने वालों के हाथ ठिठक जाते।

लेकिन पकड़ने का निश्चय अटल था। दोपहर होते-होते उन्होंने दो वच्चों को पकड़ लिया। इतने खुश हुए, इतने खुश कि मानो अपार सम्पदा मिली हो। कन्धे पर लाद कर अपनी वस्ती से वहुत दूर वह उनको छोड़ कर आये। और फिर जोर जोर से अपनी वीरता की कहानी प्रसिद्ध करने लगे। पत्नी ने साँस खींच कर कहा, 'कुछ भी हो, यह अच्छा ही हुआ। नहीं तो मैं जाजम धोते-धोते परेशान हो जाती थी। और तीसरे दिन दूध-दही फेंकना पड़ता।'

वह यह कह ही रही थी कि एक वहुत ही निरीह 'म्याऊँ' शब्द उसके कान में पड़ा। तीसरा वच्चा अलमारी के पीछे से मुँह निकाल कर मानो अपने भाई-वहनों को पुकार रहा था। वह विल्कुल काला था। और तीनों में एक दम दुवला भी था। उसने उधर देखते हुए कहा, 'इसको आज रहने दो, कल पकड़ेंगे।'

लेकिन रात होते ही उनका सारा घर एक अजीव-सी मर्म भेदी गुहार से भर उठा। वह विल्ली वार-वार वहाँ आती और पुकार-पुकार कर परेशान हो जाती। वही म्याऊँ-म्याऊँ का स्वर था। लेकिन उसके पुकारने का ढंग इतना करुण था कि हृदय पर चोट करता था। वह कभी उछल कर टाँड पर जाती, कभी तख्त के नीचे घुसती, अलमारी के पीछे पुकारती। वही विकल-व्याकुल करता अनवरत म्याऊँ-म्याऊँ का स्वर घोष···मेरे प्यारे नन्हे मुन्नो, तुम्हारी माँ तुम्हें पुकार रही है, तुम कहाँ हो···

पत्नी ने कहा, 'आह माँ वच्चों को कैसे पुकार रही है।'

वह वोला, 'क्यों तुम्हें दया आ रही है।'

पत्नी ने कहा, 'सच वताना, क्या इसकी यह पुकार तुम्हारे दिल को व्यथित नहीं कर रही ?'

वह एकाएक कोई जवाव न दे सका। वोला, 'आज यह नहीं सोने देगी।'

एकाएक तीसरा वच्चा क्षीण स्वर में पुकारता हुआ वहाँ आ गया। उसने लपक कर उसे अपने मुँह में दवा लिया, उसे चाटा चूमा और फिर छिटक कर पहले की तरह चारों ओर 'म्याऊँ-म्याऊँ' करती दौड़ने लगी। फिर

यकायक वह चली गई। उसने समझा कि अपने एक बच्चे को देखकर वह सन्तुष्ट हो गई है और अब सवेरे से पहले वह नहीं लौटेगी। वह सो गया। पत्नी भी सो गई। लेकिन दो घण्टे भी न बीते होंगे कि फिर म्याऊँ-म्याऊँ की करुण पुकार ने उन्हें आलोड़ित कर दिया। पर वह खीझ न सका। धीरे से कहा, 'यह तो फिर आ गई।'

पत्नी बोली, 'बेचारी, पास पड़ोस में ढूंढ कर आई है।'

उसने दृढ़ स्वर से कहा, 'लेकिन मैं इससे विचलित होने वाला नहीं हूँ। मैं इस तीसरे बच्चे को भी निकाल कर फेंक दूंगा।'

अगले दिन उस तीसरे बच्चे को पकड़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उसे भी बहुत दूर छोड़ दिया गया। और समझ लिया कि अब वह चितकबरी बिल्ली यहाँ नहीं आयेगी। लेकिन उसी रात को वह करुण गुहार सहस्र जिह्व होकर उन्हें परेशान करने लगी। वह इधर-उधर पागल-सी पुकारती दौड़ती रहती। कुछ देर के लिए चली जाती और फिर आकर पुकारती, केवल रात को ही नहीं दिन को भी उसकी यह पुकार घर को कंपाने लगी। पत्नी ने धीरे से कहा, 'अब तो जीना दूभर हो गया, न जाने क्या होगा...।'

उसने कहा, 'ऐसा जान पड़ता है बच्चों को माँ से अलग करने का तुम्हें दुख है?'

पत्नी झिझकी, 'दुख तो है। सभी को होता है। उसके दुख की मैं कल्पना कर सकती हूँ।'

'तो फिर ले आओ न उन बच्चों को ढूंढकर। उन को पालो, दूध पिलाओ, बिस्तर में सुलाओ। फिर कपड़े साफ करो। मुझे क्या?'

पत्नी बोली, 'मैंने यह तो नहीं कहा, मैं तो यही कहती हूँ माँएँ सब एक सी होती हैं। यह तो तुम भी मानोगे।'

उसने कुछ जवाब नहीं दिया। कई दिन तक वह करुण गुहार उन्हें परेशान करती रही। फिर धीरे-धीरे वह कम हो गई। फिर एक दिन बिल्कुल बन्द हो गई। फिर कई महीने बीत गये। बिल्ली बहुत कम दिखाई देती। आती भी तो इधर-उधर सूंघ-सांघ कर चली जाती। पत्नी उसे देखती, उच्छ्वास लेकर कहती, 'बेचारी!'

और वह हँस पड़ता, 'हाँ, बेचारी। शान्ति और प्रेम, हमें दोनों में से किसी एक को तो चुनना ही था।'

यकायक एक दिन वह शान्ति ऊँचे स्वरघोष के साथ टूट गई। वह हड़बड़ाकर उठा। उसने देखा—वह चितकबरी बिल्ली एक दूसरी काली बिल्ली के साथ, जो देखने में कहीं उससे मोटी थी, बड़ी खुंख्वारी के साथ

लड़ रही थीं। वह एक दूसरे पर कूदती-झपटती। छतों को पार कर जाती चीख-चीख कर एक दूसरे को नोचतीं। उसके विस्तर पर कूदती, जैसे एक दूसरे को खा जाएँगी···।

वह घबरा उठा। समझ नहीं सका कि यह सब क्या है, क्या हो सकता है, किसी कारण दोनों में लड़ाई हो गई है। लेकिन अगली रात क्या देखा कि वह काली बिल्ली अकेली छत पर बैठी जोर-जोर से अजीब से स्वर में पुकार रही है, जैसे रो रही हो। वह पुकार इतनी अनवरत है कि वह उसे सह नहीं पाता। उठ कर बैठ जाता है। पत्नी उसे इस तरह बैठा देखकर पूछती है, 'क्या हुआ ?'

वह बोला, 'इस बिल्ली को देखो न, कैसे पुकार रही है। मुझसे सहा नहीं जाता।'

तभी सहसा वह चितकबरी बिल्ली एक ओर से उसी तरह पुकारती हुई आयी और फिर दोनों एक दूसरे से गुत्थमगुत्था हो गईं। वही चीख पुकार, वही एक दूसरे को झिंझोड़ना, कूदना। उसने चीख कर कहा, 'यह सब क्या है ?'

पत्नी बड़े जोर से हँस पड़ी, 'इतना भी नहीं समझ सकते ? पुरुष होने की डींग मारते हो।'

वह बौखला कर कुछ कहता कि वे बिल्लियाँ कूदती हुई उन दोनों के बीच से निकल गईं। दोनों बड़े जोर से काँपे और एक दूसरे पर गिर पड़े।

1966

28—

वे

क्षण भर में क्या से क्या हो गया। अघटित की कल्पना अवसर की जाती है। अकेले सफर करते हुए सम्भावित दुर्घटनाओं की कल्पना मन्दा ने भी की थी। उन कल्पनाओं का गणित नितांत व्यक्तिगत था। लेकिन उस दिन जो घट गया वह व्यक्तिगत होकर भी नहीं था। मन्दा तीन बच्चों की माँ है। विशेष सुन्दर भी वह नहीं है। लेकिन मुक्त है। आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति उसकी प्रत्येक गतिविधि से उजागर रहती है। पत्नी है, उतना प्रेम करना भी जानती है। उसका अर्थ भी जानती है। फिर भी किवाड़ के पीछे खड़े होकर पति की आज्ञा की राह देखना उसे अच्छा नहीं लगता। हरम देहरी लाँघ कर उसे वहाँ आने में हिचक नहीं है जहाँ उसके पति अपने मित्रों के साथ बैठकर कहकहे लगाते हैं। मुक्त मन से वह उसमें भाग लेती है। कहीं कोई बाधा नहीं है, न पति की ओर से, न परिवार की ओर से। फिर भी मन्दा जब-जब बाहर जाती है, उसे लगता है जैसे असंख्य दृष्टियाँ उसे आवृत्त करती आ रही हैं। आवृत्त होना बुरा नहीं है लेकिन उन दृष्टियों में ऐसा कुछ है जो मुक्त नहीं है। जहाँ मुक्ति नहीं है वहीं भय है। मन्दा सोचती है, ये दृष्टियाँ मुक्त होकर मन की बात क्यों नहीं कहतीं, क्यों नहीं निवेदन करतीं ?

वह काँपती है। इस प्रकार सब निवेदन करने लगें तो वह क्या करेगी ? क्या वह उस निवेदन का बोझ सह सकेगी ? नहीं-नहीं, यह सब वह नहीं सोचेगी। सोचना ही नहीं चाहिए। क्योंकि वे दृष्टियाँ चारों ओर से आकर उसी पर केन्द्रित होती हैं।...

होती हैं तो होने दो। अपराध तो मेरा है, दुर्बलता तो मेरे भीतर है। इन दृष्टियों को अर्थ तो मैं देती हूँ।

और मन्दा जैसे मुक्त होती है, स्वामिनी हो उठती है। उस समूचे वातावरण की स्वामिनी जो उसके चारों ओर उमड़ता-घुमड़ता रहता है।

बस में सफर करते हुए एक दिन पाया कि पाँच-सात मनचले युवक, जिनमें से कुछ तो शायद आयु में उससे छोटे भी हों, उसे अपने वासनामय परिहास का केन्द्र बनाने को तैयार हैं। दृष्टि चुरा-चुरा कर देखते हैं, मुस्कराते हैं और फिर प्रलाप कर उठते हैं। धीरे-धीरे वह प्रलाप स्वर पाता है, अर्थ पाता है। यही अर्थ उसे चारों ओर से आवृत्त करता हुआ बींधने लगता है, वह तिलमिलाती है। उसके माथे पर केश बिखर आते हैं। हाथ से उन्हें पीछे करती है। पाती है कि माथे पर कुछ तरल-तरल उमड़ आया है। वह और भी तीव्रता से काँपती है। चाहती है उन उद्धत युवकों से दृष्टि मिलाये, लेकिन सफल नहीं हो पाती। कर्णरन्ध्रों में प्रवेश करता हुआ उथला गन्दा स्वर जाल उसके अन्तर को कचोटता है। तिलमिला कर वह उठने की चेष्टा करती है। लेकिन जैसे किसी ने उसे सीट से जकड़ दिया हो।

उद्धता और मुखर होती है। वह और तिलमिलाती है, जैसे और सहना असह्य हो उठा हो। लेकिन उसी क्षण एक गहन गम्भीर स्वर उसके सिर पर से होता बस को कँपा देता है। स्तम्भित-सी वह मुड़ती है, पाती है कि पीछे की सीट पर बैठा हुआ एक सौम्य प्रौढ़ पुरुष अत्यन्त क्रुद्ध होकर कह रहा है, 'हरामजादो, तुमने समझ क्या रखा है। तुममें साहस होना चाहिए। चोरों की तरह क्या बकवास कर रहे हो···'

वह और नहीं सुन पाती, एकाएक उठ खड़ी होती है और पैर से सैंडिल निकाल कर ताबड़तोड़ उन युवकों पर बरसाने लगती है। वह उस समय जैसे है ही नहीं। उसे जहाँ उतरना था वह स्थान कब का पीछे छूट गया है और बस का वातावरण एकाएक स्तब्ध होकर रह गया है। कई क्षण बाद उसकी संज्ञा लौटती है। एक शोर उसके चारों ओर उठ आया हो। यात्री उन युवकों को पुलिस स्टेशन ले जाने की धमकी दे रहे हैं लेकिन वे सौम्य प्रौढ़ सज्जन कहते हैं, 'जाने दीजिए, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। ये लोग···'

वे युवक पूरी बात नहीं सुनते। तुरन्त उतर कर भीड़ में मिल जाते हैं। कुछ यात्री उतरते हैं, कुछ चढ़ते हैं। उसे लगता है जैसे वह नदी के द्वीप की तरह हर किसी का केन्द्र बन गई है। वह वहाँ से भाग जाना चाहती है। लेकिन जब तक वह निर्णय करती है तब तक बस चल पड़ती है। उसे लगता है जैसे प्यास से उसका गला सूख रहा है। उसके सारे बदन में काँटे उग

आये हैं। लेकिन सौम्य पुरुष मुस्कराकर पूछते हैं, 'आपका स्टेशन शायद पीछे रह गया।'

'जी हाँ।'

'अगले स्टेशन पर मैं भी उतरूँगा। वहाँ से आप दूसरी बस ले सकती हैं।'

मन्दा इन क्षणों में अपने को पा लेने का जी-तोड़ प्रयत्न करती है। फिर मुक्त मन से कहती है, 'जी हाँ, मैं जानती हूँ। कृतज्ञ हूँ, आपने आज...'

सौम्य पुरुप की मुस्कान और भी गहराती है। वह एक बार यात्रियों की ओर देखते है, फिर मन्दा की ओर। कहते हैं, 'अरे इसमें कृतज्ञता की क्या बात है। इन उद्धत युवकों को शिक्षा मिलनी ही चाहिए। मैं मुक्तता का समर्थक हूँ, चोरी का नहीं। जहाँ साहस नहीं है, वहीं गलती है।

जब तक वह बोलते रहे, मन्दा मुग्ध मन सुनती रही। उसके रग-रग में स्वर कम्पन जागता रहा। वक्ष में स्पन्दन होता रहा। उसने उनकी पूरी बात नहीं सुनी। वह जैसे कहीं दूर चली गई थी। उसी क्षण जागी जब उन्होंने कहा, 'आइए, यहीं हमें उतरना है।'

और वह यन्त्रवत उनके पीछे-पीछे उतर जाती है। वे कहते हैं, 'वह देखिए, सामने आपका बस स्टैण्ड है।'

मन्दा सहसा पूछ बैठती है, 'आप यहीं रहते हैं?'

'जी हाँ, वह सामने ही मेरा मकान है, 5/8, आइयेगा;'

मन्दा इतनी दुर्बल तो कभी नहीं हुई। कहना चाहती है, चलिए पर कह नहीं पाती। साँस लेने में जैसे कष्ट हो रहा हो। दो क्षण बाद इतना ही कहती है, 'क्षमा कीजिए, मुझे देर हो गई है।'

सौम्य पुरुप कहते हैं, 'जी हाँ, और हमारा परिचय भी तो नहीं है। एक नारी किसी अपरिचित पुरुप के साथ...'

मन्दा जैसे उस चुनौती से तिलमिलाती है, पर एकाएक कहती है, 'नहीं नहीं, यह बात नहीं। किसी दिन आऊँगी।'

वह हँस पड़ते हैं, 'धन्यवाद। आइए। मकान न खोज सकें तो किसी से साप्ताहिक कुमुद के सह-सम्पादक मुकुल प्रभाकर को पूछ लीजिए।'

मन्दा विस्फारित नयन मुकुल की ओर देखती है। प्रशंसा भरे स्वर में पूछती है, 'आप कुमुद के सह-सम्पादक हैं?'

'जी हाँ, आपको विश्वास नहीं होता?'

'नहीं-नहीं, मैं तो अपने को और भी कृतज्ञ अनुभव कर रही हूँ। मैं

अवश्य उनको साथ लेकर आऊँगी।'

मुकुल ने दोनों हाथ उठा कर मन्दा को प्रणाम किया। लेकिन मन्दा जैसे वहाँ थी ही नहीं। यह उसने क्या कह दिया, 'उनके साथ आऊँगी।' उनके बिना क्या उसका कोई अस्तित्व नहीं है। उनके बिना क्या वह यहाँ नहीं आ सकती? मुकुल से मित्रता नहीं कर सकती। उसे लगा जैसे उसकी आँखों के आगे घोर अन्धकार है। और वह उस अन्धकार में टटोल रही है। उसे पता नहीं, कब बस आई, कब वह घर पहुँची।

तब से उसके अन्तर में वही मन्थन चलता रहा है। मन्दा है, मुकुल है और महेन्द्र है जो उस का पति है, जिसे वह सचमुच प्यार करती है। जिस के तीन बच्चों की वह माँ है। उसे लगता है, महेन्द्र एक मृदुल बन्धन है लेकिन मुकुल एक मोहक मुक्ति है। अभी उन दोनों का कोई आन्तरिक परिचय नहीं है। पर लगता है जैसे युग-युग से वह उसे पहचानती है। जैसे अब तक वह इसी मोहक मुक्ति की तलाश में थी।

तीसरे दिन वह पाती है कि वह उसी बस स्टैण्ड पर पहुँच गई है। गणित का सहारा लेकर उसने जान लिया है कि मुकुल किस समय घर लौटता है। और आश्चर्य कि गणित उसे धोखा नहीं देता। कुछ क्षण राह देखने के बाद वह मुकुल को खोज लेती है। मुकुल मुस्कराते हैं, 'अरे आप हैं? बिना सूचना दिए ही आ गईं? और वे कहाँ हैं?'

मन्दा स्पष्ट झूठ बोलती है, 'जी, मैं किसी काम से इधर आई थी। उनको अभी समय नहीं है, इसीलिए नहीं आ सके।'

'कोई बात नहीं, आप ही आइये।'

'जी।'

'आइये न।'

और मन्दा पाती है कि किसी अनचीन्हे आकर्षण से खिची-खिची वह मुकुल के पीछे-पीछे चली जा रही है। स्पन्दित होती, सोचती कि भय भी कितना प्रिय होता है। घर में केवल वृद्धा माँ है। उन्हीं से मालूम होता है कि मुकुल ने विवाह नहीं किया। शायद कोई थी, शायद कहीं चली गई। माँ निश्चय से कुछ नहीं जानती। पहली मुलाकात में वह कुछ पूछ भी तो नहीं सकती। एक रोमानी सहानुभूति उसे बस विभोर कर देती है। माँ रुँधे कण्ठ से कहती है, 'मैं नदी का रुख हूँ। कल रहूँ न रहूँ, चिन्ता मुझे इसी की है। पर यह है कि ऐसा लड़का मैंने भी कभी नहीं देखा। मेरा जाया है, फिर भी मैं इसे नहीं पहचानती।'

माँ की बातों का कोई अन्त नहीं है। सुख दुख, घर-गृहस्थी की बातें।

लेकिन मुकुल बस 'कुमुद' की ही चर्चा करता है। अपनी ओर से आग्रह-आसक्ति का कोई अवसर नहीं देता। मन्दा ने हिन्दी में एम० ए० किया है यह जानकर वह एकाएक पूछ वठता है, 'कुछ लिख-लिखाती भी हैं।'

'लिखती तो नहीं पर चाहती अवश्य हूँ।'

और फिर अपने को धोखा देती हुई वह सब कुछ कह देती है 'वह लिखना चाहती है, नौकरी करना चाहती है। अपने पैरों पर खड़ा होना चाहती है। लेकिन वे हैं कि…'

मुकुल कह उठते हैं, 'कि वे हैं कि प्यार की गुँजलक से मुक्ति देते ही नहीं। ये 'वे' नाम के प्राणी ऐसे ही होते हैं। प्यार का वहाना करके पत्नी को पंगु वनाए रहते हैं।'

'नहीं-नहीं, यह वात नहीं।'

'वहुत प्यार करते हैं?'

'जी, पति के वारे में ऐसा सोचने का अवसर ही नहीं आया।'

'पति ऐसा सोचने देते ही नहीं। लेकिन आप यदि कुछ करना चाहती हैं, तो अवसर हैं। थोड़े समय के लिए भी काम कर सकती हैं। और यह भी आवश्यक नहीं कि आप दफ्तर में आएँ ही। नगर में घूमने-फिरने का काम हो सकता है। नियमित कालम लिख सकती हैं।'

मुग्ध-सी मन्दा सुनती रही। रस के सरोवर में डूवती रही। जीवन भर वह यही तो चाहती रही है। कितनी वार उसने महेन्द्र से कहा है और महेन्द्र है कि हर वार सर्वजयी प्यार का आसरा लेकर उसे निरस्त्र कर देता रहा है और वह है कि गुँजलक में वँध कर रह जाती है। आज भी अनायास ही उसका चाहा पूरा होने वाला है। लेकिन वह मुक्त कहाँ है? एकाएक स्वीकृति नहीं दे पाती। पूछती है, 'सच, क्या ऐसा हो सकता है?'

'हाँ-हाँ, अवश्य हो सकता है।'

'तो उनसे पूछूँगी।'

फिर वही 'उनसे।' यह उनसे उसकी मुक्ति है या वन्धन। नहीं-नहीं, वह उनसे नहीं पूछेगी। उनको चकित कर देगी। आखिर उसका भी तो व्यक्तित्व है। उसे इस तरह दवाये रखने का उन्हें क्या अधिकार है? क्यों वह विना किसी पारिवारिक कारणों के मुकुल से सम्पर्क नहीं जोड़ सकती। क्यों वह विना दीवार खड़ी किए उनसे नहीं मिल सकती? ये सामाजिक, पारिवारिक वन्धन, ये दीवारें, क्या ये अनावश्यक व्यवधान नहीं हैं? क्या ये अश्लील नहीं हैं?…

यह तर्क ही मन्दा की शक्ति है। वह मुकुल से दूसरी वार मिलती है,

तीसरी बार मिलती है। हर बार वह जैसे सकपकाती है, झिझकती है। मुक्त वह नहीं हो पाती। कहीं न कहीं असहज हो रहती है। 'वे' और उनकी बात बार-बार सहज भाव से उभर आती है। लेकिन इनके पीछे वह अपने को छिपा नहीं पाती। बार-बार आती है और आने का यह गणित उलझता रहता है। निरन्तर गुणा हो रहा है।···

पाती है, मुकुल में एक आकर्षण है। एक ऐसा आकर्षण जो आग्रह के अभाव में उसे अपनी ओर खींचता है। बार बार उसे मुकुल के समीप लाता है। लेकिन जैसे वह किसी स्प्रिंग से बँधी हुई है, जैसे वह उस साँप के खिलौने जैसी है जो हाथ से झटका देने पर बहुत दूर चला जाता है लेकिन दूसरे ही क्षण लौट भी जाता है। मन्दा बार-बार लौटती है। वह महेन्द्र के पास आकर अनुभव करती है कि वह उससे ज्यादा किसी और को प्यार नहीं करती। उसके रोम-रोम को प्यार करती है। उसकी हँसी को प्यार करती है। उसके क्रोध को प्यार करती है। उसकी समर्थ बाहों की गुँजलक में अपने को कृतार्थ अनुभव करती है। उसके बच्चों के बीच वह महिमामयी होती है। उसके पास होती है तो भूल जाती है कि मुकुल का कोई अस्तित्व है कि मुकुल उसकी मन की इच्छा पूरी करने का कारण हो सकता है। वह दो किनारों के बीच की नदी हो सकती है। दोनों से घिरी-आवेष्ठित, फिर भी नदी की नदी। न संकोच, न द्विधा, न आपत्ति···।

बार-बार आने पर वह जान गई है कि मुकुल की अनेक नारी मित्र हैं। उसके मन के न जाने किस कोने से ईर्ष्या की चिनगारियाँ भी उभरती हैं। वह प्रतिज्ञा करती है कि वह यहाँ नहीं आयेगी। लेकिन ठीक समय पर पाती है कि उसका गन्तव्य पथ उसके मकान के आगे आकर समाप्त हो गया है। ऐसे ही एक दिन वह पाती है कि माँ घर पर नहीं है। केवल मुकुल लेटा है। एक क्षण वह ठिठकती है। मन होता है, उलटे पैर लौट जाये। लेकिन दूसरा क्षण आता है। वह मुकुल से पूछती है, 'कैसे लेटे हैं, माँ कहाँ हैं ?'

मुकुल चकित-सा दृष्टि उठा कर मन्दा की ओर देखता है। एक क्षण में वह थकी हुई दृष्टि नाना रूप ग्रहण करती है। अभी-अभी वह मन्दा के बारे में ही तो सोच रहा था। यह अवचेतन क्या टेलीपैथी का ऐसा सुन्दर उपकरण है। कह उठता है, 'माँ आज देर से लौटेगी···।'

फिर कई क्षण अनमना अर्थ भरा मौन गहराता है। मुकुल फिर साहस बटोर कर कहता है, 'तुम्हारा वह लेख अगले अंक में छप रहा है। प्रूफ मेरे पास हैं, देखना चाहो तो···।'

वह उठने की चेष्टा करता है, लेकिन समर्थ नहीं हो पाता। अनजाने ही एक हलकी-सी कराह उसके मुख से निकल जाती है। मन्दा सेज की बात सुनकर हर्ष से कांपती है, लेकिन मुकुल पर दृष्टि जाते ही जैसे वह चौंक पड़ती है, 'अरे आप तो पीले पड़ गये हैं, क्या बात है ?'

मुकुल आंखें मीचे-मीचे ही कहता है, 'ऐसे ही सिर में दर्द है। अक्सर हो जाता है।'

मनचाहे ही मन्दा अपना हाथ उसके माथे पर रख देती है। जैसे जलता तवा हो। वह हाथ खींचना चाहती है पर पाती है कि उस पर एक बोझ-सा पड़ रहा है। उसके नीचे एक तीव्र उत्तेजना उमड़ रही है। सब कुछ अस्तव्यस्त, सब कुछ डोलायमान। जलते हुए स्फुलिंग जैसे वातावरण में तीव्र गति से दौड़ रहे हैं। फिर जैसे कुछ गीला-गीला, वह तीव्रता से अपना हाथ खींचती है। लेकिन अशक्त हो रहती है। मुकुल जैसे अबश शिशु की तरह रुँधे कण्ठ से बोलता है, 'नहीं-नहीं, रहने दो, ऐसे ही रहने दो।'

फिर घन घन घहराता मौन। फिर मुकुल फुसफुसाता है, 'कितनी शान्ति है, कितनी...।'

मन्दा को लगता है जैसे सब कुछ अस्तित्वहीन है, तरल, मुक्त। लेकिन उसका हाथ उसके मस्तिष्क पर गति कर रहा है। वह गति धीरे-धीरे तीव्र होती है। तीव्रतर से तीव्रतम होती है। ऐसा लगता है जैसे वह मस्तक को कुचल देगी। लेकिन कुचलने की यह भावना ही मुकुल को शक्ति देती है। तनाव कुछ ढीला पड़ने लगता है। वह विह्वल-सा कहता है, 'मन्दा, इस पवित्र स्पर्श का अनुभव मैंने जीवन में पहली बार किया है। यह अनुभूति मेरे जीवन की अनमोल उपलब्धि है।'

वह न जाने क्या-क्या फुसफुसाता रहता है। इसी बीच अनबूझ-सी मन्दा की दृष्टि उसके चेहरे पर गड़ी रहती है। देखती है कि सचमुच उसके मुख पर एक तरल आभा लौट रही है। अपरिसीम सुख से उत्पन्न आलस्य की अनोखी अनुभूति उसे शक्ति से भर देती है। वह पलक नहीं झपकना चाहती। लगता है पलक झपकने जितने समय में जैसे सब कुछ मिट जायगा और उधर मुकुल में बढ़ती हुई शक्ति उसे अनुप्रेरित करती है कि वह मन्दा के हाथ को अपने दोनों हाथों में ले ले और तब तक चूमता रहे जब तक अस्तित्वहीन न हो जाय। उसी क्षण मन्दा के मस्तिष्क से होती हुई एक विद्युत धारा हृदय को झनझनाती हुई निकल जाती है। और वह अनुभव करती है कि वह अपने दोनों हाथों में मुकुल का मुँह लेकर चूमने लगे। लेकिन उसीके साथ-साथ घृणा की एक अव्यक्त भावना उसे आलोड़ित कर

देती है। ईर्ष्या का एक अनचीन्हा भाव उसे जकड़ लेता है। विद्युत की तरंगों से उठते ये भाव एक के बाद एक उसे मथ देते हैं। वह थक जाती है। जैसे सहस्रों वर्षों से निरन्तर कार्यरत हो। इच्छाएँ अलसाने लगती हैं। वह बैठना चाहती है, लेकिन दूसरे ही क्षण पाती है कि वह एक माँसल गुंजलक में फंस गई है। वही परिचित-सी गुंजलक। महेन्द्र और मुकुल से परे पुरुष की गुंजलक। जकड़ तीव्र से तीव्रतर हो रही है। और जैसे एक ज्वाला उसके रोम-रोम को झुलस रही है। जैसे तनाव चरम सीमा पर पहुँच रहा है…।

फिर युगों जितनी वह क्षणिक रात्रि बीत जाती है। वह फिर शान्त भाव से खड़ी हो जाती है। क्षण भर भोर का आलस्य उसे व्यथित करता है। फिर वह पाती है कि मुकुल उसे एकटक देख रहा है और वह मुस्करा रही है। मुकुल कहता है, 'वह कौर्नस पर नये अंक के प्रूफ रखे हैं, उठाओ तो।'

मन्दा यन्त्रवत उन्हें उठाती है, खोलती है। पाती है कि सामने के पन्ने पर केवल वही है। उसका चित्र, उसका नाम, उसका रोम-रोम। वह दोनों हाथों में उस अंक को लेकर छाती में भींच लेती है। क्षण भर के लिए नेत्र मुंद जाते हैं। उनसे होती हुई पवित्र जल की कुछ बूंदे वक्ष से सटे अंक को भिगो देती हैं। और दूसरे ही क्षण वह फिर झुक कर मुकुल के मस्तिष्क को चूम लेती है।…

अब दोनों मुक्त हैं। सब कुछ भूल चुके हैं। जैसे केवल वे दोनों ही दुनिया में रह गये हों। सहसा मुकुल कहता है, 'अब तुम जाओ मन्दा।'

हठात् अपने को ही हतप्रभ करती हुई मन्दा कह उठती है, 'नहीं-नहीं, मैं कहीं नहीं जाऊँगी।

और दूसरे ही क्षण उसे लगता है जैसे वह मुकुल के ऊपर गिर पड़े। दोनों हाथों से उसका गला दबोच दे और फिर वह भी…।

वह तीव्रता से उठ खड़ी होती है। अनुभव करती है कि वह अब उसे अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकेगी। उसका खून कर देगी। वह तेजी से द्वार की ओर बढ़ती है। कहती है, 'मैं जा रही हूँ।'

'ठहरो।'

मन्दा एकाएक मुड़कर उसे देखती है। मुस्करा आती है पर रुकती नहीं। बाहर निकली चली जाती है। फिर उसे नहीं मालूम कि कैसे वह घर पहुँचती है। जैसे ही घर दृष्टिपथ में आता है वह समूचा आमन्तभून उसे जकड़ लेता है। वे सारी बात कैसी अजीब-अजीब सी लगती हैं। क्या वह सच था।

ने

क्या वह प्यार था? क्या वह अच्छा था?

पूरे सात दिन इसी मन्थन में वीत जाते हैं। वह मुकुल से विल्कुल नहीं मिलती। विष और अमृत के वीच छटपटाती रहती है। लेकिन आठवें दिन वह अपने को रोक नहीं पाती। मुकुल को पुकारती है। पर उस दिन घर पर केवल माँ है। वह स्नेह से उसका स्वागत करती है। कहती है, 'अरे वेटी तू तो लेखिका वन गई। मुकुल तेरे लिए यह अंक रख गया है। उसे अचानक वाहर चले जाना पड़ा। तीन दिन में लौटेगा।'

'तीन दिन।'

'हाँ वेटी। अखवार का काम है।'

मन्दा को अच्छा नहीं लगता। अनमनी-सी माँ से वातें करती है। फिर लौट पड़ती है। घृणा और क्रोध से भरा उसका मन करता है कि वह थूक दे। उस सारे भूत से मुक्ति पा ले। लेकिन इससे पहले कि वह कुछ कर सके, उसकी दृष्टि महेन्द्र पर जाती है। वह शान्त भाव से अपना काम कर रहा है। उसका वह चिरपरिचित चेहरा, वह चिरपरिचित आकर्षण, वह शरारत भरी मुस्कान, सव कुछ जैसे उसके रोम-रोम में वसा हो। वह मुग्ध मन उसे देखती है। मुस्कराती है। वह भूत, वह घृणा जैसे उसके शरीर से मुक्त हो कर कहीं चले गये हों। पास आकर कहती है, 'आज आप जल्दी आ गये?'

महेन्द्र दृष्टि उठा कर उसे देखता है। उसके हाथ में कुमुद के अंक को देखता है, मुस्कराता है। कहता है, 'मैं तुम्हें चकित कर देना चाहता था, लेकिन तुम हो कि हार मानना ही नहीं चाहती।'

मन्दा सकपकाती है। फिर देखती है कि मेज पर कुमुद के पाँच अंक रखे हैं। और महेन्द्र है कि उसके हाथ के अंक को देखे जा रहा है। कहता है, 'तो तुम लेखिका वन ही गईं। मैं यही चाहता था कि तुम स्वयं ही कुछ वनो। मैं तुम्हें ववाई देता हूँ। मैं सचमुच वहुत खुश हूँ, वहुत खुश।'

और दूसरे ही क्षण मन्दा पाती है, कि महेन्द्र की चिरपरिचित गन्ध उसे घेर लेती है। उसके प्रेम की गुंजलक में वह फंस जाती है। अपने चेहरे पर तावड़तोड़ चुम्वनों को अनुभव करती है। एक क्षण उसे ऐसा लगता है कि वह सव कुछ को तोड़-फोड़ दे। लेकिन दूसरे ही क्षण वह सहज भाव से समर्पित हो जाती है। कैसा है यह तनाव, कैसी है यह मुवित। सहज, स्वाभाविक, फिर भी पाप-पुण्य की परिधि से घिरी हुई। कहाँ है पाप की सीमा कौनसा है पुण्य का परिवेश? अच्छा और वुरा; इनकी अन्तर रेखा कौन सी है?...

नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं सोचेगी, वह उलझेगी नहीं। वह मुक्त है, मुक्त ही रहेगी। वह एकाएक उसी आवेश में बोल उठती है, 'तुम जानते हो महेन्द्र, यह सब कैसे हुआ ?'

महेन्द्र तृप्ति के भाव से कहता है, 'कभी-कभी अनजान बने रहना भी अच्छा होता है।'

'नहीं-नहीं तुम्हें जानना चाहिए। कई महीने पहले की बात है। एक दिन मैं बस में जा रही थी···।'

सहज भाव से वह कहानी का आरम्भ करती है पर अन्त कुछ का कुछ हो जाता है। अपनी बात वह महेन्द्र से क्यों कहे, वह क्यों उसके सामने वह अपने को निरावरण करे ? न-न, वह कुछ न कहेगी।···

मुस्करा कर इतना ही कहती है, 'डरती हूँ, मुकुल मुझे ले न भागे।'

फिर दृष्टि चुरा कर महेन्द्र को देखती है। शरारत से मुस्कराती है। पूछती है, 'तुम्हें इस कहानी पर विश्वास होता है ?'

महेन्द्र प्रति प्रश्न करता है, 'तुम्हें है ?'

'मैं तुम्हारी बात पूछती हूँ ?'

'वह व्यर्थ है। इस क्षण हम दोनों एक दूसरे के पास हैं इतना ही मेरे लिए यथेष्ट है। नहीं है ?'

जितनी देर में महेन्द्र ने ये शब्द कहे उतनी देर में मन्दा के अनन्त प्रकाश वर्ष बीत गये। उसका रोम-रोम अपरिसीम अनुभूतियों से पवित्र हो गया, उसने पागल की भाँति महेन्द्र को अपनी भुजाओं में बाँध लिया। इस तरह चूमने लगी मानो वह व्यक्ति न हो, कोई भावना हो। और उस भावना को वह अपने रोम-रोम में समा लेना चाहती हो। वह क्षण, उस क्षण का कोई आकार नहीं है। रूप नहीं है। वह बस एक अनुभूति है।

1966

—29

मूड

अक्सर हम बोझ की बात करते हैं, पर बोझ तो मानने की बात है। कुछ लोग हैं कि हर वक्त मस्त रहते हैं, कोई जिम्मेदारी उन्हें बाँध कर नहीं रख सकती, कोई पीड़ा उन्हें आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती। वे छट-पटाते हैं, और आगे बढ़ते हैं, लेकिन रोशन है कि पग-पग पर अटक जाता है। किसी ने कोई काम उसे सौंप दिया, तो जैसे त्रिलोकी का बोझ उठा कर उसके मस्तक पर रख दिया। जब कभी उसे कहीं जाने का हुक्म मिलता है, तो बस घर-भर की उसी क्षण से कयामत आ जाती है। उस दिन ऐसा हुआ कि एक संपादक महाशय ने न जाने कैसे उन्नदशी के विधान को लात मार कर, उसके पास कहानी का पुरस्कार अग्रिम भेज दिया। एक ओर जहाँ रोशन को अचरज का असह्य बोझ उठाना पड़ा, वहाँ कहानी लिखने की जिम्मेदारी भी उसपर आ पड़ी। उसने निहायत गम्भीर हो कर पत्नी से कहा, 'मुझे कहानी लिखनी है।'

रमा ने सीधे से जवाब दिया, 'सो तो लिखते ही हो।'

'अरे तुम नहीं जानतीं, 'संदीप' के संपादक ने पारिश्रमिक भेज दिया है!'

'सच?'

'हाँ!'

'तो ठीक है। उन्हें कहानी अवश्य भेजो। और लोग तो कहानी छाप कर भी पैसा नहीं भेजते।'

'यही तो बात है। इसके लिये चाहता हूँ, कोई ऐसी बढ़िया कहानी लिखूँ कि पाठक फड़क उठें।'

'बेशक... !'

'तो देखो, अब अपने दोनों बच्चों को जरा···मैंने कहा, तुम तो समझती हो।'

'जी हाँ, समझती हूँ,' उमा मुस्करायी।

'और रामबाबू से कह कर बिजली इधर करवा लेना। क्या बताऊँ, मुझसे लैम्प की रोशनी में लिखा ही नहीं जाता। बुरी आदत पड़ गई है।'

'कह दूँगी। आजकल चैक करने वाले बहुत आते हैं। इसलिए उन्होंने कुछ दिन के लिए कनेक्शन काट दिया है।'

रोशन ने तलखी से कहा, 'इसका प्रबन्ध करूँगा। तीन साल से अर्जी दे रखी है, पर गरीबों की तो कोई सुनता ही नहीं। जो पैसे दे सकते हैं, उन्हें तीसरे दिन बिजली मिल जाती है।'

'प्रबन्ध क्या खाक करोगे, पैसे कहाँ हैं देने को ?'

'अच्छा अच्छा ! अब मुझे लिखने दो', रोशन ने कुछ चिनचिना कर कहा, 'तुम तो अभी से झगड़ने लगीं। मेहरबानी करके कुछ देर इधर मत आना।'

उमा बिना कुछ कहे, पैर पटकती हुई चली गयी। रोशन डेस्क के पास बैठ गया। कुछ क्षण के बाद उसके सामने कागजों का ढ़ेर लगा हुआ था। उनमें फुलस्कैप से लेकर आध इंच तक की कतरनें थीं। वह फुसफुसाया, 'कितनी कहानियाँ इन कतरनों में सुरक्षित हैं ! किसी जौहरी के रत्नों से बढ़ कर मेरे लिए इनका मूल्य है।'

वह एक-एक को उठा कर पढ़ने लगा, 'एक नारी, दो पुरुष, एक सशक्त दूसरा दुर्बल पर विचक्षण कलाकार, संघर्ष, कलाकार की विजय है, हूँ। प्लाट सुन्दर है, पर जल्दी लिखना ठीक नहीं है। यह क्या है, 'स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक नागरिक की दशा।' 'एक माँ के सात पुत्र—धीरे-धीरे सब छोड़ जाते हैं, अन्तिम जब जाने की बात कहता है, तो माँ उसे रोकने के लिए उसे मार देती है।' ···यह प्लाट भी जोरदार है, पर अभी इसका और विश्लेपण करना है। तो यह क्या है, 'एक मित्र की पत्नी बड़ी वाचाल है। वह उसे समझाने को कहता है। समझाने में संपर्क बढ़ता है और मित्र की पत्नी उसी से प्रेम करने लगती है···'

रोशन उस प्लाट को एक बार फिर पढ़ रहा था कि दरवाजे पर दस्तक हुई।

उसने सुना अनसुना कर दिया।

दस्तक तेज हुई। वह चिनचिनाया, 'एक घड़ी शान्ति से नहीं बैठने देते!' उठ कर देखा तो रामप्रकाश एण्ड सन्स के मालिक आये थे। बोले, 'अरे

उसके बाद पूरा एक सप्ताह बीत गया। राम-राम करके वह संग्रह समाप्त हुआ। रोशन ने फिर प्लाट ढूँढ़ने शुरू किए। इस बार उसने कागजों के ढेर को नहीं छुआ। वह चौराहे पर जा खड़ा हुआ और आने-जाने वाली भीड़ को देखने लगा। ताँगे, रिक्शा, कार, ठेले, सब निरन्तर जल की भाँति रास्ता बनाते हुए आ-जा रहे थे। नाना रूप, वय, और विचारों के व्यक्ति समुद्र की लहरों की तरह कभी तेजी से घुमड़ते और कभी मकानों के साये में गायब हो जाते। एक शोर, एक तेजी, एक झुँझलाहट···देखा—एक ताँगा तेजी से दौड़ता हुआ आया और एक बालक को गिराता हुआ चला गया। क्षण भर में रोशन ने सब कुछ देखा—ताँगे में मुस्कराते हुए नवदम्पत्ति को और सड़क पर रक्त से लथपथ बालक को···।

उसका मन खीज उठा। वह घर लौटने को मुड़ा कि एक बूढ़ी भिखारिन सामने आ गयी। उसके कपड़े तार-तार हो रहे थे। उसके शरीर का अंग-अंग हिल गया था। उसका पोता या जो कुछ भी वह था, आँखों में कीच भरे चीख रहा था, 'मुझे पैसा दे ! मैं तो पैसा लूंगा।'

और वह बुढ़िया कभी गाली देती है, कभी हँसती है, कभी जोर से तमाचा मारती है।

रोशन का मन ग्लानि से भर उठा। उसने चीख कर कहा, 'लिखने का पेशा भी कितना गन्दा है। हर एक के कामों का निरीक्षण करना पड़ता है। हर एक के बारे में राय बनानी पड़ती है। और फिर जबरदस्ती मूड बनाना पड़ता है।

तब उसे एक प्रसिद्ध लेखक का कथन याद आ गया। जिसने कहा था कि 'वह ऐसी सामग्री तैयार कर रहा है, जिसे जब भी गले में डाला जाएगा, तो हाथ में एक लेख तैयार हो जायगा। वह अपने-आप हँस पड़ा, ऐसे कि पास जाने वाली युवती चौंक कर पीछे हट गयी, यह सोच कर कि कहीं वह मुझ पर हमला तो नहीं कर रहा है।

रोशन तब झपटता हुआ घर आया। उसने निश्चय किया कि आज जो कुछ देखा है, उसी को वह एक कहानी का रूप देगा। वह बताएगा कि कैसे उस नव दम्पति ने अस्पताल जाते हुए एक शिशु को कुचल डाला, फिर कैसे भिखारिन के पोते ने एक पैसा प्राप्त करने के लिए चोरी की, और दादी को अनाथ छोड़ कर उसे जेल जाना पड़ा। कैसे फिर सड़क पर एकाएक टकरा जाने से एक युवक का युवती से प्रणय शुरू हुआ···।

उमा ड्योढ़ी पर उसकी राह देख रही थी। उसे देखते ही चीख कर बोली, 'दीदी चल बसीं।'

'क्या···?'

'दीदी आज सवेरे समाप्त हो गयीं।'

फिर कहानी और उसके प्लाट न जाने कहाँ रह गए। रोशन और उमा दोनों बच्चों को पड़ौस में छोड़ कर भागे। दीदी कई दिनों से बीमार थीं। कभी-कभी लगता था, वह नहीं बचेगी, पर वह मर जाएगी, ऐसा सोचने का साहस किसी में नहीं था। उनके चार छोटे छोटे बच्चे थे। आस-पास कोई नहीं था। जीजा सीधा आदमी थे। सीधे-सादे और मौन···।

'अब क्या होगा?' रोशन ने आँखों ही आँखों में उमा से कहा। उमा रो रही थी। रोशन की आँखों के सामने दीदी का चित्र आ गया—हड्डियों का एक ढांचा अस्पताल की चारपाई पर पड़ा है और जीजा उसके सिर पर हाथ रखे एकटक उसे देख रहे हैं और राजेश, कमला, मीनू और बच्चू···

इतने में किसी ने पुकारा, 'मि० रोशन!'

वह आगे बढ़ता चला गया।

पुकार और तेज हुई, 'रोशन बाबू! रोशन बाबू, सुनिए तो···'

उसकी गति और भी तेज हो गयी। उमा ने कहा, 'आपको कोई बुला रहा है।'

अब तो उसे रुकना पड़ा। तीन-चार सज्जन, नये वस्त्रों से सुसज्जित, दौड़े हुए आये। एक, जो अपेक्षाकृत युवा थे, हँस कर बोले, 'रोशन बाबू! आप तो सुनते ही नहीं। क्या बात है?'

'जी···!' वह और कुछ न कह सका।

युवक ने विवाह का एक सुन्दर निमंत्रण-पत्र उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'आज सन्ध्या को बरात आएगी। दर्शन दीजिएगा!'

न जाने कैसे उसने हाथ जोड़े और कैसे वह मुस्कराया। बोला, 'अवश्य आऊँगा!'

और फिर पूर्ववत् आगे बढ़ता चला गया। पर उसका मस्तिष्क बराबर बोल रहा था, 'दीदी के विवाह के निमंत्रण भी इसी तरह बँटे थे···।'

'बँटे होंगे!' वह चीखा और आगे बढ़ गया। झुँझलाहट के कारण उसने सामने से आती हुई फूलों से लदी कार को नहीं देखा। वह शीघ्रता से बच कर एक ओर को मुड़ा। कार में नव वधू जा रही थी, और उसका मस्तिष्क सोच रहा था, 'दीदी भी एक दिन इसी तरह उमंगों और अरमानों के साथ पति-गृह को चली थी···!

उसने तीव्रता से झटका दिया और तेजी से चलने लगा। उमा ने हाँफते हुए कहा, 'मुझ से भागा नहीं जाता।'

वह रुक गया और बोला, 'अब क्या होगा ।'

उमा ने जवाब में एक सुबकी ली। फिर कई क्षण बाद उसने कहा, 'अभागे बच्चे!'

रोशन भी बच्चों की बात सोच रहा था । सोच रहा था, 'क्या यह राष्ट्र का धर्म नहीं है कि वह बच्चों की देखभाल करे ? ऐसी स्वतंत्रता से क्या लाभ कि देश के बच्चे, माँ-बाप के मर जाने के कारण, जीवन की सुविधा से वंचित रह जाएँ…'

अब वह अस्पताल आ पहुँचा था। उसने देखा, कमरे के बाहर एक भीड़ लग रही है, बहुत से लोग मुँह लटकाए, अपने अन्तर्मन से बातें करते से खड़े हैं। कुछ तेजी से आते और जाते हैं, वे प्रबन्धक हैं। जीजा कमरे की दीवार से कमर सटाए, छाती पर हाथ बाँधे मानो शून्य में कुछ ढूँढ़ रहे हैं। उनके मुख पर वेदना मानो हिम बन गयी है। और कमरे से उठता हुआ करुण रुदन, उनके अन्तर से टकराता हुआ, हवा को कंपा रहा है।

वह उनके पास पहुँचा और बहुत कुछ कहना चाह कर भी मौन खड़ा हो गया। एक क्षण के बाद दोनों की दृष्टि मिली, उसके बाद फिर वे बहुत देर तक मेस्तर प्रतिमा की तरह खड़े रहे।

फिर अन्तिम यात्रा शुरू हुई। शव-स्नान, शृंगार और 'रामनाम सत्य' की चिर-परिचित ध्वनि—एक के बाद एक व्यक्ति का आगे बढ़ कर अरथी को कन्धा देना और पुकारना 'रामनाम सत्य है।' रोशन भी उस भीड़ में समा गया। उसका मस्तिष्क मौन नहीं हुआ, बल्कि निरन्तर उसी के शब्दों में कुतर्क करता रहा। शव जीजा के घर के आगे से जा रहा था कि सहसा वह रुक गया। बच्चे माँ का मुँह देखने नीचे उतर आये थे। राजेश और कमला माँ को इस तरह बँधे हुए देखकर जोर से रो पड़े। तीन वर्ष की मीनू की समझ में कुछ नहीं आया, पर भइया और जीजी को रोते देख कर, वह भी रो पड़ी। बच्चू तेजी से हाथ फैलाकर अरथी की ओर लपका, 'माँ…!'

भीड़ में सुबकियाँ उठीं। बूढ़े लोग तेजी से चिल्लाये, 'रामनाम सत्य है, जो बोले सो गत है।' जीजा ने बड़ी शान्ति से बच्चों को सम्हाला। यद्यपि उनकी आँखें गीली हो गयी थीं, तो भी उन्होंने बच्चों से हँस-हँस कर बातें की और समझा-बुझा कर अन्दर भेज दिया।

रोशन सब कुछ देख रहा था। सड़क पर चलते कुछ लोग शीघ्रता से आगे बढ़ जाते थे। कुछ रुक कर सम्मान प्रदर्शित करते थे। कुछ साथ भी हो लेते, भले ही दो कदम चल कर लौट पड़ते। रोशन के मस्तिष्क में रह-रह कर बच्चे उभर उठते थे, यहाँ तक कि चिता की उठती लपटों में भी

रोशन का मानो रोम-रोम गुंजरित हो उठा था। विचार उसके मन में भी आया था, पर उसने सोचा था कि इस तरह कब तक मदद करेगा? किस-किस की करेगा? पर पत्नी के मुँह से यह प्रस्ताव सुन कर उसने कहा, 'तो कल चली जाना। लेकिन एक बात सोच लो...'

'सोचा तो बहुत कुछ है...।'

वह आगे कुछ कह ही रही थी कि उनके जीजा ने वहाँ प्रवेश किया। वे कहने आये थे कि रोशन को 'फूल' लेकर हरिद्वार जाना होगा। बोले, 'कब जाओगे?'

'कब जाऊँ?'

'कल जा सकते हो?'

'कल...?'

क्षण भर में रोशन के मस्तिष्क में अनेक बातें उठीं, पर अन्त में उसने निश्चय किया कि वह कल ही जाएगा और कहानी के रुपये उमा लौटा देगी। उधर उमा ने अपनी बात कहने के लिए भूमिका बाँधनी शुरू की, 'बेचारे बच्चों के साथ बुरा हुआ। रोते होंगे!'

'रोते तो हैं।'

'यहीं भेज दो न!'

'भेज दूँगा, पर वे अधिक टिकेंगे नहीं।'

'मैं सोचती हूँ, मीनू और बच्चू को यहीं रख लूँ।'

जीजा ने शान्त भाव से उमा को देख कर कहा, 'आप कब तक रख सकती हैं। आपने ऐसा कहा, यह आपकी कृपा है। रहेंगे तो वे मेरे ही पास।'

'पर आप...?'

प्रश्न को समझ कर वे बोले, 'अभी तो नौकरानी है। आगे जैसा भी होगा, करूँगा। ऐसी बात नहीं कि मैं उन्हें सँभाल न सकूँ।'

'आप बाहर रहेंगे या घर में?' उमा ने तर्क किया।

वे बोले, 'जब जहाँ जरूरत होगी, वहाँ रहूँगा। मैं जानता हूँ, इसमें मुझे कष्ट होगा, पर मैं उससे डरता नहीं। क्या मैं अपनी जिम्मेदारी से भागूँगा? अधिक से अधिक यह हो सकता है कि उनमें से एक आध मर जाएगा। मर जाए, दुनिया में क्या मुसीबत आ जाएगी? इसके विपरीत...।'

पर न जाने, क्या सोच कर, वे चुप हो गये, फिर उठे। रोशन ने कहा 'मैं कल जाऊँगा।'

उमा बोली, 'कुछ भी हो, कुछ दिन के लिए तो उन्हें आप भेज ही दें!'

जीजा जाते हुए मुड़े और बोले, 'कुछ दिन की बात और है, पर उनकी जिम्मेदारी मुझ पर है, मुझ पर ही रहेगी।'

फिर वह चले गए। रोशन ने उमा से कहा, 'खाना खाकर मैं कहानी लिखता हूँ। पूरी करके सोऊँगा।'

उमा मुस्करायी, 'क्या मूड आ गया है।'

'जी हां ! आप और आपके बच्चे अब चाहे कितना ही शोर मचाएँ, मेरा मूड बिगड़ने वाला नहीं।'

× × ×

और उस रात रोशन ने जो कुछ लिखा वह यही है। यद्यपि बहुत-से आलोचकों ने इसे कहानी मानने से एकदम इनकार कर दिया है, पर रोशन का अब भी विचार है कि एक न एक दिन इसकी गिनती निश्चित रूप से कहानियों में की जाएगी।

1952

30—

आकर्षण और मुक्ति

अचानक खादी भवन जाना हुआ। एक मित्र आये थे और उन्हें वहाँ के मुख्य व्यवस्थापक से मिलना था। भवन के विशाल और भव्य प्रकोष्ठ में प्रवेश करते ही मेरी दृष्टि बाईं ओर रखे हुए कलापूर्ण खिलौनों पर गई और मैं उस आकर्षण को अस्वीकार न कर सका। उस समय वहाँ पर कोई नहीं था। लेकिन कोई ग्राहक है, यह देखकर दूसरे काउण्टर पर खड़े व्यक्ति ने पुकारा 'सुप्रिया' इधर तो आओ।'

दूसरे ही क्षण मुस्कराते हुए बड़ी-बड़ी आंखों वाली जिस युवती ने वहाँ प्रवेश किया उसे देखकर मैं एकाएक चौंक आया। उसकी साड़ी का छोर लापरवाही से कन्धे पर पड़ा हुआ था। उसके कलापूर्न जूड़े में रजत घूंघरू और पानफूल ऐसे जड़े थे जैसे नीलाम्बर में चन्द्र और तारे। स्वाभाविक था कि उसके सभी वस्त्र शुद्ध खादी के थे। परन्तु उसका वह सहज सौम्य और मोहक रूप मुझे बहुत देर तक भ्रम में न रख सका। मुझे देखकर मेरी तरह उस पर कोई प्रतिक्रिया हुई है ऐसा उसने प्रगट नहीं किया। सहज भाव से बोली, 'आपको क्या चाहिए ?'

मेरी दृष्टि अभी भी उसके मुख पर थी। सहसा कुछ उत्तर न दे सका। तब तक वह बिल्कुल मेरे पास आ गई थी। मुस्कान को और भी गहन करते हुए उसने हाथ जोड़कर कहा, 'नमस्कार'

इस बार मेरी तन्द्रा टूटी। उत्तर दिया, 'नमस्कार शतरूपा।'

यह सब इतने धीरे से कहा था कि आसपास किसी के सुनने की आशंका नहीं थी। उस क्षण वैसे वहाँ कोई था भी नहीं। मैं इधर-उधर से सामान उठाते हुए उससे बातें करने लगा। वह मुस्करा कर बोली, 'तो तुमने पहचान लिया।'

शतरूपा के उन नेत्रों को भी कभी नहीं भूल सका। यहाँ आकर मैंने देखा कि वह सहज भाव से सिगरेट पीती हुई मेरा स्वागत कर रही है। मैंने हँस-कर कहा, 'मेरी दृष्टि की शक्ति को मानोगी न ?'

वह मुस्कराकर बोली, 'पहली बार ही मान चुकी थी। लेखक की दृष्टि यदि अन्तर्भेदी न होगी तो फिर किसकी होगी ?'

सहसा मैंने कहा, 'लेकिन फिर भी...।'

दूसरे ही क्षण मैं मौन हो गया। शतरूपा ने एकाएक मेरी ओर देखा। एक क्षण के लिए फिर कृष्णा-वर्णीय मेघशावक उसके नेत्रों के आगे से होकर चला गया। बोली, 'जो कहना चाहते हो जानती हूँ।'

'इसीलिए तो नहीं कह रहा हूँ।'

'अच्छा बैठो। खाना तो खाओगे न ?'

'इस समय बुलाने का अर्थ क्या कुछ और होता है ?'

'जाने के लिए जल्दी तो नहीं है ?'

'वहाँ मेरी कौन राह देखने वाला है ? जहाँ ठहरा हूँ बस उनको सूचना देनी होगी।'

उसने कहा, 'देखा जाएगा।'

और फिर मुझे बिठा कर वह दूसरे कमरे में चली गई। कलकत्ता जैसे नगर में बहुत बड़े घर की कल्पना नहीं की जा सकती। क्षण भर में इधर-उधर देखकर समझ गया कि उसके पास केवल दो ही कमरे हैं। जिसमें मैं बैठा था वह उसके बैठने-उठने और सोने का कमरा था। दूसरा उसका रसोई घर था। सामान भी सब उसी में था। उसी समय एक नारी कण्ठ और सुनाई पड़ा। निश्चय ही वह परिचारिका थी जिसे वह शुद्ध बंगला भाषा में खाने-पीने की व्यवस्था के बारे में समझा रही थी। कुछ क्षण बाद लौटकर उसने कमरे के बीचों बीच एक मेज पर खाने की व्यवस्था की और आवश्यक वस्तुएं सजा कर रखने के बाद मेरे पास आकर बैठ गई। मैं जानता था कि यह सब करना इसलिए आवश्यक था कि वह मुझसे बातें करने के लिए साहस बटोरना चाहती थी। बटोर चुकी तो मुस्कराकर बोली, 'अब निश्चिन्त होकर बातें करेंगे। खाना तैयार हो जाने पर आ जाएगा।'

कहने के लिए मन में बहुत कुछ था, परन्तु जैसे इस समय मैं स्वयं कुछ सकपका गया। लगा जैसे किसी अनचाही जगह पर आ पहुँचा हूँ। और वहाँ से निकलने का कोई भी रास्ता नहीं देख पा रहा हूँ। शतरूपा ने मानो मेरी स्थिति को भाँप लिया। बोली, 'क्यों, डर लगता है ?'

जैसे यह चुनौती थी। मैंने उसकी ओर देखा। उसके नेत्रों में शरारत

झलक रही थी। उसके सघन केश कानों पर से होकर ग्रीवा को प्रगाढ़ ग्रालिंगन में ले रहे थे। कुछ ग्रस्त-व्यस्त होकर मस्तक पर झुक ग्राये थे। मुझे शक्ति मिली। मैंने मुस्कराकर कहा, 'न तो तुम मेरे लिए ग्रजनबी हो ग्रौर न यह पहला ग्रवसर है।'

वह बोली, 'फिर भी जब हम पहली बार मिले थे तब से संसार बहुत बदल गया है। ऐसी ग्रनेक घटनाएँ घट चुकी हैं जिन पर तुम विश्वास नहीं करोगे। यदि तुम उनको जानते होते तो यहाँ ग्राने का साहस न कर पाते।'

'तुम कौन-सी घटनाग्रों की ग्रोर इशारा कर रही हो ?'

वह क्षण भर जैसे ठिठकी। फिर एक लम्बा कश खींच कर धीरे से कहा, 'क्या तुम ग्रब भी सिगरेट नहीं पीते ?'

मैं बोला, 'क्यों, ग्रब क्या बात है ?'

उसने मेरी ग्रोर देखा। बोली, 'तुम्हारी जाति के लोग ग्रक्सर सुन्दर युवतियों को सिगरेट पीते देखकर पीने लगते हैं।'

'वे ईमानदार नहीं होते।'

उसने उपेक्षा से इतना ही कहा, 'ईमानदारी।...'

फिर जोर-जोर से कश खींचने लगी। मैंने ग्रर्थपूर्ण दृष्टि से उसे देखा ग्रौर कहा, 'सिगरेट ग्रौर ईमानदारी की चिन्ता किये बिना तुम जो कुछ कहना चाहती हो, उसे निःसंकोच ग्रौर स्पष्ट कह सकती हो।'

'वह फिर झिझकी। उसकी गर्दन झुक ग्राई ग्रौर उसने लम्बा कश खींच कर धुंग्रा छोड़ते हुए मेरी ग्रोर देखा। मैं उसी की ग्रोर देख रहा था। दृष्टि मार्ग में सहसा मिल गई ग्रौर वह दृढ़ हो उठी। उसने कहा, 'क्या तुम बता सकते हो कि तुम्हारी लड़की को जहर देने का प्रयत्न किसने किया था ?'

क्षण भर में वहाँ का सारा वातावरण ही बदल गया। मलय समीर विषाक्त हो उठी। मन कड़वाहट से भर ग्राया। निहायत तलखी से मैंने कहा, जानता हूँ।'

ग्राश्चर्य, वह तनिक भी उद्विग्न नहीं हुई। बोली, 'बताग्रो।'

मेरी धामनियों में क्रोध की ग्रग्नि जैसे जल उठने को ग्रातुर थीं। किसी तरह ग्रपने को शांत करते हुए मैंने कहा, 'तुम्हारे परम मित्र किशोर खन्ना ने।'

'ठीक है, लेकिन उसकी तो मात्र प्रेरणा थी। देने का भार किसी ग्रौर पर था।'

मैंने ग्रौर भी उद्विग्न तथा कठोर होकर कहा, 'भाषा के इस माया-जाल

से जो वस्तु स्थिति है उसको नहीं झुठलाया जा सकता। वह सब किशोर का कुचक्र था। मैं चाहता तो…।'

एकाएक तीव्रता से वह बोली, 'तुम कुछ नहीं जानते। इतना भी जान सके हो तो मेरे कारण। न मैं वह लेख लिखती और न तुम किशोर को पहचान पाते। खैर जाने दो। क्या तुम यह भी जानते हो कि फिर किस तरह यह दुर्घटना होते-होते बची।'

मैं एकाएक कोई उत्तर न दे सका। क्योंकि यह सब इतनी रहस्यमय रीति से हुआ था कि निश्चय से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में दो चार अन्तरंग व्यक्तियों को छोड़कर इस घटना के बारे में कोई जानता तक न था। मैंने उसी उद्विग्नता से, परन्तु कुछ धीमे स्वर में कहा, 'शतरूपा, तुम्हारे पास आते समय मैंने यह सब कुछ नहीं सोचा था। मैं उस नाटक का एक प्रमुख पात्र हूँ। जानता हूँ कि किशोर ने यह सब क्यों किया है। यह भी कल्पना कर सकता हूँ कि इस षडयन्त्र में तुम उसके हाथ की मात्र एक कठपुतली रही होगी।'

वह मुस्कराई। और फिर मुझे चौंकाते हुए बोली, 'लेकिन क्या तुम यह कभी नहीं सोच सकते कि तुम्हारी लड़की के प्राण बचाने का कारण मैं भी हो सकती हूँ।'

मैंने उतनी ही तीव्रता से कहा, 'सुना है कि तुम सहज भाव से झूठ बोल लेती हो।'

और मैं उठ कर खड़ा हो गया। लेकिन जैसे ही मेरी दृष्टि उसके मुख पर पड़ी तो देखता हूँ कि उसके हाथ की सिगरेट निरन्तर धुंआ दे रही है और उसका मुख उसके पीछे छिपता जा रहा है। और उसके उदास सजल नयन उस धुँए को भेद कर मेरी ओर देख रहे हैं जैसे अनादि काल से वह मुझे इसी तरह देखती रही है। मैं हठात् काँप उठा। बोला, 'मुझे माफ कर दो शतरूपा।'

अवरुद्ध कण्ठ वह इतना ही बोली, 'मैं कुछ भी कहूँ, तुम विश्वास नहीं करोगे। फिर भी यह सच है कि मैंने मन, वचन, कर्म से तुम्हारी लड़की को बचाने की चेष्टा की और मुझे खुशी है कि मैं सफल भी हुई।'

एकाएक मेरे हृदय के भाव फिर बदल गये। मैंने कटाक्ष किया, 'लेकिन क्या मैं यह जान सकता हूँ कि तुम्हारी करुणा क्यों जागी ?'

उसने फिर मेरी ओर देखा, ऐसे जैसे किसी अजनबी को पहचानने के प्रयत्न में हो। बोली, 'यह तो मैं स्वयं भी नहीं जानती। कभी-कभी हम वह कुछ करने को विवश हो जाते हैं जिसकी कि हमसे आशा नहीं की जाती।

नियति हमारी छाती पर पग रख कर कहती है, 'करो।' और हम करते हैं। करने के बाद हमें स्वयं अपने पर विश्वास नहीं होता।'

वह इतने सहज-निरीह भाव से बोल रही थी कि उसका एक-एक शब्द मेरे हृदय पर अंकित होता आ रहा था। उसने अपना वाक्य पूरा किया, 'मैंने अपने जीवन में कितना कुछ सहा है कि मैं स्वयं विश्वास नहीं कर पाती। तुमसे कुछ भी तो नहीं छिपा। नारी के नाम पर मैं मात्र छलना हूँ। लेकिन इतना कहती हूँ कि अगर मैं उसका कारण न होती तो तुम मुझे खादी भवन में उस रूप में न देख पाते और न मेरे घर आ पाते।'

इन क्षणों में मैं बहुत कुछ सोच गया। जब संज्ञा लौटी तो पाया कि मैं कुर्सी पर बैठा हूँ और वह चुपचाप दूसरी ओर देख रही है। मैंने धीरे से अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया। एक सिहरन-सी हुई। मैंने कहा, 'तुम्हारा कृतज्ञ हूँ।'

शतरूपा ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। धीरे-धीरे अपने हाथ को मेरे हाथ में मसले जाने दिया और फिर जैसे गहन-गह्वर में से बोलती हो। कहा, 'कृतज्ञ तो मैं हूँ।'

दोनों एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कराये, फिर हँस पड़े। और देर तक विस्तार से उस घटना की, किशोर की और उसके काले व्यापार की चर्चा करते रहे। यदि परिचारिका का स्वर न सुन पड़ता तो यह चर्चा समाप्त होने वाली न थी। वह अचकचा कर उठी, 'परिचारिका कई बार पुकार चुकी है। आओ, पहले खाना खा लें।'

खाने की मेज पर देखता हूँ कि उन सभी व्यंजनों का प्रबन्ध है जो मेरे लिए आवश्यक हैं। मैंने पूछा, 'तुम यह सब कैसे जानती हो ?'

मुस्कराकर वह बोली, 'क्या किसी को यों ही चाहा जाता है ?'

एक।एक सिहर उठा। कई क्षण स्तब्ध रहने के बाद मैंने कहा, 'शतरूपा, क्या यह सच है ?'

सहज भाव से वह बोली, 'इसका उत्तर मुझसे नहीं, अपने से पूछो।'

फिर बहुत देर तक कोई भी कुछ नहीं बोला। केवल खाने के सम्बन्ध में आवश्यक और औपचारिक बातें होती रहीं। बीच में बस एक बार वह मुस्कराई। वह बहुत कम खा रही थी। मैंने जब इस ओर उसका ध्यान दिलाया तभी वह मुस्कराई थी। कहा था, 'जब मैं किसी के साथ होती हूँ तो रात को ठूंस-ठूंस कर नहीं खाती क्योंकि तब मुझे सपने देखना अच्छा नहीं लगता।'

मैं मुस्करा कर रह गया। फिर सब कुछ समाप्त हो जाने के बाद जब

परिचारिका भी चली गई तब उसने मेरी ओर देखकर कहा, 'टेलीफोन पास ही है।'

मैंने अचकचा कर कहा, 'क्या कहना चाहती हो ?'

'अपने आतिथेय को सूचना नहीं दोगे क्या ?'

सब कुछ समझ कर मैं सिहर उठा। मैंने कहा, 'मुझे जाने दो शतरूपा।'

'अपने को ठगना कोई बहुत अच्छी बात नहीं है।'

'एक ही वाक्य से मैं पराजित हो गया। हँसकर बोला, 'चलो।'

लौटकर देखा कि कमरे मे एक ही व्यक्ति के सोने का प्रबन्ध है। पूछा, 'तुम कहाँ सोओगी ?'

वह बोली, यह शरत बाबू का देश है। फर्श पर बिछाने के लिए चटाई मेरे पास है और तकिये तो तुमने खादी भवन में बहुत देखे होंगे।'

और फिर फर्श पर सोने का प्रबन्ध करके वह मेरे पलंग की पट्टी पर सिर रख कर बैठ गई और कई क्षण बाद मेरी ओर देखती हुई बोली, 'एक बात पूछूं ?'

एक हाथ पर शरीर का भार सहारते हुए मैंने कहा, 'पूछो।'

उसने एक क्षण मेरी आँखों में झाँका और फिर दृढ़ स्वर में कहा, 'तुम जीना क्यों नही जानते ? अपने को इतना अकिंचन क्यों समझते हो ? साहित्यकार में शक्ति होती है, उसको तुमने मिट्टी क्यों कर दिया ? तुम इतने रिक्त होते जा रहे हो। आदर्श बहुत अच्छी चीज है पर उससे भी अच्छा है, जीवन को जीना। जीवन स्वप्न से कहीं सुन्दर है। उस सौन्दर्य को अपनी सीमा में पाकर भी उपभोग क्यों नहीं करते ? क्यों तुमने अपने आपको इतने सीमित घेरे में बाँध लिया है। असीम सागर और अरूप आकाश में तुम क्यों नहीं विचरते ?'

शतरूपा न जाने क्या-क्या बोलती रही। जब तक वह बोलती रही तब तक मेरे अन्तर में सम्मोहन उमड़ता-घुमड़ता रहा। उसके प्रत्येक वाक्य का उत्तर मुझे सूझता रहा लेकिन जैसे ही वह मौन हुई, सब कुछ मेरे मस्तिष्क से धुल-पुछ गया। एक शब्द भी नहीं बोल पाया। कुहासे की अनगिनत तहों में लिपटा मुग्ध-सा उसे देखता ही रहा। फिर भी कुछ तो कहना ही था। धीरे से बोला, 'तुम समझती हो, मैं जी नहीं रहा ?'

'नहीं।'

'तो ?'

मैं अचानक उठ बैठा और पीठ को तकिये के सहारे लगाकर दोनों हाथों

से दोनों पैरों को दबाते हुए मैंने कहा, 'शतरूपा, क्या तुम समझती हो कि किशोर जीना जानता है ? क्या तुम उसे जीना कहोगी ?'

शतरूपा ने उसी सहज सम्मोहित स्वर में उत्तर दिया, 'मैं जानती हूं तुम क्या कहना चाहते हो। कौनसा ऐसा पाप है जो किशोर ने नहीं किया। किशोर छोटा भी है। पापी को क्षमा किया जा सकता है पर छोटा काम करने वालों को क्षमा भी नहीं मिल सकती। फिर भी आज जिसे जीना कहते हैं वह उसे आता है। वह लोकप्रिय है। अधिकार के क्षेत्र में उसका सम्मान है। लक्ष्मी उसके इंगित पर इधर-उधर होती है। शरीर उसका स्वस्थ है। उसके मन में ग्रन्थियां नहीं हैं। रस ग्रहण करने और दूसरे को रस देने में वह विश्वास रखता है। वह जानता है कौन कैसे प्रसन्न होता है। वैसा ही वह करता है। क्या ऐसा नहीं है ?'

मैंने फिर उसकी ओर देखा, जैसे हम दोनों इस सबके लिए तैयार थे। उसके नेत्रों में वही सहज भाव था। कोई छल नहीं, दुराव नहीं। मुझे लगा जैसे वह शतरूपा नहीं बोल रही थी। युग चेतना के भीतर से वह स्वर फूट रहा था। और वह चेतना मेरी भी थी। मैंने कहा, 'यहाँ तक ठीक है। अब आगे क्या कहना चाहती हो।'

वह बोली,'जब तुमने इतना सब ठीक मान लिया तो कहने को रह ही क्या जाता है ? तुम्हारा आदर्श तुम्हें मिट्टी किये दे रहा है और सच तो यह है कि तुम उस आदर्श को भी नहीं जी पा रहे, जीने का ढोंग कर रहे हो। आदर्श बुरी चीज नहीं हो सकती, पर आदर्श का दम्भ हर काल और हर युग में बुरा ही होता है। यह मात्र यान्त्रिक है। यन्त्र में शक्ति है पर चैतन्य नहीं। वह यन्त्रणा को ही जन्म दे सकता है।'

मुझे लगा जसे चारों ओर से अज्ञात शक्तियों ने मुझ पर आक्रमण कर दिया हैं और वे मुझे उधेड़ उधेड़ कर नंगा किये दे रहीं हैं—यह देखो तुम यह हो, तुम्हारे अन्तर में यह कूड़ा भरा हुआ है, तुम्हारे विचारों का बोदापन यह है, इसे देखो। तुम अपूर्ण आत्मा, दुर्बल शरीर और मन वाले अंहकारी व्यक्ति हो।···

मैं उस सम्मिलित आक्रमण के सामने तनिक भी नहीं टिक सका। कांप-कांप उठा, जैसे पसीने से सराबोर हो उठा हूँ। दो क्षण के लिए जैसे मेरी संज्ञा ही खो गई हो परन्तु उसके बाद साहस करके मैंने अपने को बटोरा और पैर फैला कर चादर अपने ऊपर लेते हुए धीरे से कहा, 'तुम्हारी बात का प्रतिवाद नहीं करूँगा शतरूपा, फिर भी···।'

सहसा दृष्टि से दृष्टि मिली, जैसे उन सारे क्षणों में शतरूपा मुझे पी

रही थी। फुसफुसा कर बोली, 'इसीलिए तो मैं तुम्हें प्यार करती हूं। पहले ही क्षण तुम्हें पहचान गई थी।'

फिर सहसा उठ कर खड़ी हो गई। बोली, 'कैसी मूर्खा हूँ। घर बुलाकर तुमसे बहस ही करती रही। तुम भी कहोगे यह कैसा प्यार है। परन्तु लेखक हो, हर अनुभव तुम्हारे लिए अमूल्य होता है। अब सोओ।'

अपने को ठगते हुए सहसा मैंने पूछा, 'तुम क्या करोगी ?'

तब तक शतरूपा कमरे के सब दरवाजों और खिड़कियों को देख चुकी थी। पास आकर बोली, 'कुछ और बातें करने को मन चाहता है। आज्ञा दो तो करूँ।'

मैंने मुस्करा कर कहा, 'न दूं तो ?'

वह हंस पड़ी। बोली, 'आज्ञा मिल गई। धन्यवाद।'

और फिर पास आकर कहा, 'दम्भ तुम ही नहीं करते, मैं भी करती हूँ। अब तक अभिनय ही करती रही, जैसे मैं शरत की नारी हूँ। शरत ने नारी को नारीत्व दिया है और आज उस नारीत्व का सही-सही उपयोग करना भी उसने सीख लिया है। नारी उनकी कृतज्ञ है, लेकिन अब युग आगे बढ़ गया है। पुरुष को अपनी शैया पर सुला कर चटाई का उपयोग करने की अब आवश्यकता नहीं है। जरा परे हटो, मुझे भी स्थान दो। शायद बातें करना सिखा सकूं।'

उसके बाद हम दोनों जैसे अनुभूति शून्य हो गये। और वह रात आँखों में ही कट गई। भोर की वेला में जाकर तन्द्रा बोझिल मेरी आँखों को अवकाश मिला। जब सोकर उठा तो देखा धूप खिड़की से होकर चटाई पर अंकित हो रही है और खादी भवन की सुप्रिया बड़ी-बड़ी आंखों में स्नेह भरी मुस्कान लिए मेरे ऊपर झुक आई है। उसके जूड़े में वे ही रजत घूंघरू हैं। उसका वक्ष मुझे छू-छू जाता है और साँसों की आँच मेरी साँसों को तप्त कर रही है। पहले क्षण मैं मुस्कराया, बोला, 'यह क्या रूप है, बहुरूपणी ?'

उसने वैसे ही झुके-झुके कहा, 'रवि बाबू की कविता नहीं याद तुम्हें ?

'राते प्रयसीर रूप धरी
तुमी ऐसी छों प्राणेश्वरी
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमी सुमुखे उदिले हेंसे

एकाएक कहना चाहा, 'न न, यह नहीं। वह जिसमें विश्व कहते हैं—
न तो माता, न हो कन्या, न हो वधू, सुन्दरि रूपसी।
हे नन्दनिवासिनी उर्वशी !

मैंने अनुभव किया जैसे वह बाथरूम के द्वार के सहारे खड़ी है। अन्दर से ही बोला, 'क्या कहना चाहती हो ?'

लेकिन फिर कोई उत्तर नहीं मिला। शायद परिचारिका आ गई थी। और वे दोनों रसोईघर में व्यस्त हो उठी थीं। नाश्ता करते समय उसने फिर उसी प्रसंग को उठाते हुए कहा, 'तब मैं जो कहना चाहती थी वह यही था कि युग सचमुच आगे बढ़ा है लेकिन भारत की नारी आगे नहीं बढ़ी हैं। उसने शिक्षा पाई, स्वतन्त्रता और प्रेम-विवाह करने का दावा भी वह करती है, लेकिन आज भी एक पुरुष के प्रेम में पागल हो जाती है। जिसने उसने त्यागा उसी के वियोग में अपने को जला रही है। एक पुरुष के प्रति सच्चा रहना पवित्र है, बहुत पवित्र है, परन्तु स्वतन्त्रता का दावा करके प्रेम के इस रूप को यहीं पाया जा सकता। अपने को मिट्टी करके ही पाया जा सकता है। मैं पूछती हूँ, क्या मिट्टी होने को तुम वैज्ञानिक युग की नारी की प्रगति कहोगे ? नहीं-नहीं, यह तो और भी दुर्गति है। वस्तुत: यह प्रेम है ही नहीं। झूठे आदर्शों से ढंकी नारी की शाश्वत दुर्बलता है।'

मैंने धीरे से उत्तर दिया, 'सचमुच है।'

उसके बाद दोनों में और कोई बात नहीं हुई। उस सार समय में मैं गम्भीर बना रहा और वह अपने कलकत्ता प्रवास के अनुभव सुनाती रही। फिर बोली, 'अच्छा, शाम को तो आओगे न ?'

मैंने कहा, 'मन करता है अब यहीं रहूँ।'

बोला, 'ऐसा कर सकोगे ?'

यह जैसे चुनौती थी। फिर तो वे तीन दिन अजीब पुलकन में बीते। दोनों उसी कमरे में रहे। लेकिन चौथे दिन पाया कि सब कुछ रीता हो गया है। कहीं कुछ करने को है ही नहीं। सच तो यह है कि इन पूरे तीन दिनों में वही सूत्रधार बनी रही। मैं अपने मन से कोई प्रस्ताव कहीं कर सका। सारा समय यही अनुभव करता रहा कि जैसे मेरे अन्तर में इस सबके प्रति वितृष्णा है। तीन दिन बाद वह स्वयं भी इस सुशीलता से ऊब उठी। बोली, 'आज तुम अपने स्थान पर जाओगे ?'

मैंने धीरे से कहा, 'यही सोच रहा हूँ।'

'अच्छा है, हो आओ। मुझे भी खादी भवन जाना होगा। उन लोगों की मुझे विशेष चिन्ता नहीं है, फिर भी व्यर्थ ही शंका का कोई कारण नहीं देना चाहती।'

एक बार मैंने गहरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। फिर सब कुछ समझ गया और पूरे सात दिन तक मैंने खादी भवन या उसके कमरे की ओर रुख

उसके घर जाकर परेशान हुए होंगे। आपने उससे कुछ चीजों के लिए कहा था, वे सब और एक पत्र वे मेरे पास रख गई हैं।'

ऊपर से शान्त परन्तु अन्दर से समुद्र की तरह उद्वेलित मैंने काउण्टर का सहारा ले लिया। कहा, 'दीजिये तो।'

उन भाई ने एक बहुत सुन्दर पैकेट जो काफी बड़ा भी था, मुझे दिया। बोले, 'पत्र इसी के अन्दर है।'

मैंने कहा, 'क्या कुछ देना होगा ?'

इस बार उसने मेरी ओर अचकचा कर देखा मानो कुछ टटोलता हो। 'नहीं तो, जितना आपने उसे दिया था उसी के भीतर-भीतर सब हो गया है।

न जाने क्यों जी में हुआ कि वह पैकेट उनके ही सिर पर दे मारूँ। लेकिन यन्त्रवत मुस्कराया और नमस्कार करके वहाँ से बाहर आ गया।

जब मैं वह पैकेट चीर रहा था, मेरे दिल की धड़कनों में काल का तूफान घुस आया था और मस्तक पर को पसीने की कड़वी बूंदें बह कर आँखों में आ रही थीं। चीर चुका तो पाया उसमें कई सुन्दर और उपयोगी वस्तुएँ हैं। परन्तु जो मुख्य है वह है कला की प्रतिमा-सी एक नारी मूर्ति। जैसे अभी बोल उठेगी। दृष्टि हटाने को जी ही नहीं करता था। उसके निर्माता के प्रति मेरा मन जितने आदर से भर उठा उससे भी अधिक कृतज्ञ हुआ शतरूपा के प्रति। जैसे ढेर सी खुशी और ढेर-सा दर्द शतरूपा ने मेरे अन्तर में उँड़ेल दिया है। पुलकित होकर धीरे-धीरे वह पत्र खोलने लगा। उसके हस्ताक्षरों से युक्त पत्र के साथ किशोर का एक तार भी था। दो ही शब्द थे—तुरन्त आओ।

पत्र भी बहुत लम्बा नहीं था। लिखा था—

सुशील, मेरे प्रिय,

जानती हूँ तुम नहीं आओगे। इससे आगे तुम जा ही नहीं सकते। फिर भी राह देखती रही कि किशोर का तार आ गया। देखोगे कितने अधिकार से उसने लिखा है—तुरन्त आओ। इस अधिकार के पीछे जो शक्ति है उस का आकर्षण में अस्वीकार नहीं कर सकती। कोई भी नारी नहीं कर सकती। काश ! उस अधिकार का जरा सा अंश भी तुम पा सकते। सत्य या असत्य, किसी भी मार्ग से हो, उस अधिकार के विना मुक्ति नहीं। वही प्रेम है वही सत्य है। जा रही हूँ, फिर भी यह कहे विना नहीं रह सकती कि मैं तुम्हें चाहती हूँ। कामना करती रहूँगी कि तुम वह अधिकार पाने के योग्य हो सको। उसका उपभोग मैं करूँ या कोई और, इसका कोई अर्थ नहीं है लेकिन

उसके बिना प्रेम का दावा मात्र एक दम्भ है।

क्षमा नहीं मानूंगी, क्योंकि यह लिखते समय भी मैंने तुमको प्रेम किया है।

तुम्हारी,
शतरूपा

पत्र पढ़ लिया तो गदगद हृदय दोनों हाथ जोड़कर जीवन में पहली बार किशोर को प्रणाम किया।

1965

कायर

धीरे-धीरे स्वप्नवत् वे सब बातें उसे फिर याद आने लगीं। सामने के शून्य में धँधले-धुँधले चित्र तिरमिरों की तरह उड़ने लगे। उसे याद हो आया, किसी ने उसे कायर कहा था। वह फुसफुसा उठा—क्या मैं कायर हूँ? जैसे उसके भीतर बोल उठा हो, 'बेशक, तुम्हारी राह कायरों की राह है।' प्रमोद विस्मित हो आया, 'तुम! तुम फिर आ गए?'

भीतर का प्रमोद हँसा, 'मैं जाता कहाँ हूँ। सदा तुम्हारे भीतर ही तो रहता हूँ। कहता हूँ कि यह राह तुम्हें सुख नहीं पहुँचा सकेगी। यह तुम्हारे मन की वासना को शान्त नहीं कर सकती।'

प्रमोद बोला, 'मन की वासना, मैं समझा नहीं।'

सहसा भीतर का प्रमोद ठहाका मार कर हँस पड़ा। कमरा गूँज-गूँज उठा। लगा जैसे सब कुछ अस्पष्ट है और वह अस्पष्टता मन को भय से जकड़ती चली जा रही है। वह स्वर फिर गूँजा, 'तुमने मकड़ी का जाला देखा है?'

'हाँ, देखा है।'

'और उस जाले में फँसकर आजादी के लिए तड़पती हुई मक्खी को देखा है?'

प्रमोद बरबस हँस पड़ा। बचपन में जाने कितनी बार फड़फड़ाती हुई मक्खी को देख कर चाहा था कि उसे निकाल दे। लेकिन अन्तर के कौतूहल ने कभी हाथ नहीं उठने दिया। और मकड़ी उस मक्खी को निगल गयी।

भीतर के प्रमोद ने उग्र स्वर में कहा, 'तुम उसी मक्खी के समान हो।'

प्रमोद बोला, 'जानता हूँ, लेकिन वह जाला क्या है?'

'बुद्धि के तर्क और अंतरात्मा की पुकार, ये सब मकड़ी के जाले हैं।'

प्रमोद सहसा बोल उठा, 'समझा। यह मकड़ी तुम्हीं हो जो मेरे लिए जाला बुनती रहती हो और मुझे उस में फँसा कर अपनी क्षुधा शान्त करती हो।'

और प्रमोद की वाणी रुद्ध हो आयी। शरीर काँप उठा, कहीं-कहीं आँख ज्योति से दीप्त होने लगी। लेकिन जैसे ही उठने की चेष्टा की वह हताश रह गया। लगा कि उसके चारों ओर रात्रि का गहन अन्धकार घिरता आ रहा है। कहीं दूर कुत्ते भौंक-भौंक उठते हैं और खिड़की से झाँकते हुए नीलाकाश के श्वेत सुनहरे सितारे और निशा में आशा के दीप की तरह झिलमिल-झिलमिल कर रहे हैं। उसने आँखें मलीं। दूर अंध-कार में ताका; जैसे-जैसे वह जागता गया, ग्लानि उसे जकड़ती गयी। होश में आने पर भी अन्तर की आवाज़, जो मकड़ी के जाले की तरह उस को चारों ओर से जकड़ती आ रही थी, उसके मस्तिष्क में गूँज पैदा करती रही।

कल सन्ध्या को ही उसने कुमुद से कहा था, 'आज रात को अवश्य जाऊँगा।'

वह मुस्करायी, जैसे उसकी नशीली आँखें किसी अज्ञात ज्योति से दीप्त हो कर झुक गयी हों। उसी ने फिर कहा, 'राह देखोगी ना?'

वह बोली, 'आयेंगे तो राह क्यों न देखूँगी, साईं साहब'

एकाएक उस ने पूछना चाहा—तुम मुझे 'साईं साहब' क्यों कहती हो? लेकिन पूछ न सका। इतना ही बोला, 'मैं ज़रूर आऊँगा।'

वह बहुत धीरे-धीरे बोल रहा था और कुमुद लजाकर नीचे देख रही थी। दृष्टि उठायी भी तो लैम्प-पोस्ट बीच में आ गया। प्रमोद लैम्प-पोस्ट के दूसरी ओर खड़ा था और बड़ी व्यग्रता से मोटर-लॉरी के निकलने की राह देख रहा था, जो किसी बारात के आगे रुक गए थे। बारात आगे बढ़ी तो वह भीड़ बिखर गयी। प्रमोद भी आगे बढ़ा। लेकिन इससे पूर्व उसने कुमुद की ओर देखा। सहसा आँखें मिल गयीं, जैसे बिजली चमकी हो। प्रमोद ने सोचा—कुमुद सुन्दर है!

जैसे उसके शरीर में मादकता उमड़ी। हृदय में उन्माद भर आया। वह कुछ काँपा, जैसे किसी भय ने जकड़ लिया हो; प्रमोद ने कुमुद को ओर पहली बार नहीं देखा था। परिचय नहीं हुआ था तब से पहले भी उसने उसे सुन्दर ही माना था! मुख का हलका गुलाबीपन, नेत्रों की तरल मादकता, रक्ताभ होंठों की ओर संकेत करती हुई नासिका और साड़ी के भीतर से असंयत होते हुए स्निग्ध-श्याम लम्बे-लम्बे केश…

उस दिन वह कुछ अधिक विचलित हो आया था और धीरे-धीरे वह विकलता इतनी तीव्र हो उठी थी कि एकांत पाते ही वह चीख उठा, 'पापी, कमीने, एक अपरिचित युवती के प्रति इतने गन्दे विचार! तू इतना निर्लज्ज, इतना नीच...'

उसके हाथ में एक पुस्तक थी। तीव्रता से उसने उसे फेंका और पलंग पर जा कर इस तरह गिर पड़ा जैसे बहुत दिनों का सूखा पेड़ हवा के तेज़ झोंके से धरती पर लुढ़क गया हो। पत्नी ने देखा तो घबरा कर पूछा, 'क्या हुआ ?'

आँखें खोल कर उसने पत्नी को देख भर लिया ; बोला नहीं। पत्नी फिर बोली, 'पूछती हूँ, ऐसे क्यों लेट रहे हो ?'

फिर पास आ कर बैठ गयी। उसके हाथ अपने हाथ में लेकर बोली, 'उठो, उठो।'

प्रमोद अन्दर ही अन्दर झुँझला आया। कहना चाहा—अभागिन नारी, मेरी विकलता का कारण तू ही है। लेकिन कहा उसने कुछ नहीं। उठ कर बोला, 'चलो, चलो, कोई बात नहीं। मैं आता हूँ।'

उसके बाद प्रमोद जैसे सब-कुछ भूल गया हो। वह उतावलापन, वह व्यग्रता, वह मादकता, सब न जाने कहाँ जाकर तिरोहित हो गयी। कुमुद जैसी कितनी ही युवतियाँ उसने देखीं और देख कर उनको अपनी बनाने की तीव्र लालसा उसके मन में उठी। इन्द्रधनुष के समान अनेक सुनहले और रुपहले चित्र उसके हृदयाकाश पर खिंचे और फिर पानी के बुलबुले की तरह नष्ट हो गए ; जैसे नींद खुलने पर स्वप्नों की दुनियाँ नष्ट हो जाती है। तब उसका मन आत्मग्लानि से भर जाता और वह फिर अपने पर झुँझला उठता—मैं कितना नीच हूँ। अपनी स्त्री के रहते दूसरी नारियों से मानसिक व्यभिचार करता हूँ। वासनाओं के जाल में फँसता जा रहा हूँ। मैं पापी हूँ। मुझे आत्महत्या कर लेनी चाहिए।

लेकिन आत्महत्या भी तो पाप है!

बेशक आत्महत्या पाप है। लेकिन व्यभिचार उससे भी बड़ा पाप है।

तब जो भी वस्तु उसके सामने आती, बड़े ज़ोर से ठोकर मार कर उसे दूर फेंक देता। उसके उलझे हुए विचार और भी उलझ जाते। उसे कहीं रास्ता नहीं मिलता। कभी-कभी उसकी पत्नी शशि पास आकर बैठ जाती और प्रेम भरे स्वर में उलाहना देती, 'हर वक्त क्या सोचा करते हो? कभी बात ही नहीं करते।'

हठात् झुँझलाहट-भरी दृष्टि उसकी ओर उठाता तो लगता जैसे लम्बे

सफ़र की थकान से दर्द करते हुए शरीर को किसी अपने ने कोमल करों से धीरे-धीरे सहलाना शुरू कर दिया हो। वह सजीव हो उठता : जैसे फूल की पंखुड़ियाँ खुलती जा रही हों।

मणि सुन्दर है।

सच !

हाँ। उसकी आँखों में मद है। होठों में पुकार है। स्वर में माधुर्य है। एकाएक वह बोल उठा, 'मणि !'

मणि और पास आती और कहती, 'जी।'

'तुम सुन्दर हो।'

मणि और भी सुन्दर हो आती और प्रमोद···

एक दिन न जाने किस अज्ञात भाग्य-रेखा ने प्रमोद के काल्पनिक जीवन में वास्तविकता के धुँधले चित्र बनाने शुरू कर दिये। उस दिन पूर्व के आकाश में उषा का आगमन हुआ ही था। मंद-मंद प्रकाश रंगमंच पर बिखरता आ रहा था। वातावरण में मलयानिल हिलोरें ले रही थीं और अधिकांश संसारवासी एक बार आँखें खोल कर फिर से निद्रा देवी की मद-भरी हलकी-हलकी थपकियों का शिकार होते जा रहे थे। प्रमोद उस समय हाथ में दूध की बाल्टी थामे, अलसायीदेह, डेयरी से लौट रहा था। मस्तिष्क में रात के स्वप्न की धुँधली-सी याद शेष थी। सन्नाटा अँगड़ाई लेने लगा था। और कुओं पर पानी भरने वाले, सैर के शौकीन बाबू तथा डेयरी से दूध लाने वाले हलकी-हलकी पदचाप करते हुए चले जा रहे थे। सहसा पास की गली से एक घोड़ा तूफान की गति से दौड़ता हुआ आया और उसके पास से ऐसे निकल गया मानो भूकम्प का तेज धक्का, तीव्र गड़गड़ाहट करता हुआ निकल गया हो। वह सँभले कि वातावरण में एक चीत्कार गूँजा। कई आवाजें एक साथ उठीं, 'क्या हुआ ? अरे क्या हुआ ?'

यह सब क्षण भर में हो गया। दूसरे ही क्षण प्रमोद दौड़ कर एक बालिका के पास पहुँचा जो सड़क पर गिर कर चीख उठी थी। उसके पास एक बाल्टी औंधी पड़ी थी और दूध बहकर नाली में जा रहा था। उसी के साथ रक्त की एक पतली रेखा भी बहने की चेष्टा में थी। प्रमोद ने बड़े स्नेह से बालिका को गोद में उठा लिया। बोला, 'तुम्हारे चोट लगी है। रोओ मत। बस चुप हो जाओ। तुम्हारा घर कहाँ है ?'

लेकिन बालिका थी कि रोये चली जा रही थी। गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, साधारण परन्तु स्वच्छ वस्त्र, आयु लगभग 7-8 वर्ष की होगी। कई क्षण साँत्वना देने के बाद फिर पूछा, 'बताओ न, तुम कहाँ जाओगी ?'

इसी समय उसके पीछे के मकान में कुछ आहट हुई। तेजी से किवाड़ खुले और किसी ने काँपते स्वर में पुकारा, 'शारदा, शारदा !'

वालिका और भी जोर से चीख पड़ी। और उसी रुदन के वीच में उस ने किसी तरह कहा, 'अम्मा !'

प्रमोद वालिका को गोद में लिए हुए उसकी माँ के पास पहुँचा। वोला, 'घोड़े की लपेट में आ गयी है।'

वात करते-करते वे अन्दर चले गये थे। लालटेन के प्रकाश में देखा, वालिका के पैर में घोड़े की नाल से एक जख्म हो गया है और उसी से वह कर खून की धार उसके वस्त्रों पर फैल गयी है। प्रमोद ने कहा, 'डिटौल हो तो गरम पानी के साथ ले आइए।'

लगा कि माँ कुछ घवरा गयी है। पुकार उठी—'कुमुद, ओ कुमुद।'

कोई उत्तर नहीं मिला। माँ ने और भी तीव्र होकर कहा, 'कुमुद, सुनती नहीं, शारदा के चोट लगी है।'

जैसे अव कोई वड़ी तेजी से उठा और दूसरे ही क्षण कुमुद नीचे आ गयी। उसकी वड़ी-वड़ी अलसायीं आँखें जैसे भयातुर हो उठी हों। प्रमोद ने एक वार कुमुद को देखा, पहचाना। आलस्य और अस्त-व्यस्ता के कारण वह और भी मोहक हो आयी थी। वह ग्लानि से भर आया, 'छीः छीः, इस समय ऐसी वात…'

और फिर एकदम वोला, 'स्पिरिट से धो देना होगा। कोई चिंता की वात नहीं है। थोड़ा-सा दूध पिला दीजिए। और मरहम हो तो ले आइए।'

माँ वोली, 'दूध तो यही ला रही थी…'

प्रमोद ने कहा, 'ओह, वह तो विखर गया। कोई वात नहीं। मेरे पास है।'

कुमुद तव तक पट्टी करने का सव सामान ले आयी थी। प्रमोद ने जख्म धोकर मरहम लगाया और कहा, 'अव पट्टी वाँध दीजिए और दिन निकलते ही डाक्टर के पास ले जाइए।'

कुमुद चुपचाप पट्टी वाँधने चली ही थी कि प्रमोद ने कहा, 'जख्म पर कसकर पट्टी नहीं वाँधनी चाहिए। यह तो केवल डाक्टर के दिखाने तक के लिए है।'

तभी सहसा उसका हाथ कुमुद के हाथ से लग गया। दोनों जैसे काँप आए, लेकिन वोला कोई कुछ नहीं। वह पट्टी वाँधता रहा। कुमुद उसे देखती रही। फिर न जाने क्या सोचकर वोल उठी, 'आप वड़े अच्छे हैं।

प्रमोद मुस्करा कर वोला, 'सच ?'

था। और उन सबने यही अनुभव किया था कि प्रमोद उनके परिवार का एक अविच्छिन्न अंग है। उन्हीं का है। लेकिन उसी दिन न जाने क्या हुआ। प्रमोद सहसा पीछे लौट चला। अनेक दिन बीत गये। वह उनके घर नहीं गया। सड़क पर कई बार कुमुद उसे मिली। पूछा भी, 'आप आये नहीं, माँ याद करती है।' प्रमोद ने उत्तर दिया, 'किसी दिन आऊँगा। आजकल दफ्तर में काम बहुत है।'

लेकिन जैसे ही वे अलग हुए प्रमोद दृढ़ स्वर में फुसफुसा उठा, 'नहीं, अब मैं वहाँ नहीं आऊँगा।'

अन्तर के प्रमोद ने पूछा, 'क्यों नहीं जायेगा ?'

'मेरा उसका सम्बन्ध क्या है ?'

'है क्यों नहीं, तू पुरुष वह नारी।'

'लेकिन वह मुझे भाई कहती है।'

अन्तर का प्रमोद जैसे अट्टहास कर उठता, 'प्रेयसी होने से, पहले हर नारी बहन होती है।'

'नहीं, नहीं...'

'नहीं, नहीं कैसे ? मां, पत्नी, प्रेयसी, बहन, बेटी, ये सब नारी जीवन की भिन्न-भिन्न सीमाओं के संकेत चिन्ह मात्र हैं।'

'लेकिन सीमा और मर्यादा का उल्लंघन करने वाले पापी होते हैं।'

'हा, हा...' अन्तर का प्रमोद और भी तीव्रता से हँसा, 'तो तुम पाप को पहचानते हो ? बहन का प्रेयसी बनना पाप है। यौवन की पुकार पाप है ?'

प्रमोद चीख उठा, 'हाँ, हाँ, यह सब पाप है। नीच, नराधम, कल को तुम माँ को भी प्रेयसी मानोगे।'

अन्तर का प्रमोद जैसे उसे चिढ़ा रहा था, 'तू मूर्ख है। प्रेयसी के यौवन और सौंदर्य, कामना और वासना इन सबका पूर्ण उपभोग करने के बाद ही माँ ममता और स्नेह के आँसुओं का वरदान पाती है। माँ में न तो प्रेयसी बनने की योग्यता रहती है और न आवश्यकता ही।'

प्रमोद आगे सोचने में असमर्थ इस पराजय से हारा थका-सा पुस्तकों में शान्ति पाने की चेष्टा करता। परन्तु मन उसे यहाँ भी परेशान कर देता। कभी विद्रोह कभी वासना और कभी स्वयं कुमुद उसके सामने आ खड़ी होती और कहती, 'मेरी ओर देखो। क्या मैं सुन्दर नहीं हूँ ? मोहक नहीं हूँ ?...मैं भी तुम्हें चाहती हूँ। मैं भी तुम्हें देखा करती हूँ। तुम सुन्दर हो।'

प्रमोद सहसा एक अनिर्वचनीय आनन्द से पुस्तक बन्द कर देता और कल्पना-लोक में खो जाता। जीवन स्वयं एक सुन्दरी के समान है—किसी उपन्यास में पढ़ा हुआ यह वाक्य उसे याद हो आता।

यही सब सोच-सोच कर उस दिन लैम्प-पोस्ट के नीचे जब बारात के कारण उसे रुक जाना पड़ा था और उसने कुमुद को देखा था तो उसने निश्चय कर लिया था, आज वह अवश्य प्रेम की भीख माँगेगा।

कुमुद बोली, 'आप आये नहीं भाई साहब। माँ बहुत याद करती थी।'

प्रमोद ने मुस्करा कर पूछा, 'और तुम नहीं याद करतीं ?'

कुमुद लजा कर रह गयी।

प्रमोद ने कहा, 'आज रात को अवश्य आऊँगा। राह देखोगी न ?'

'आयेंगे तो राह क्यों न देखूंगी !'

और प्रमोद ने घर पहुँच कर यह निश्चय किया कि एकान्त पाकर वह कुमुद से कहेगा, 'कुमुद तुम सुन्दर हो।

कुमुद लजा कर कहेगी, 'सच !'

'बेशक, मैं तुम्हें रात-दिन देखते रहना चाहता हूँ।'

'तो देखा करो। मैं भी तो तुम्हें देखते रहना चाहता हूँ।'

प्रमोद तब इसी प्रकार कल्पनाओं के मनमोहक चित्र बनाता रहा। गुनगुनाता हुआ इधर से उधर, उधर से इधर कमरे में घूमता रहा। पास के मकान से धीमी-धीमी आवाज़ आकर उसके कमरे में फैल रही थी। बाहर छत पर खिड़की से होकर प्रकाश की किरणें इस प्रकार लेटी हुई थीं मानों कोई अलस शिथिल सुन्दरी लेटी हुई हो। लेकिन प्रमोद सब ओर से निश्चित अपनी प्रेयसी से वार्तालाप करने में तन्मय था, 'कुमु, कैसा आश्चर्य है। यह सब हम आज से पहले क्यों नहीं जान पाये ?'

'क्या नहीं जान पाये ?'

'यही कि हम एक दूसरे को प्रेम करते हैं।'

'प्रेम सदा मौन रहता है।'

'बेशक !'

'लेकिन वाणी से अधिक शक्तिशाली होता है।'

प्रमोद गद्गद् हो आया, 'कुमु, तुम रूपसी हो, तुम विदुषी हो।'

'और तुम कवि।'

'काश, मैं कवि होता तो सदा तुम्हें अपने सामने बैठा कर कविता लिखा करता ?'

'तो अब लिखो।...हाँ, ज़रा मेरे पास आओ। मेरी आँखों में देखो,

कितना मद भरा है इन में। क्या वे तुम्हें कवि नहीं बना देंगी ?'

'कुमु !'

'नहीं। दूर न हटो। पास आओ, और पास आओ। हाँ अब देखो। मेरी भौंहों का बाँकपन। क्या वे तुम्हें चित्र बनाने के लिए निमंत्रित नहीं कर रहीं ?'

प्रमोद जैसे शून्य में विलीन हो गया। प्रेयसी के नेत्रों के मद ने, होठों की सुरा ने, भुजाओं के पुष्प-पाश ने उसे पार्थिव से अपार्थिव बना दिया। धीरे-धीरे उसकी वाणी भी कहीं खो गयी। उसकी गति में स्थिरता आने लगी। उसके अपार्थिव रूप ने प्रेयसी के काल्पनिक सौन्दर्य-शरीर को अपनी भुजाओं में बाँध लिया। कसा। चाहा कि होठों को होठ से मिलाऊँ कि प्रेयसी उसकी भुजाओं में ऐसी लुढ़क गयी, जैसे संज्ञाहीन शरीर लुढ़क पड़ता है। उसने सोचा कि यह मदभरी निन्द्रा, ओह प्रेयसी ! यह तुम्हें शत बार, सहस्र बार सौंदर्यमय बना रही है। अनुपम सुन्दरी ! मैं कवि, तुम कविता ; मैं चित्रकार, तुम चित्र ! नहीं, नहीं, मैं कविता का शब्द मात्र, चित्र का रंग मात्र और तुम स्वयं सौंदर्य।

और उसने अपने होठों को धीरे-धीरे उसके रक्त वर्ण मधु···

सहसा जैसे भूकम्प आया—'कुमु, कुमु. नहीं, नहीं, नहीं···तुम, तुम शशि, तुम शशि हो। ओह ! तुम, मैं, तुम···'

प्रमोद संज्ञाहीन विक्षिप्त-सा शून्य में भटकने लगा। लेकिन वहाँ न कुमु थी न शशि। केवल प्रकाश से जगमगाते कमरे में, कल्पना के संसार में डूबा हुआ वह स्वयं दीवार से सटा खड़ा था। और ठीक उसके सामने था एक चित्र जिसमें उसकी पत्नी शशि लजाती-सी कुर्सी पर बैठी थी। और उसके पीछे प्रसन्न मुद्रा में खड़ा था वह स्वयं। तब उसका मन ग्लानि से भर आया। उसकी आंखों में अंधकार उभरने लगा। मस्तिष्क में कड़वाहट उमड़-घुमड़ उठी। उसने पलंग पर पड़े हुए बिस्तर को उठा कर जोर से एक ओर फेंक दिया और दोनों हाथों में मुँह छिपा कर पलंग पर लेट गया। लेकिन उसके नेत्र अब भी एक प्रेमी-युगल को देख रहे थे। अन्तर केवल इतना था कि प्रयसी के स्थान पर कुमु नहीं, शशि थी। और प्रमी स्वयं वह नहीं था, एक अज्ञात युवक था। वह सहसा चीख उठा, 'नहीं, नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। यह झूठ है !'

अंतर का प्रमोद धीरे से बोला, 'क्या झूठ है ?'

'शशि किसी से प्रेम नहीं करती। वह मेरी है, सदा मेरी है।'

'और कुमु ?'

'कुमु ! मैं कुमु को नहीं जानता। मेरा उसका कोई संबंध नहीं है।'

अन्तर का प्रमोद बहुत धीरे-से लेकिन बहुत गम्भीरता से बोला, 'कायर।'

और वह सहसा फिर तीव्र हो उठा, 'हाँ तुम कायर हो। तुम चाहते हो कि तुम्हारी पत्नी किसी की प्रेयसी न बने और सारे संसार की सुन्दरियाँ तुम्हारी प्रेयसी, तुम्हारी अंकशायिनी हों।'

प्रमोद को जैसे किसी ने झँझोर डाला हो। उसे साँस लेने में कठिनाई होने लगी। उसने पूछा, 'तुम कौन हो ?'

अन्तर के प्रमोद ने कहा, 'मुझे नहीं जानते ? मैं प्रमोद हूँ।'

प्रमोद हतप्रभ बोला, 'तुम प्रमोद और मैं···?'

'तुम मेरा पार्थिव रूप हो।'

और तब उसे लगा जैसे कोई अव्यक्त अमूर्त पदार्थ उसके अन्तर में इस तरह समाता जा रहा है जैसे इस शून्य में आकाश। तब उसने लज्जित, लांछित अपने नेत्रों को और भी जोर से बन्द कर लिया। पैरों को और भी जोर से समेट लिया। मानो अपने पार्थिव शरीर को वह आकाश में लय कर देना चाहता है।

32—

अरूप-रूप

कैसी थीं आँखें! कुहर से लिपटे सुन्दर विगत में जैसे इन्हें कहीं देखा है। कितना साम्य है। छाती के भीतर बिजली-सी कौंध जाती है। लेकिन सहसा कुछ याद नहीं आता। अन्दर बहुत कुछ उबलता-उफनता है। लेकिन विश्वास करने को मन नहीं करता। ऐसा कैसे हो सकता है? क्यों एकाएक मुझे किसी की याद आती है, क्यों फिर स्मृति विभ्रम से तिलमिला उठता हूँ···।

इंजीनियर शुक्ला अभी नये ही आये हैं। किसी से अभी तक विशेष परिचय भी नहीं हो सका है। आते ही सुना कि दफ्तर के जो बड़े बाबू हैं विश्वनाथ मित्र, उनका बड़ा बेटा कप्तान सुरेन्द्र कुमार मित्र गत वर्ष सीमा पर वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ स्वर्गवासी हुआ। कोई न कोई प्रतिदिन उस गौरवगाथा को दुहरा जाता है। उनको भी उसमें योग देना पड़ता है। और जैसा कि वातावरण है, बलिदान की अद्भुत कहानी उत्तेजना पैदा करती है। लेकिन उन्हें यह सब अस्वाभाविक-सा लगता है। उन्हें प्राणों का मोह है, जीवन का मोह है, जीवन को भोगने का मोह है। लेकिन इस सब से मुक्ति पाकर जो सदा-सदा के लिए जी गया उसके प्रति उनका मस्तक भी श्रद्धा से झुक-झुक आता है···।

अपनी इसी श्रद्धा पर उन्हें आश्चर्य होता है। इसलिए और भी अधिक होता है कि उनके जीवन में एक गहरी कसक है। प्राप्ति के मूल धन में से उन्होंने अभी खोया ही है। जीवन में याद करने लायक बहुत कुछ है, लेकिन हर याद कसक से भी बिंधी हुई है। अनेक वर्ष पूर्व जो अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया था वह जब तब झंझा के झोंके से खुल जाता है। उसे देखने का उनमें साहस नहीं है। लेकिन स्मृति साहस की चिन्ता नहीं करती है?

जो बीत गया वह विगत हो गया। वह वर्तमान की पीड़ा क्यों बने? लेकिन न जाने किसने उनसे कहा था कि जो बीत जाता है वही तो अपना होता है। उस सम्पत्ति से मुक्ति नहीं।…

न जाने यह कैसी विवशता है। यह विवशता है या मोह है, या दुर्बलता है। विश्वनाथ मिश्र हैं कि बेटे की शहादत का समाचार पाकर भी उद्विग्न नहीं हुए। बस चेहरे पर कुछ छाया उठी और मिट गई। उतने ही क्षणों में जैसे उन्होंने आंसुओं के सागर को पी लिया। शुक्लाजी ने उनके बेटे की कहानी अखबार में पढ़ी थी। चित्र भी देखा था। तब भी वे आँखें तिमिर अन्धकार में बिजली की तरह कौंध कर रह गई थीं। कहाँ देखा है इन्हें… कहाँ देखा है? बहुत देखे हैं, बहुत-से युवकों को देखा है। उन्हीं में कोई होगा। पर इसे देखकर कसक क्यों उठती है? क्यों?…नहीं-नहीं, मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। हो ही नहीं सकता। कैसे हो सकता है?…

वह सोचते हैं, सोचते रहते हैं। पढ़ते रहते हैं उसकी कहानी कि जब उसके सब साथी शत्रु के अप्रत्याशित आक्रमण से बचकर सुरक्षित स्थानों को लौट रहे थे तो वह निर्भीक अपनी टुकड़ी के साथ अग्रिम मोर्चे पर डटा रहा। साथियों ने कहा, 'वापिस लौटो, हम फिर आक्रमण करेंगे।

उसने उत्तर दिया, 'हाँ, फिर आक्रमण करने के लिए तुम लौट जाओ, मैं शत्रु को रोके रहूँगा। मैं वापिस लौटने के लिए नहीं आया…।'

और वह वापिस नहीं लौटा। कैसे हो जाता है यह सब! कैसे हो जाता है आदमी इतना निर्भीक, इतना निर्मोही? यह मुक्ति है या उच्चतर के प्रति आसक्ति, या निरा मोह? बहुत सोचते हैं। बहुत कुछ आँखों में तैरने लगता है। कैसे-कैसे चित्र वक्ष के भीतर से नयनों की राह उभरने लगते हैं। पर वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं। यह स्वप्निल दुनिया उन्हें पीड़ा पहुँचाती है। लेकिन उस पीड़ा के स्रोत को वह खोज-खोज कर हार गये पर जैसे वह मृगतृष्णा बन गया हो। एक पूरा वर्ष बीत गया उस घटना को। उस शहादत का इतना सम्मान हुआ कि वह माता-पिता के लिए एक ऐसा गौरव बन गई है जो समाये नहीं सम्भलता। उस दिन एकान्त में बातें करते हुए विश्वनाथ मिश्र ने बड़े संकोच से कहा था, 'ऐसा कोई समय और स्थान मैं नहीं पाता कि जब अपने ही बेटे को बेटा मान कर उसके लिए दो आँसू बहा सकूँ। वह तो आँसुओं के अर्घ्य से बहुत ऊँचा उठ गया है।'

यन्त्रवत वे इतना ही बोले थे, 'तुम भाग्यशाली हो विश्वनाथ।'

लेकिन सुरेन्द्र कुमार की माँ भी तो है और वह माँ ही तो है जो इंजीनियर शुक्ला को परेशान कर रही है। ये सकपातीसी आँखें, यह प्रखर मधुर

वाणी, यह चेचक से चिता मोटा-मोटा साँवला मुख, किंचित् चपटी नासिका सभी कुछ जैसे उनका जाना-पहचाना है। सभी कुछ जैसे उन्होंने देखा-परखा है। एकाएक विद्युत कौंधी, मेघ गर्जन हुआ। वह काँप-काँप आये। यह वह तो नहीं है···वही जिसने मुझे एक दिन एक पत्र लिखा था, जिसका हृदय स्फटिक के समान उज्जवल था, लेकिन जिसका रूप अरूप था।···

ये भी कुरूपा ही तो है। लेकिन यह कुरूपता, यह तो आज जैसे स्वर्गीय गौरव से दीप्त हो उठी है। उस दीप्ति के प्रकाश में मुझे उस पत्र का एक-एक शब्द याद हो आता है···।

महोदय,

सुनती हूँ, मेरा विवाह आपके साथ होने का प्रस्ताव है। आपके बारे में जो कुछ सुन पाई हूँ वह किसी भी लड़की के लिए गौरव हो सकता है। मैं उस गौरव को सह पाती, धन्य हो जाती। लालच बार-बार मुझे मौन रहने के लिए कहता है। इसलिए नहीं कि मैं आपको प्यार करती हूँ। हम लोगों में प्यार तो बाद में आता है। वह हमारे राह की बाधा नहीं होता। बाधा यही है कि मैं जानती हूँ कि आपके साथ न्याय नहीं हो रहा। यह अन्याय हम दोनों के जीवन का श्राप बन सकता है। अनबूझा अनचाहा प्यार झेल सकती हूँ, पर यह श्राप नहीं। इसलिए धोखा नहीं होने दूँगी।

पिताजी ने आपके पास मेरा चित्र भेजा है। एक मैं भी भेज रही हूँ। विश्वास कीजिये, दोनों मेरे ही हैं। दोनों को मिलाकर देखेंगे तो जो कुछ मैं कहना चाहती हूँ, वह समझ सकेंगे और यह भी समझ सकेंगे कि कला कितना छलिया होती है। पिताजी का विश्वास है कि मेरे चित्र में कलाकार की तूलिका ने जो सौन्दर्य आरोपित कर दिया है उससे मेरा भाग्य चमक उठेगा। भाग्य की इस चमक की सीमा उनके लिए केवल सप्तपदी तक ही है। दूसरे शब्दों में कहूँगी, वह भाग्य उनका अपना भाग्य है क्योंकि मेरा भाग्य तो सप्तपदी के बाद ही आरम्भ होगा। वह कैसा होगा, इसकी कल्पना करके मैं आज ही मरी जा रही हूँ।

मैं जो कुछ हूँ, आपके सामने हूँ। शब्द, चित्र, भाव, सभी कुछ तो है। इनको पहचानकर भी आप स्वीकृति देंगे तो मैं कृत्-कृत् होऊँगी। लेकिन करुणा, कृतज्ञता, याचना, इनको अपने जीवन के रस में विष नहीं घोलने दूँगी।

अस्वीकृति में आभार मानूंगी।

विनीता

उन्हें छोड़कर चली गई किसी मन्त्री के पास। मन्त्री, जो अकलीन था, लेकिन शक्तिशाली था। जिसकी वाणी से निर्झर की तरह बातों का काव्य झरता था…।

नहीं-नहीं—इंजीनियर शुक्ला जैसे चीख उठे—नहीं-नहीं, मैं इस कहानी को याद नहीं करूँगा। क्यों ऐसा होता है? क्यों मनुष्य के शान्त जीवन में ये तूफान उठ आते हैं? क्यों ये स्मृतियाँ हृदय में नासूर बनकर टीसती हैं? क्यों आदमी सब कुछ भूल नहीं जाता? क्यों विगत से अपने को तोड़ नहीं लेता?…

लेकिन तभी सहसा फिर याद आ गया कि जो विगत है वही तो अपना है, वही तो अपनी पूंजी है। नहीं-नहीं, मैंने यह सब नहीं चाहा था। यह भी नहीं चाहा था कि उस कुरूप लड़की का अहित हो। मैंने रूपलेखा से अधिकार से, न्याय से शादी की थी। मैंने कोई पाप नहीं किया था। प्रत्येक व्यक्ति सौन्दर्य का उपासक है।…

जसे इंजीनियर शुक्ला ठिठक गये। किसी विवशता ने जैसे उनके उफान को ठण्डा कर दिया। दीर्घ निःश्वास लेकर बोल उठे—नहीं। यह सब भ्रम है। निरा भ्रम है। प्रथम यौवन के ज्वार में सदा ऐसा ही लगता है। बिना स्पर्श किए ही मादकता जैसे तन-मन को उच्छ्वसित किए रहती है। वह ज्वार चिरस्थायी नहीं होता। लेकिन रूपलेखा न जाने किस मिट्टी की बनी हुई थी। उसके अंगों की सुडौलता देखकर वह ज्वार जैसे वहीं रम गया था। और वह मात्र रूपसी ही नहीं, मुक्त भी थी। जिस तरह मुझे उस कुरूपा उमा को अस्वीकार करने का अधिकार था उसी तरह रूपलेखा को भी मुझ से मुक्ति पाने का अधिकार था। उसने उस अधिकार का उपयोग किया। मैं उसे दोष कैसे दूं। लेकिन आज मुझे यह सब क्यों याद आ रहा है। क्यों यह तीखी-तीखी कसक मेरे हृदय को बेंध रही है। क्यों वह नारी जो बराबर के कमरे में बैठी है मेरे हृदय में उभर-उभर उठती है; इस प्रचण्ड तूफान के ऊपर तैरती हुई मानों यह कहती है कि मैं ही हूँ, मैं ही उमा हूँ।…

कई क्षण बीत गए। इंजीनियर शुक्ला ने आज पहली बार कप्तान मिश्रा के माता-पिता को अपने घर आमन्त्रित किया था। पहली बार उन्होंने उस की गौरवमयी माँ को देखा था। लेकिन वे सब तो ड्राइंग रूम में बैठे है और इंजीनियर शुक्ला अपने शयन कक्ष में आकर निरन्तर स्मृति के चक्रव्यूह में फंसते चले जा रहे हैं। समय की सूई की ओर उनका ध्यान ही नहीं है। कि सहसा कप्तान मिश्रा की माँ वहाँ प्रवेश करती ह। वह सकपका कर ऐसे चिहुँक उठते हैं जैसे वन्य पशु की पूछ पर पैर पड़ने को हो। चीत्कार

निकलते-निकलते रह जाता है। कई क्षण उनका रोम रोम काँपता रहता है। मना शून्य में वह देखते रहते हैं मानो पहचानने की कोशिश कर रहे हों। बरबस मुस्कराने की चेष्टा भी करते हैं, पर हर प्रयत्न जैसे विफल हो जाता है। माँ उस तरह शान्त हो। शान्त भाव से वह पूछती है, 'आपकी तबीयत तो ठीक है?'

जैसे उनकी चेतना लौट आती है। दृढ़ होने का वह एक और विफल प्रयत्न करते हैं और फिर विक्षिप्त से बोल उठते हैं—जी नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूँ। ऐसे ही चला आया था। आप तो जानती ही हैं कि घर में कोई नहीं है न, इसलिए। लड़का लन्दन में पढ़ता है और लड़की···

मुझे मालूम है।

इंजीनियर शुक्ला ने अविश्वास-से सकपका कर कहा, 'आपको मालूम है? कैसे?'

माँ बोली, 'बस मालूम है। पूछती हूँ आपने फिर विवाह क्यों नहीं कर लिया।'

इंजीनियर एकाएक पूर्ण विश्वस्त हो उठे। बोले, 'माफ़ कीजिए, आप क्या उमा ही हैं?'

न चीन्हते जितने समय में उमा जैसे काँपी और फिर दृढ़ स्वर में कहा, 'जी हाँ। मैं वही कुरूपा उमा हूँ। जानती हूँ इतनी देर आप मुझे पहचानने की कोशिश करते रहे हैं। मेरे चेहरे को बार-बार आपने घूर-घूर कर देखा है। लेकिन मेरे चेहरे को देखने से क्या होता है। मेरी कोख को देखिए···'

जैसे भूकम्प आ गया। उनचास पवनों की गति से दोनों काँप-काँप उठे। उमा ने विह्वल विकल स्वर में कहा, 'क्षमा करिए, यह मैं क्या कह गई। नहीं, नहीं, मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। मुझे अभिमान हो गया। मैंने आपका अपमान किया। मुझे यह अधिकार नहीं है।'

इंजीनियर भी कम विकल नहीं थे। अस्त-व्यस्त से बोले, 'न, न, आपने ठीक ही कहा। आपके प्रति सदा आदर से भरा रहा हूँ। आपको मैं स्वीकार नहीं कर सका इसके लिए लज्जित नहीं हूँ लेकिन···'

बात काट कर उमा बोली, 'उसके लिए मैं सदा आपकी कृतज्ञ रही हूँ। अचरज कि किन परिस्थितियों में आपसे भेंट हुई। सोचा भी न था। आइए, आइए। क्या कहेंगे वे लोग।'

और यह कहती हुई उमा इंजीनियर को खींचती बाहर के कमरे में ले आई। वहाँ उसके पति थे, पुत्र था, पुत्री थी। आते ही उसने कहना शुरू किया, 'आप शायद नहीं जानते मेरा सबसे बड़ा लड़का भी लन्दन में है।

इस बार पत्र लिखूंगी तो आपके बच्चे की चर्चा अवश्य करूँगी। वजीफा पाकर अर्थशास्त्र में आगे अध्ययन कर रहा है। यह है मनोज, सुरेन्द्र से छोटा। आई० ए० एम० में इस बार प्रथम आया है और यह अनुजा। सबसे अलग, कविता करती है।

कह कर माँ उमा गद्गद् भाव से हँसी। इंजीनियर आश्चर्य से बोले, 'अरे अनुजा! बहुत बार इस अनुजा की कविताएँ पढ़ी हैं। पढ़ कर इस उम्र में भी खो गया हूँ। पर वह तुम हो, यह सोचा भी न था। इतनी छोटी और···'

अनुजा का मुख गौरव की लाली से लाल हो आया। लजाकर बोली, 'आप तो व्यर्थ ही···मैं तो ऐसे ही···'

इंजीनियर अब सचमुच गद्गत् होकर बोले, 'आप लोग सचमुच बहुत अच्छे हैं। आपके बीच में अपने को पाकर मैं कितना भाग्यशाली हो उठा हूँ।'

उमा के पति सारे समय मौन बैठे रहे थे। इंजीनियर ने अब उनकी ओर मुड़ कर, कहा, 'मिश्राजी, क्या मैं वह परमवीर चक्र का पदक देख सकता हूँ?'

विश्वनाथ ने सगर्व उमा की ओर इशारा किया, बोले, 'अपने स्थान पर लगा हुआ है। माँ के वक्ष पर। देखिए न।'

जो अब तक नहीं देख सके थे इंजीनियर शुक्ला ने वही अब देखा। और फिर यन्त्रवत् आगे बढ़कर वह झुके और उस पदक को चूम लिया। जो बाँध अब तक बंधा हुआ था उस स्पर्श से जैसे वह टूट गया। दोनों हाथों में मुँह छिपा कर उमा सोफे पर गिर पड़ी। लेकिन उसी क्षण सेवक ने वहाँ प्रवेश किया। सूचना दी कि चाय तैयार है।'

प्राण बचे।

× × ×

लौटते समय जब इंजीनियर शुक्ला मिश्रा परिवार को बाहर तक छोड़ने आए तब उनके कन्धे पर हाथ रख कर धीर-गम्भीर स्वर में उमा ने धीरे-धीरे कहा, 'मेरे मन में आपके प्रति निमिष मात्र के लिये भी अनादर का भाव पैदा नहीं हुआ। जो हुआ वही होना चाहिए था। जरा भी दुःख न मानिए।'

इंजीनियर मुस्कराए। और उमा का हाथ दबाकर बिना कुछ कहे धीरे-

तीन तारीखें

25 मई, 1964

आज के अखबारों में यह समाचार प्रमुख स्थान पर छपा है। 'रात को नेहरू पार्क में कुलदीप नाम के एक व्यक्ति ने प्रदीप के संपादक श्री प्रदीप-कुमार पर छुरे से आक्रमण किया। वह मुलतान का कुख्यात दुश्चरित्र व्यक्ति कहा जाता है। उसने झूठ बोल कर एक दूकान भी अपने नाम एलाट करा ली है। प्रदीकुमार मुलतान के सुप्रसिद्ध देश भक्त लाला दीनदयाल के पुत्र हैं। वे इस बात को जानते हैं, इसीलिए कुलदीप कई दिन से उनको परेशान कर रहा था। सुना है, उसने उनके कालेज की प्राध्यापिका श्रीमती शतरूपा को भी परेशान किया…'

विपिन इस समाचार को पढ़ लेता है, लेकिन उसे तनिक भी आश्चर्य नहीं होता। कुछ क्षणों के लिए वह अंतर्मुखी हो उठता है। कुछ तसवीरें, कुछ घटनाएँ स्तब्ध परछाइयों की तरह उसकी आँखों में डूबने-उतरने लगती हैं।

21 मई, 1964

सूर्य अभी-अभी अस्त हुआ है और जहाँ विपिन बैठा है, वहाँ धीरे-धीरे अंधेरा घिरता आ रहा है। उसके भीतर भी उदासी का अँधेरा है। वह कहीं दूर, बहुत दूर भाग जाना चाहता है इसीलिए उसका मन बहुत कुछ सोच रहा है, मानो चिंतन उसकी पनाहगाह हो। मात्र सोचना भागना ही तो है। जहाँ वह बैठा है, वह पार्क है और अँधेरे के साथ-साथ बहुत से साये उसके आसपास मंडराते हैं। अजीब-अजीब आवाजें उभर कर आती हैं जो उसके कानों से होकर वक्ष में बज उठती हैं।

वह एकान्त चाहता है इसीलिए इन आवाजों को सुनने से इन्कार कर देता है। परन्तु आवाजें उसके इनकार को स्वीकार नहीं करतीं। वह उठ

कर शेफालिका के कुंजों की ओर जा निकलता है। पुराने झरे पत्ते उसके पैरों के नीचे आकर हलकी चौंका देने वाली आवाजें करते हैं, पर वह बढ़ता ही जाता है। उधर रोशनी कुछ कम है। उस मिलन आलोक में शेफालिका के फूल भी जैसे अस्तित्व खो बैठे हों। कितने कोमल हैं ये फूल ! डर लगता है कि हाथ लगाते ही ये मुरझा जायेंगे लेकिन व्यापारी हैं कि इनके पीत वर्ण को केसर कह कर बाजार में चलाते हैं। इतने सुन्दर, इतने प्यारे पुष्प और मनुष्य उनका भी व्यापार करता है !

अचानक यह विचार विपिन के मन में कौंध जाता है कि व्यापार सौंदर्य और सुकुमारता को लेकर ही तो होता है। नहीं-नहीं, वह चीख उठेगा। परन्तु वह चीखता नहीं, एक बेंच पर बैठ जाता है। उसी समय कुंज के समीप एक दूसरे में उलझे दो साये कसमसाते हैं। एक क्षण के लिए वह ठिठकता है। एक अत्यन्त कामुक स्वर उसके शरीर में झुर-झुरी उठा जाता है। यह एक स्त्री का स्वर है, 'डार्लिंग, किस मी !'

दूसरा स्वर एक क्षण बाद मानो कहीं बहुत दूर से उभरता है, 'ठहरो, ठहरो, डियर ! आर्ट पेपर के इंपोर्ट लाइसेंस की डेट खत्म होने वाली है।'

'कल रात वहीं तो गयी थी। लेकिन यहाँ शेफालिका के कुंजों में क्या तुम्हें व्यापार की बात सूझती है ? अब तुम मुझसे शादी कर लो। पत्नी को छोड़े तो तुम्हें तीन वर्ष हो चुके हैं।'

पुरुष मानो व्यंग्य से हँसता है, 'शादी यानी मैरेज ! नो, नो, नो मैरेज। शादी के बाद तुम यहाँ नहीं आ सकोगी। पत्नी बन जाओगी।'

स्त्री के स्वर में दृढ़ता है, 'क्यों न आ सकूँगी ? मैं आऊँगी, मैं सब काम करूँगी। डार्लिंग, प्लीज, मैं आ सकूँगी।'

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा जाता है। फिर पुरुष का स्वर उभरता है, 'तुमने कागज के व्यापारियों से बातें की थीं ? क्या वे आर्ट पेपर पहले के भावों पर खरीद लेंगे ?'

स्त्री के स्वर में शिकायत है, 'पुरुष केवल व्यापार की भाषा जानता है। सदा की तरह इस बार भी 'संदीप' की केवल सौ प्रतियाँ आर्ट पेपर पर छपेंगी। शेष सब न्यूजप्रिंट पर। क्या तुम डरते हो ?'

जैसे यह चुनौती हो। सरसराहट की हल्की-सी आवाज होती है। विपिन अनुभव करता है कि पुरुष ने जैसे स्त्री को कस कर भींच लिया है। कहता है, 'मैं डरूँगा ? मैं अंग्रेजों की गोलियों के नीचे से निकल चुका हूँ। पिताजी छह बार जेल गये हैं।'

'और तुम ?'

'तुम्हारी बाँहों की जेल ही मेरी जेल है।'

'ओह डार्लिंग !'

फिर एक कामुक कहकहा उठता है। ऐसा कि अन्धकार और सन्नाटा दोनों सिहर-सिहर जाते हैं। विपिन उन सायों से दूर भाग जाना चाहता है। क्योंकि चाँद ऊपर आ गया है और उसकी पीली मलिन रोशनी उदासी को और भी गहरा कर रही है। वह दोनों सायों को पहचानता है। पुरुष का नाम प्रदीप है जो मुलतान के सुप्रसिद्ध देशभक्त लाला दीनदयाल का आवारा बेटा है। आज वह एक प्राइवेट कालेज का मालिक है और एक मासिक पत्रिका का संचालक-संपादक है। आर्ट पेपर का लाइसेंस उसके पास है, जिसे वह ब्लैक में बेचता है।

नहीं,नहीं, वह उसके बारे में नहीं सोचेगा। दुनियाँ ऐसे ही चलती है। ऐसे ही चलती रहेगी। और वह रोशनी में आ जाता हैं। उस के सामने नये बाजार की आलीशान दुकानें नियोन लाइट में दमक रही हैं और पार्क की झाड़ियों में छायाएं हैं। उदासी का वातावरण एक मादक गंध में डूबता जा रहा है। विवश-सा वह फिर एक बेंच पर बैठ जाता है। तभी अनुभव करता है कि जैसे एक साया ठीक उस के पास बेंच पर आ गया है। वह काँप जाता है। सचमुच एक पुरुष उस के पास आ बैठा है। उस के हाथ में एक पत्र है। वह कहता है—जरा पढ़िये।

कई तहों वाला वह पत्र सरकार के शरणार्थी विभाग से आया है। उसमें कुलदीप के नाम आदेश है—तुम को दुकान नंबर 10 अलाट की जाती है, इत्यादि।

पत्र पढ़ कर विपिन ने पूछा, 'तुम को दुकान मिल गयी ?'

'जी, क्या करूँ ले कर ?'

विपिन को विस्मय होता है, 'क्यों ?'

पुरुष उसी उदासी से कहता है, 'जी, रहने के लिए घर नहीं। गाँठ में पैसा नहीं, पत्नी थी, वह राह में मर गयी। बस अब दो बेटियाँ हैं। न उनका पेट भर पाता हूँ, न स्कूल भेज पाता हूँ।'

एक साँस में वह बहुत-कुछ कह जाता है। वह मुलतान का रहने वाला है। कभी बहुत आवारा था। सारा मुलतान उससे घृणा करता था।

कहते-कहते वह दीर्घ श्वास खींचता है, 'क्या कहूँ भाई साहब ! अचानक एक दिन वह हो गया जो सोच भी नहीं सकता था। 1942 के विद्रोह के दिनों की बात है। सहसा एक दिन लाला देवीदयाल ने मुझे बुलाया और कहा, 'कुलदीप आज मुलतान की इज्जत का सवाल है।'

24 मई 1964 !

विपिन अनुभव करता है कि उसके अन्तर की उदासी निरन्तर गहराती जा रही है। चारों ओर से उठती बोझिल सड़ाँध से उसकी शिराएँ फटने लगती हैं और वह कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। करने के लिए प्रमाण चाहिए। और प्रमाण है कि हो कर भी अशरीरी है, पकड़ने में ही नहीं आते। भ्रष्टाचार एक ऐसा खेल है कि जो उसमें जीतता है, वह ऊँचा ही रहता है और जो हारता है वह खीझ कर आचार की आड़ लेता है, आन्दोलन करता है।

इसी चिन्ता में ग्रस्त विपिन फिर अपने को उसी पार्क में पाता है। सूर्य को ग्रस्त हुए काफी समय बीत चुका है। उस उदास, शिथिल, रक्तिम संध्या को देख कर उसे लगता है जैसे सूर्य ने आत्म-हत्या कर ली है। जहाँ वह बैठा है, वहाँ से शेफालिका के कुंज बहुत दूर नहीं है। सहसा कुछ आवाजें तेज हो कर उसके कानों से आ टकराती हैं। ये परिचित स्वर हैं। उसी स्त्री का कामुक स्वर उभरता है, 'डार्लिंग, तुम समझते क्यों नहीं ? वे तुम्हारे दोस्त हैं।'

दूसरा स्वर बेहद रूखा और तेज है, 'नहीं, अब वह मेरा दोस्त नहीं है। उसका और मेरा रास्ता अलग अलग है।'

'नहीं डार्लिंग, दोस्त सदा दोस्त रहते हैं। और देखो अब तो मैं भी तुम्हारी दोस्त हूँ। हूँ न डार्लिंग प्लीज ! यह तुम्हारे लाभ की बात है। तुम दुकान उसे दे दो। तुम आखिर उसका क्या करोगे ? तुम कहोगे तो तीन हजार भी दिला सकती हूँ और सौ के स्थान पर प्रति मास तुम्हें सवा सौ रुपए मिलते रहेंगे। मंजूर है? कहो 'है' डार्लिंग प्लीज!'

हवा में सरसराहट बढ़ जाती है। स्त्री शायद उसके और पास आ गई है, सट गई है। और शायद इसीलिए पुरुष एकाएक शांत हो कर कहता है, 'मैं तुम्हारी बात मान सकता हूँ पर एक शर्त है।'

स्त्री का स्वर विजय-गर्व से और भी कामुक हो उठता है, 'तुम्हारी एक हजार शर्तें भी मुझे मंजूर हैं।'

'मुझे रुपया नहीं चाहिये। मैं चाहता हूँ...'

'हाँ, हाँ, क्या चाहते हो? जल्दी कहो। प्लीज डार्लिंग। तुम जो कहोगे, करूंगी।'

पुरुष के दृढ़ स्वर में एक क्षण को कंपन-सा उभरता है फिर वह तुरंत कह देना है, तुम मुझ से शादी करोगी? मेरे दोनों बच्चों की माँ बनोगी?'

एक क्षण के लिए मानो सृष्टि की गति रुक जाती है। सब कुछ स्तब्ध